महावीर जयन्ती

स्मारिका 2007

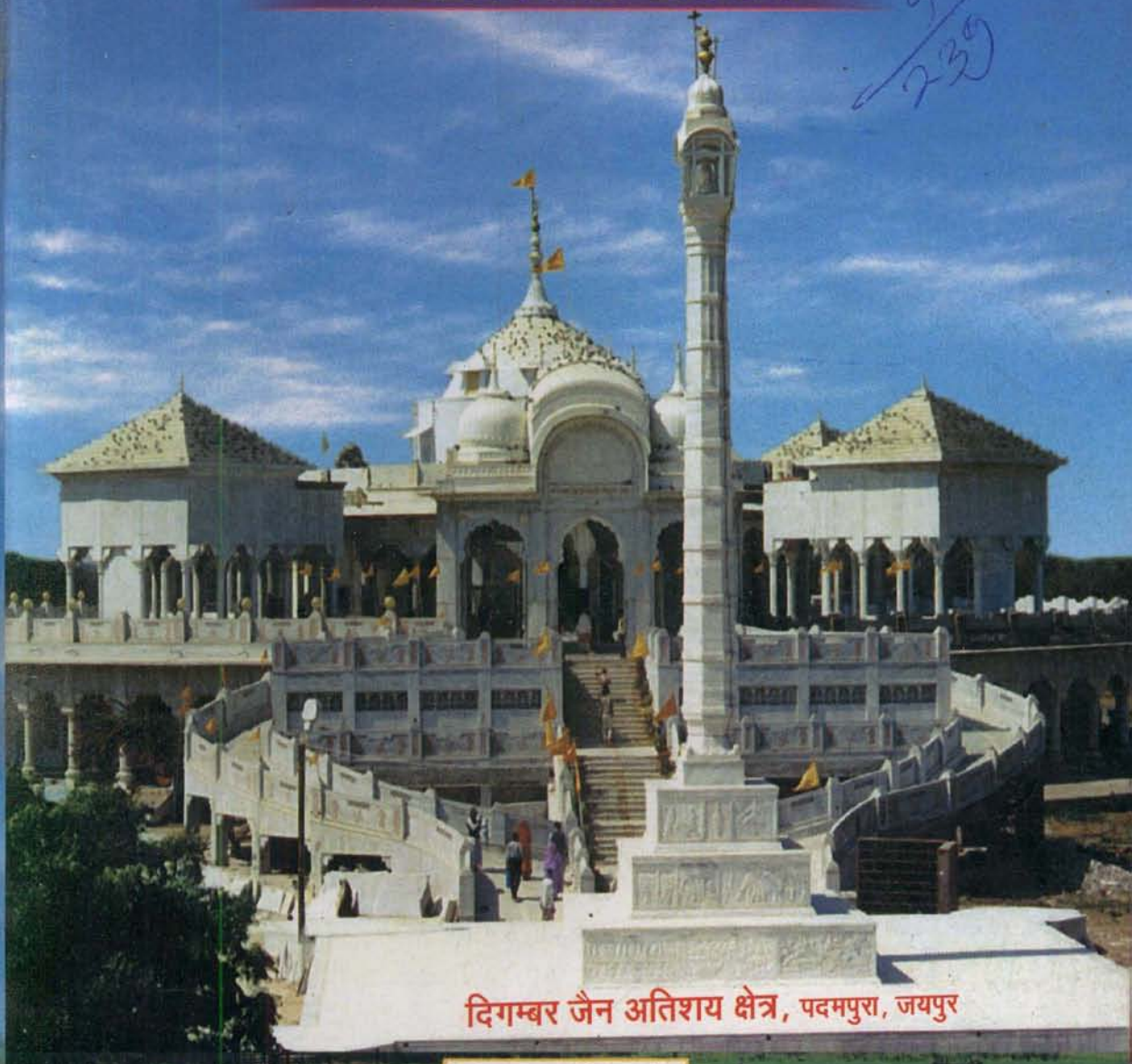

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, पदमपुरा, जयपुर

प्रकाशक

राजस्थान जैन सभा

अंक 44

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4569

वीर सम्वत् 2533

भगवान महावीर का 2606 वाँ जयन्ती समारोह

महावीर जयन्ती स्मारिका

2007

4/239

प्रबन्ध सम्पादक
श्री जय कुमार गोधा

संयुक्त प्रबन्ध संपादक
श्री सुरेश बज
श्री दर्शनकुमार बाकलीवाल

अंक 44

परामर्शदाता
श्री ज्ञानचन्द बिल्टीवाला

प्रधान सम्पादक
श्री डॉ प्रेमचन्द रांवका

सम्पादक मण्डल
डॉ. जिनेश्वरदास जैन
श्री महेशचन्द चांदवाड

प्रबन्ध मण्डल

श्री निर्मल कुमार कासलीवाल, श्री रविन्द्र कुमार बैनाड़ा
श्री अमरचन्द छाबड़ा (चन्दलाई वाले), श्री कैलाशचन्द सौगाणी
श्री राजेन्द्र कुमार लुहाडिया, श्री सुनील कुमार बक्षी, श्री कुंथी लाल जैन
श्री रमेशचन्द ठोलिया, श्री राकेश छाबड़ा, श्री कांती कुमार सेठी, श्री सुभाष गोधा

प्रकाशक
कमल बाबू जैन
मंत्री

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

(रजिस्ट्रेशन नं. 195/70–71)
चाकसू का चौक, चाकसू का मन्दिर, जौहरी बाजार, जयपुर फोन : 2570511

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8569

नमः श्री वर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानाम् त्रिलोकानाम् यद्विद्या दर्पणायते।।

श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार हो, जिन्होंने समस्त कर्ममल को धो डाला है,
एवं जिनके दिव्यज्ञान में दर्पण की भाँति आलोकाकाश सहित तीनों लोक एकसाथ झलकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महामंत्र णमोकार

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोएसव्व साहूणं

एसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जयन्ती के अवसर पर

सेठी परिवार की ओर से

भगवान महावीर के चरणों में शत्-शत् नमन्

सोहनलाल सेठी
प्रमुख समाज सेवी
एवं बिल्डर्स

अमराव देवी सेठी
धर्मपत्नी सोहनलाल सेठी

नरेन्द्र सेठी पुत्र श्री सोहनलाल सेठी
रत्न व्यवसायी

निर्मला सेठी
धर्मपत्नी नरेन्द्र सेठी

संगीता सेठी
धर्मपत्नी स्व. श्री सुरेन्द्र सेठी

संचय सेठी
पुत्र स्व. श्री सुरेन्द्र सेठी

जिनेन्द्र सेठी
सुपुत्र नरेन्द्र सेठी

स्वाती सेठी
धर्मपत्नी जिनेन्द्र सेठी

समीक्षा सेठी
पुत्री जिनेन्द्र सेठी

नव्य सेठी
पुत्र श्री जिनेन्द्र सेठी

मै. पद्ममिनि एन्टरप्राईजेज प्रा. लि.
(बिल्डर एवं डवलपर्स)
ए-81, अत्रे पथ, श्याम नगर, जयपुर
फोन : 2296069, 2296074
2615044, 3945225

मै. सेठी ज्वैलर्स
(रत्न व्यवसायी)
जयपुर फोन : 2565727, 2570733
3945225

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा

चाकसू का मंदिर, जौहरी बाजार, जयपुर-302 003

राजस्थान जैन सभा समाज से विनम्र अपील करती है कि निम्नांकित बिन्दुओं का दृढ़ता से पालन कर समाज की एकता का परिचय दें –

1. जीमन में कम से कम व्यंजन परोसे जावें, परन्तु सब मिलाकर कुल व्यंजन बीस से अधिक न हों। इसके अन्तर्गत निम्न 10 बातों का ध्यान रखना जरूरी है–
   - (अ) व्यंजनों की संख्या में जल को नहीं जोड़ा जायेगा।
   - (ब) सलाद की वस्तुएँ, ककड़ी, मिर्च, टमाटर, नींबू आदि को एक ही माना जायेगा।
   - (स) मूँग, मोठ, चना आदि इन्हें अलग-अलग माना जायेगा।
   - (द) प्रत्येक किस्म के आचार को अलग-अलग माना जायेगा।
   - (य) मीठी चटनी व हरी चटनी को दो आइटम माना जायेगा।
   - (र) तवे की सब्जी के अन्तर्गत तवे पर जितने प्रकार की सब्जी होगी, उन्हें उतनी ही मानी जायेंगी।
   - (ल) यदि कई फलों के अलग-अलग ज्यूस बनाये गये हैं तो उन्हें अलग-अलग ही माना जायेगा।
   - (व) ठंडाई-शरबत आदि को अलग-अलग माना जायेगा।
   - (श) रोटियाँ/पूडियाँ जितनी भी प्रकार की बनाई जायेंगी, उन्हें अलग-अलग आईटम माना जायेगा।
   - (ह) माबे की या बंगाली अथवा आगरे के पेठे से निर्मित सभी मिठाईयाँ अलग-अलग मानी जायेंगी।
2. निमंत्रण-पत्र मितव्ययी हो और उन पर 'सूर्यास्त के बाद भोजन की व्यवस्था नहीं है' अंकित किया जाना चाहिए।
3. निकासी व फेरे दिन में ही आयोजित किए जाने चाहिए।
4. मांगलिक एवं सामाजिक समारोहों के अवसर पर आयोजित भोज दिन में ही आयोजित किए जाने चाहिए।
5. मृत्युभोज नहीं किया जावेतथा घड़ों के अवसर पर बर्तन आदि वितरण नहीं किये जावें।
6. सगाई-विवाहादि कार्यक्रम सादगी से संपन्न हों तथा सजावट में मितव्ययता बरती जावे।
7. दहेज की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष न तो माँग करें और न ही विवाह के अवसर पर प्राप्त वस्तुओं का प्रदर्शन करें।
8. निकासी के अवसर पर ट्विस्ट नहीं करें।
9. व्रत व उपवास के उद्यापन पर एवं जिनेन्द्र भगवान की माल के पश्चात् बर्तन आदि वस्तुओं का वितरण नहीं करें और न ही स्वीकार करें।
10. हिंसक सौंदर्य प्रसाधनों का प्रयोग नहीं करें।
11. परस्पर अभिवादन में जय जिनेन्द्र बोलें।
12. डाक अथवा कोरियर से प्राप्त निमंत्रण पत्र को मान्यता देदें।
13. कीड़ों से निर्मित रेशमी वस्त्रों का त्याग करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदाधिकारीगण

श्री महेन्द्र कुमार जैन पाटनी
अध्यक्ष

श्री प्रेम चन्द छाबड़ा
उपाध्यक्ष

श्री कैलाश चन्द साह
उपाध्यक्ष

श्री कमल बाबू जैन
मंत्री

श्री शांति कुमार गोधा
संयुक्त मंत्री

श्री प्रकाश अजमेरा
संयुक्त मंत्री

श्री अरुण कोड़ीवाल
कोषाध्यक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्यकारिणी सदस्यगण

श्री रतनलाल छाबड़ा

श्री प्रकाचन्द ठोलिया

श्री भागचन्द छाबड़ा

श्री विजय कुमार सौगानी

श्री जय कुमार गोधा

श्रीमती स्नेहलता साह

श्री सुधीर बाकलीवाल (लाली)

श्री राजेन्द्र कुमार हाड़ा

श्री कुन्थीलाल जैन

श्री निर्मल कुमार कासलीवाल

श्री मनोज पापड़ीवाल

श्री मनीष बैद

श्री रमेशचन्द चाँदवाड़

श्री राकेश छाबड़ा

श्रीमती विमला पापड़ीवाल

श्रीमती शकुन्तला गोधा

श्री सुरेन्द्र मोहन जैन

श्री वीर बहादुर बज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष आमंत्रित सदस्यगण

श्री गणेश राणा

श्री विवेक काला

श्री राजेन्द्र के. गोधा

श्री सुमेर कुमार पाण्ड्या

श्री सुभाष गंगवाल

श्री कैलाशचन्द सौगानी

श्री सुमेरचन्द रांवका

श्री अनिल जैन

श्रीमती आभा जैन

श्री संजीव जैन

श्री अरुण काला

श्री पदमचन्द पाटनी

श्री निर्मल कुमार पाटनी

श्री धन कुमार लुहाड़िया

श्री महावीर प्रसाद पहाड़िया

श्री कैलाशचन्द गोधा

श्री योगेश कुमार टोडरका

श्री महावीर कुमार बिन्दायका

श्रीमती कुसुम बज

श्री सरदारमल सौगानी

श्री दर्शन कुमार बाकलीवाल

श्री नरेन्द्र कुमार सेठी

श्री हंसराज जैन

श्री राकेश तोतूका

श्री भारत भूषण जैन

श्री विनोद जैन कोटखावदा

ain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्मारिका प्रकाशन के स्तम्भ

श्री महेन्द्र कुमार जैन पाटनी
अध्यक्ष

श्री कमल बाबू जैन
मंत्री

श्री ज्ञान चन्द बिल्टीवाला
परामर्शदाता

डॉ. प्रेम चन्द रांवका
प्रधान सम्पादक

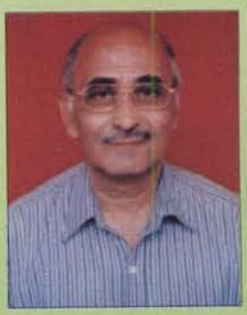

श्री जय कुमार गोधा
प्रबन्ध सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भजन संध्या की मुख्य अतिथि श्रीमती विमलाजी सोनी को प्रतीक चिह्न भेंट करते हुए सभाध्यक्ष महेन्द्र कुमार पाटनी, मंत्री कमल बाबू जैन, संयोजकगण श्रीमती शकुन्तला गोधा, श्रीमती स्नेहलता साह एवं श्री सरदारमल सौगानी

भक्ति संध्या में कार्यक्रम प्रस्तुत करती हुई महावीर महिला मंडल की सदस्यायें

महावीर जयन्ती के असवर पर आयोजित कवि सम्मेलन में मंच पर विराजित कवि गण

कवि सम्मेलन के मुख्य अतिथि श्री गणेशकुमारजी राणा को स्मृति चिह्न भेंट करते हुए सभाध्यक्ष महेन्द्र कुमार पाटनी, मंत्री कमल बाबू जैन, श्री राजेन्द्र के. गोधा, उपाध्यक्ष कैलाशचंद साह, संयोजक शान्ति कुमार गोधा, अरुण कोड़ीवाल

ain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य १०८ आचार्य श्री विशद सागरजी के पावन सानिध्य में
प्रभात फेरी का दृश्य

महावीर जयंती के पूर्व दिन
सभा कार्यालय पर
झंडारोहण

पूज्य १०८ आ श्री विशद सागर जी की जन्म जयंती पर सभाध्यक्ष महेन्द्र
कुमार पाटनी, मंत्री कमल बाबू जैन, संयुक्त मंत्री शांति कुमार गोधा

शोभा यात्रा में
महिला जागृति संघ की सदस्याएँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शोभायात्रा में
श्री आदिनाथ दिगम्बर
जैन महिला मंडल
मालवीय नगर की सदस्यायें

शोभायात्रा में
श्री दि. जैन स्नेहिल
वनिता संघ की
सदस्यायें

शोभायात्रा में
जौहरी बाजार दिगम्बर
जैन महिला समिति
की सदस्यायें

शोभायात्रा में
जैन समाज
अशोकनगर की झाँकी
एवं महिला मण्डल की
सदस्यायें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शोभायात्रा में
टीले पर भगवान की मूर्ति पर
गाय का दूध झरते हुए
की झांकी

शोभायात्रा में
समवशरण की झांकी

श्री दिगम्बर जैन मंदिरजी कालाडेरा
महावीर स्वामी गोपालजी का रास्ता,
श्री दि. जैन महावीर नवयुवक एवं
महिला मंडल द्वारा प्रस्तुत झाँकी

शोभायात्रा में
श्री दिगम्बर जैन मंदिर महावीर नगर
की झाँकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर जैनाचार्य विद्यालय,
पाठशाला दुर्गापुरा की झाँकी

मालवीय नगर समाज की
झाँकी

नारी चेतना व नारी शक्ति की
झाँकी

श्री दिगम्बर जैन महिला मंडल
श्याम नगर की झाँकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

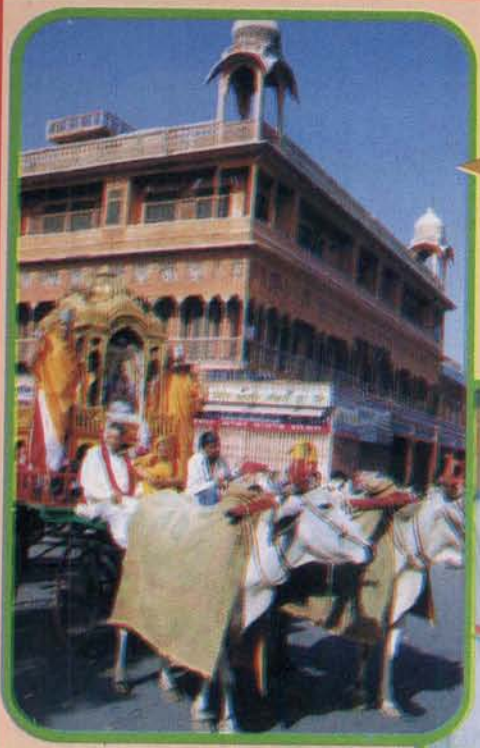

जिनेन्द्र रथ में सारथी के रूप में विराजित श्रेष्ठी
डॉ. त्रिलोकचन्दजी कोठारी व उनकी धर्मपत्नी
श्रीमती लाडा देवी

रक्तदान शिविर का उद्घाटन करते हुए
श्री रामधनजी राजेश कुमार जी,
साथ में सभाध्यक्ष महेन्द्र कुमार पाटनी,
मंत्री कमल बाबू जैन, संयोजक मनोज पापड़ीवाल

सभा द्वारा आयोजित रक्तदान शिविर में
श्री अशोकजी परनामी महापौर जयपुर,
श्री रामधनजी राजेशकुमारजी उद्घाटन कर्ता,
सभाध्यक्ष महेन्द कुमार पाटनी,
संयोजक मनोज पापड़ीवाल एवं सरदार मल सौगानी

रामलीला मैदान में महावीर जयन्ती धर्मसभा में झंडारोहण
करते हुए प्रसिद्ध रत्न व्यवसायी श्री नानगरामजी जैन जौहरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मसभा में दीप प्रज्वलन करते हुए श्री उमरावमलजी संघी, साथ में खड़े हैं सांसद श्री रामदासजी अग्रवाल, श्री अशोकजी परनामी महापौर जयपुर, सभाध्यक्ष महेन्द कुमार पाटनी व श्रीमती शकुन्तला गोधा एवं मनोज पापड़ीवाल

सभा द्वारा प्रकाशित महावीर जयन्ती स्मारिका के ४३वें अंक का विमोचन करते हुए श्री रामदासजी अग्रवाल सांसद, साथ में श्री अशोकजी परनामी महापौर जयपुर, सभाध्यक्ष महेन्द्र कुमार पाटनी, प्रधान सम्पादक डॉ. प्रेम चंद राँवका व प्रबन्ध सम्पादक जय कुमार गोधा

एक दिन में सर्वाधिक रक्तदान करनेवाली संस्था जयपुर इन्जीनियरिंग कॉलेज एण्ड रिसर्च सेन्टर को डॉ. प्रभा जैन शील्ड प्रदान करते हुए महापौर श्री अशोक जी परनामी जयपुर, साथ में संयोजक मनोज पापड़ीवाल, सह-संयोजक राकेश छाबड़ा एवं दर्शन कुमार बाकलीवाल

एक वर्ष में सर्वाधिक रक्तदान करने वाली संस्था भास्कर टी.वी.को विद्या विनोद काला स्मृति शील्ड प्रदान करते हुए सांसद श्री रामदासजी अग्रवाल, श्री अशोकजी परनामी महापौर, श्रेष्ठी श्री विवेकजी काला, संयोजक मनोज पापड़ीवाल, सह-संयोजक राकेश छाबड़ा एवं दर्शन कुमार बाकलीवाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मसभा में ध्वज वंदना के समय
मंच पर
श्री त्रिलोकचंदजी कोठारी
श्री रामधन जी जैन
श्री उमरावमलजी साह,
श्री रामदासजी अग्रवाल,
श्री अशोकजी परनामी,
श्री महेन्द्रकुमारजी पाटनी एवं
श्री सोहनलालजी सेठी

धर्मसभा में विराजित १०८ आचार्य
विशदसागरजी महाराज ससंघ
एवं प्रर्वतक जयानंदजी विजय

महावीर जयन्ती धर्मसभा में
उपस्थित विशाल जनसमुदाय

महावीर जयन्ती धर्मसभा में
भारी संख्या में उपस्थित महिलाएँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रामलीला मैदान में
महावीर जयन्ती के उपलक्ष में
आयोजित
सांस्कृतिक कार्यक्रम का
एक दृश्य

वीर शासन जयन्ती समारोह के अवसर
पर आयाजित विचार गोष्ठी में
द्वीप प्रज्वलन करते हुए डॉ. पी.सी.जैन
साथ में पदाधिकारी एवं
अन्य गणमान्य महानुभाव

श्री शान्तिकुमारजी जैन, पारस मेडिकल
डिपो के सौजन्य से संचालित प्याउ का
उद्घाटन, श्री शान्तिकुमारजी गोधा,
एवं श्रीमती कमलादेवी
साथ में सभाध्यक्ष महेन्द्र कुमार पाटनी,
मंत्री कमल बाबू जैन,
संयुक्त मंत्री शान्ति कुमार गोधा,
कार्यकारिणी सदस्य जय कुमार गोधा,
एवं प्रकाश चन्द ठोलिया

के. सी. कटारिया चैरिटेबल ट्रस्ट के
सौजन्य से आयोजित निबन्ध
प्रतियोगिता के पारितोषिक वितरण में
मंच पर श्री राम चरण जी साह,
मंत्री-महावीर बालिका विद्यालय
ट्रस्टी-संदीपजी कटारिया
सभाध्यक्ष-महेन्द्र कुमार पाटनी
ट्रस्टी-श्री रोहितजी कटारिया,
मंत्री-कमल बाबू जैन
संयोजक-जय कुमार गोधा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के . सी. कटारिया चैरिटेबल ट्रस्ट के
सौजन्य से आयोजित
निबन्ध प्रतियोगिता के पारितोषिक
वितरण समारोह में
विजेता छात्रा को पुरस्कृत करते हुए
श्री संदीपजी कटारिया ट्रस्टी

निबंध प्रतियोगिता में पारितोषिक
प्राप्तकर्ता और सभा के पदाधिकारीगण
एवं सदस्य तथा के. सी. कटारिया
चैरिटेबल ट्रस्ट के ट्रस्टीगण, महावीर
दिगम्बर जैन बालिका विद्यालय की
प्रिन्सीपल श्रीमती इन्द्राजी पाटनी

श्री के.सी.कटारिया चैरीटेबिल ट्रस्ट
एवं राजस्थान जैन सभा के संयुक्त
तत्त्वावधान में आयोजित निबन्ध
प्रतियोगिता में प्रतियोगी एवं संयोजक
जय कुमार गोधा व
ट्रस्टी श्री इन्दर चन्द जी कटारिया

दशलक्षण पर्व में बड़े दीवानजी के मंदिर
में दीप प्रज्वलित करते हुए समाज सेवी
श्री राजेन्द्र कुमारजी लुहाड़िया,
साथ में सभाध्यक्ष महेन्द्र कुमार पाटनी,
सरदार मल सौगानी, योगेश टोडरका,
श्री निर्मल कुमार जी सेठी,
श्री सुमति प्रकाश जी पाटोदी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशलक्षण में मेधावी छात्र का सम्मान करते हुए सभाध्यक्ष महेन्द्रकुमार पाटनी मंत्री कमलबाबू जैन एवं संयोजक मनोज पापड़ीवाल

उत्तम आकिंचन्य धर्म के दिन सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुति करती हुई नवरंग बाल विद्यालय की छात्राएँ

दशलक्षण पर्व में सोलहकारण भावना के प्रवचनकार पं महेन्द्रकुमारजी शास्त्री को स्मृतिचिह्न भेंट करते हुए महेन्द्रकुमार पाटनी अध्यक्ष एवं कैलाशचंद साह उपाध्यक्ष

दशलक्षण पर्व में मुख्य प्रवचनकार पं. पियूष जी शास्त्री को शाल ओढ़ा कर सम्मान करते हुए सभा के पदाधिकारी एवं सदस्यगण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षमावाणी कार्यक्रम में रामलीला मैदान में दीप प्रज्वलित करते हुए श्री राकेशजी नेकावाला एवं उनकी धर्मपत्नी साथ में हैं शान्तिकुमार गोधा संयुक्त मंत्री एवं श्रीमती स्नेहलता साह

मंच पर विराजित १०८ आचार्य श्री निर्भयसागरजी मुनि श्री सिद्धसेनजी आर्यिकाश्री विरागमती माताजी एवं क्षु. धवलसागरजी

आचार्य १०८ श्री निर्भयसागरजी को नमोस्तु करते हुए श्री डॉ. एन. के.जैन कुलपति राजस्थान विश्वविद्यालय एवं माननीय श्री नगेन्द्रकुमारजी जैन पूर्व मुख्य न्यायाधीश मद्रास व कर्नाटक उच्च न्यायालय तथा अध्यक्ष मानवाधिकार आयोग राजस्थान

१० दिन के उपवास करने वालों को सम्मानित करते हुए श्रेष्ठी श्री दीनदयालजी पाटनी एवं उनकी पत्नी श्रीमती निर्मला देवी पाटनी साथ में हैं शान्ति कुमार गोधा, मंत्री कमल बाबू जैन, श्रीमती स्नेहलता साह, श्रीमती शकुन्तला गोधा एवं मनीष बैद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामूहिक क्षमापन पर्व समारोह में प्रवचन देते हुए पूज्य १०८ आ. निर्भयसागरजी महाराज, १०८ मुनिश्री सिद्धसेनजी, १०५ आर्यिका विरागमति माताजी एवं अतिथिगण

सभा द्वारा ३१ दिन के उपवास करनेवाली श्रीमती भारती गंगवाल का सम्मान करते हुए सभा के पदाधिकारी गण एवं सदस्य गण

सामूहिक क्षमापन पर्व समारोह में रामलीला मैदान में एक दूसरे से क्षमायाचना करते हुए

सामूहिक क्षमापन पर्व पर मंच पर विराजमान श्री दीनदयालजी पाटनी, डॉ. एन. के. जैन, माननीय श्री नगेन्द्रकुमारजी जैन, महेन्द्रकुमार पाटनी, श्री राजेन्द्र के. गोधा, श्री विमल कुमार जी पाण्ड्या एवं मंत्री कमल बाबू जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर निर्वाण महोत्सव पर पूजन एवं भक्ति करते हुए सभा के पदाधिकारी तथा वर्धमान सेवक मंडल एवं जैन संगीत मंडल बापू नगर के सदस्य गण

भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव पर सामूहिक लाडू चढ़ाते हुए सभा के पदाधिकारी व समस्त जैन समाज

भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव पर तोतूका सभागार में उपस्थित साधर्मी भाई-बहन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जयन्ती सम्मान समारोह में दीप प्रज्वलित करते हुए राजस्थान विधानसभा के मुख्यसचेतक श्री महावीरप्रसादजी जैन विधायक एवं श्रेष्ठी श्री विवेकजी काला, साथ में हैं श्री रतनलालजी छाबड़ा, सभा के पूर्व अध्यक्ष एवं सभा के पदाधिकारी गण

महावीर जयन्ती सम्मान समारोह में मंच पर शान्तिकुमारजी गोधा कमलबाबू जैन, रतनलाल छाबड़ा श्री महावीरप्रसादजी जैन श्री विवेकजी काला, कैलाशचंद साह अरुण कोड़ीवाल एवं प्रकाश अजमेरा, उद्‌बोधन देते हुए सभाध्यक्ष

महावीर जयन्ती सम्मान समारोह में सभाध्यक्ष श्री महेन्द्र कुमार पाटनी, मुख्य सचेतक श्री महावीर प्रसाद जी जैन को शाल ओढ़ाकर सम्मान करते हुए, साथ में हैं श्री विवेकजी काला एवं अरुण कोड़ीवाल

महावीर जयन्ती सम्मान समारोह में श्री विवेकजी काला एवं श्री महावीरप्रसादजी जैन, श्यामनगर दि. जैन मंडल को सम्मानित करते हुए। साथ में हैं महेन्द्रकुमार पाटनी, शान्तिकुमार गोधा, कमलबाबू जैन एवं स्नेहलता साह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जयन्ती सम्मान समारोह में सामाजिक कुरीति निवारण से सम्बन्धित स्टीकर का विमोचन करते हुए श्री विवेकजी काला राष्ट्रीय अध्यक्ष दिगम्बर जैन महासमिति, श्री महावीर प्रसाद जी जैन मुख्य सचेतक राजस्थान विधानसभा एवं सभाध्यक्ष महेन्द्र कुमार जैन पाटनी एवं साथ में श्रीमती स्नेहलता साह

महावीर जयन्ती सम्मान समारोह में समागत पुरुष एवं महिला वर्ग

राजस्थान जैन सभा एवं दिगम्बर जैन मन्दिर वाकलीबालान के संयुक्त तत्त्वावधान में चल रहे होम्योपैथिक चिकित्सालय में मरीज की जाँच करते हुए चिकित्सक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा द्वारा श्वेताम्बर स्कूल में आयोजित चित्रकला प्रतियोगिता में प्रतियोगी एवं संयोजक विनोद कोटखावदा और अतिथि श्री राजेन्द्रजी लुहाड़िया तथा सभा के पदाधिकारी व कार्यकारिणी सदस्यगण

राजस्थान जैन सभा एवं दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरापंथियान के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित संगीत प्रशिक्षण केन्द्र में राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत श्री अजीत जैन से प्रशिक्षण लेते हुए प्रशिक्षणार्थी एवं अवलोकन करते हुए मंत्री कमल बाबू जैन

राजस्थान जैन सभा एवं दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरापंथियान के संयुक्त तत्त्वावधान में आयोजित सिलाई प्रशिक्षण केन्द्र के प्रशिक्षार्थियों को पुरस्कार देते हुए मंत्री कमल बाबू जैन साथ में संयोजिका श्रीमती विमला देवी

राजस्थान जैन सभा द्वारा एस.एम.एस. अस्पताल के 3सी वार्ड के मरीजों को दवाइयों और फलों का वितरण कर स्वास्थ्य समाचार पूँछते हुए सभा के पदाधिकारी व सदस्य गण और संयोजक निर्मल कासलीवाल तथा कुंथीलाल रांवका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा द्वारा भगवान आदिनाथ एवं उनके पुत्र चक्रवर्ती भरत के जन्म-जयन्ती समारोह पर आयोजित विचार गोष्ठी अध्यक्ष श्री प्रकाशचन्द पाटोदी एवं वक्तागण तथा सभा के अध्यक्ष व मंत्री एवं बोलते हुए संयोजक प्रकाश अजमेरा

मुनि श्री विनम्रसागर जी महाराज के सानिध्य में दिगम्बर जैन मन्दिर मोहनबाड़ी के सौजन्य से सभा द्वारा मोहनबाड़ी में आयोजित भगवान आदिनाथ जयन्ती समारोह पर भक्तामर विधान पूजा के अवसर पर सभा एवं मन्दिर के पदाधिकारी

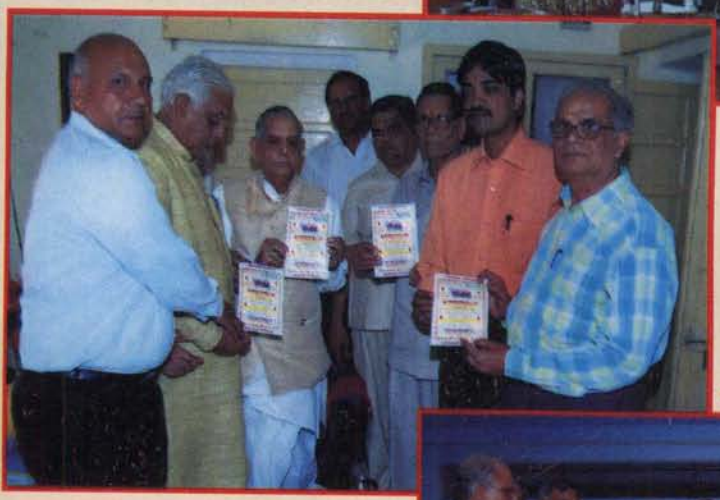

राजस्थान जैन सभा द्वारा महावीर जयन्ती (31-3-2007) को होने वाले रक्तदान शिविर के बहुरंगीय पोस्टर का विमोचन करते हुए गुजरात के राज्यपाल महामहिम पं.श्री नवलकिशोरजी शर्मा, साथ में श्री बृजकिशोरजी शर्मा विधायक (जयपुर ग्रामीण) सभा के पदाधिकारी एवं संयोजक मनोज पापड़ीवाल

वादविवाद प्रतियोगिता में माहेश्वरी बालिका विद्यालय को रनिंग शील्ड प्रदान करते हुए सभाध्यक्ष महेन्द्र कुमार जैन पाटनी साथ में सभा के पदाधिकारी एवं सदस्यगण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ आशीर्वाद

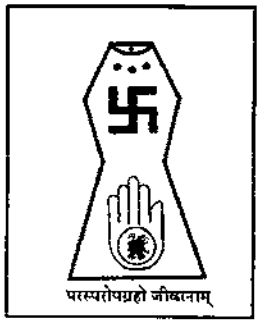

बड़ी प्रसन्नता का प्रसंग है कि पूर्व वर्षों की भाँति इस वर्ष भी भगवान महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन हो रहा है।

पूर्व जन्मों से ही जिन का जीवन परोपकार में ही व्यतीत होता आ रहा है, उनके गुणों का वर्णन उनके वचनों का प्रकाशन किसी भी रूप में और कितना भी प्रकाशित करें, वह थोड़ा ही है। वर्तमान में प्राणी भूलों से भरा है। इसलिए इस स्मारिका का प्रकाशन भी प्रतिवर्ष आवश्यक है। जिसकी पूर्ति हो रही है। परम पूज्य मुनि कुंजर आचार्य श्री आदिसागरजी अंकलीकर ने बताया कि बार-बार स्मरण करने से आम्नाय नाम का स्वाध्याय होता है और आगे भी स्मृति बनी रहती है।

यह स्मारिका आत्मा को निखारने में दर्पणवत् सहायक है तथा कर्मों की ग्रन्थियों को खुलने के लिए जरूरी है। इसका लेखन पठन-पाठन, मनन-चिंतन, वितरण आदि केवलज्ञान ज्योति को प्रकटने वाली है।

अतः इसके प्रकाशन के कार्य में जो प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोगी हैं तथा संपादक महोदय को मेरा शुभाशीर्वाद है। वे इसी प्रकार से जिनवाणी की सेवा करते हुए केवलज्ञान ज्योति को प्रगट करें।

– आचार्य सन्मति सागर, ओरंगाबाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ आशीर्वाद

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

अर्हम्

भगवान महावीर ने जो कहा, वह पच्चीस शतक पुराना है, पर जो सत्य है वह न पुराना होता है और न नया, वह त्रैकालिक होता है। सार्वभौम, सार्वदेशिक और सर्वात्रिक होता है। इसलिए वह आज भी उतना प्रासंगिक है, जितना ढ़ाई हजार वर्ष पहले था। संभवतः आज अधिक प्रासंगिक है। हिंसा, आतंकवाद, उग्रवाद, हत्या, आत्म-हत्या, भ्रूण-हत्या आदि हिंसा की समस्याओं ने वातावरण को अधिक विषाक्त बना दिया। पर्यावरण का प्रदूषण एक विकट समस्या है। उससे कहीं अधिक विकट समस्या है मानसिक बौद्धिक और भावनात्मक प्रदूषण। वर्तमान अर्थशास्त्र आदि की एकांगी अवधारणाओं के कारण सचाई को देखने का दृष्टिकोण बदला हुआ है। इस परिस्थिति में हम भगवान महावीर को और उनकी वाणी को पढ़ने का प्रयत्न करें तो संभव है – उलझी हुई गुत्थी सुलझ जावेगी।

राजस्थान जैन सभा जयपुर द्वारा प्रकाशित महावीर जयन्ती स्मारिका में भगवान महावीर दर्शन की प्रासंगिकता रेखांकित होगी, यह विश्वास किया जा सकता है।

– आचार्य महाप्रज्ञ, बीकानेर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ आशीर्वाद

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

विगत अनेक वर्षों की महान परंपरा को जीवन्त एवं वर्द्धन करने हेतु राजस्थान जैन सभा प्रवर्तमान वर्ष में भी महावीर जयन्ती के उपलक्ष्य में स्मारिका प्रकाशन करने जा रही है। मेरा एतदर्थ शुभाशीर्वाद के साथ-साथ शुभकामनाएँ हैं।

राजस्थान जैन सभा जो कार्य कर रही है, उसे और भी उत्तरोत्तर संवर्द्धन करती हुई जैन एकता, संस्कार, सदाचार, समता, समन्वय आदि को पोषण, क्रियाशील बनायें तथा भगवान महावीर के महान उदारवादी, सहिष्णु, सर्वजीव हिताय, सर्वजन सुखाय, विश्व-कल्याणकारी, वैज्ञानिक-आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार-प्रायोगिककरण करने में नव कोटि से संलग्न रहें।

– आचार्य कनकनन्दी, उदयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ आशीर्वाद

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

पंचम काल में जीव का जन्म मिथ्यात्व के ही साथ होता है। महापुरुष जन्म से ही सम्यक्त्व के साथ जन्मते हैं। उसी क्रम में भगवान महावीर ने जन्म लिया और भारत वर्ष को परम अहिंसा, जिसके अंदर सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, संयम छुपा हुआ है, जो जैन दर्शन की निधि है, का संदेश दिया है।

राजस्थान जैन सभा जयपुर द्वारा वर्ष २००७ में महावीर जयन्ती स्मारिका डॉ. श्री प्रेमचन्दजी रांवका (प्रधान संपादक) द्वारा संपादन कर समाज को नव चेतना एवं आगमानुसार सम्यक्त्व का पोषणा हेतु किए कार्य हेतु आशीर्वाद प्रदान करते हुए कहने से भी पीछे न रहे सकने के हेतु महावीर की चर्चा के लिए समाज को निर्देशित करना आवश्यक समझता हूँ। वर्ण भेद, पंथ भेद, जाति भेद आदि से परे अगर हम विराट समुदाय, विराट विचार महावीर की विशिष्टता को स्पष्ट कर सके, संकुचित दायरे से परे महावीर भगवान की वाणी को पत्रिका के माध्यम से जन-जन तक पहुँचावें और समाज में संकीर्णता समाप्त हो। जीवमात्र को अभय देकर अहिंसा, प्रेम, वात्सल्य, करुणा को जन्म दें तो महावीर जयन्ती के अर्थ को जान सकेंगे।

समाज को प्रभु महावीर ने जो आत्म-ज्ञान के आनंद की अनुभूति का मार्ग प्रशस्त किया है, उसे सहेजे रखना ही महावीर जयन्ती मनाना है। हम अगर बिखरे रहे, पंथवाद, पण्डितवाद में उलझे रहे तो जयन्ती नहीं महावीर को धोका देना ही होगा।

आज महावीर के चरणों में समर्पण की अत्यन्त आवश्यकता है।

– आचार्य निर्भय सागर, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ आशीर्वाद

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

राजस्थान जैन सभा के तत्त्वावधान में प्रतिवर्ष 'महावीर जयन्ती स्मारिका' का प्रकाशन होता है। यह शुभ पावन कार्य है।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने १२ वर्ष की कठोर मौन आत्म-साधना के उपरान्त जो कैवल्य की प्राप्ति की, उसका निर्वचन उनके परम शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर ने भगवान की ॐकारमयी ध्वनि को ग्रहण कर जन-जन तक प्रस्फुटित किया। भगवान महावीर के निर्वाण होने पर इन्द्रभूति को कैवल्य की प्राप्ति हुई।

पश्चातवर्ती केवलियों और श्रुतकेवलियों एवं आचार्यों ने चारों अनुयोगों में जैनधर्म-दर्शन को निबद्ध किया। परवर्ती दिगम्बराचार्यों ने अपने पंचाचारों के द्वारा प्राणीमात्र के हितार्थ इह लोक के अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस का संदेश दिया।

भगवान महावीर की जन्म-जयन्ती के पावन अवसर पर वीर प्रभु का पावन संदेश 'स्मारिका' के माध्यम से जन-जन तक पहुँचे, सब अपना कल्याण करें, इसी भावना के साथ स्मारिका के प्रबन्ध संपादक व प्रकाशक संस्था को शुभाशीर्वाद है।

– मुनि पावन सागर, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ आशीर्वाद

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

हम जिनके शासन काल में वर्तमान में चल रहे हैं उन परम पिता परमेश्वर की आराधना करना हमारा परम ध्येय हैं। उनके संदेश जन-जन तक पहुँचाना हमार ध्येय होना चाहिए और जब भी उन प्रभु महावीर स्वामी का निर्वाण दिवस या वर्धन दिवस (जन्म जयंती) आवे तो इतनी जोर व जोश से प्रचार-प्रसार हो कि सारे हिंदुस्तान के मुख पर ही नहीं विदेशों में भी टी वी के माध्यम से विदेशियों के मुख पर भी भगवान महावीर का नाम अवश्य आ जाये, तभी हमारी भगवान के प्रति कृतज्ञता अभिव्यक्त होती हैं।

आज हिंदुस्तान को ही नहीं सारे विश्व को वे सिद्धान्त मान्य हैं जो भगवान महावीर के २६०० वर्ष पूर्व कहे थे। विज्ञान जितनी ज्यादा खोज करेगा भगवान महावीर के सिद्धान्त उतने ही सिद्ध होते चले जायेंगे।

राजस्थान जैन सभा ने महावीर जयन्ती उत्सव को अत्यंत उत्साहित होकर प्रभावना करने का संकल्प किया हैं, जो आज के भौतिक युग में बहुत ही जरूरी हैं। जब तक जैन समाज में ऐसा संकल्प लेने वाली मुख्य समितियाँ नहीं होंगी, तब तक उच्च स्तर का प्रचार-प्रसार असंभव हैं।

राजस्थान जैन सभा के प्रभावक संकल्प के विचार वाले समिति के सभी सदस्यों को मेरी मंगलमय भावना हैं। सभा उत्तरोत्तर प्रगति करती रहे, इस हेतु सभी को शुभाशीर्वाद हैं।

– मुनि विनम्रसागर

संघस्थ संत शिरोमणि राष्ट्रसंत वात्सल्यमूर्ति
परमपूज्य जैनाचार्य श्री विरागसागरजी महाराज, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देश

सत्यमेव जयते

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि राजस्थान जैन सभा, जयपुर द्वारा विगत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी भगवान महावीर की जयंती के अवसर पर स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है।

जैन सभा द्वारा भगवान महावीर के अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह आदि के सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने का जो कार्य किया जा रहा है, वह वास्तव में सराहनीय है। मुझे आशा है कि इस स्मारिका में भगवान महावीर के सिद्धान्तों तथा उनके जीवन आदर्शों का समावेश किया जायेगा।

मैं राजस्थान जैन सभा की निरंतर प्रगति की कामना करते हुए इस अवसर पर प्रकाशित स्मारिका के प्रकाशन के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

नई दिल्ली
20 फरवरी,2007

भैरोंसिंह शेखावत
उप-राष्ट्रपति, भारत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देश

सत्यमेव जयते

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि राजस्थान जैन सभा, जयपुर की ओर से 31 मार्च, 2007 को महावीर जयन्ती स्मारिका के चव्वालीसवें अंक का प्रकाशन किया जा रहा है।

भगवान महावीर ने अहिंसा को परम-धर्म के रूप में प्रतिष्ठापित किया था। सत्य, अहिंसा एवं अपरिग्रह जैसे उनके महान सिद्धान्तों से समूचे विश्व का मार्ग प्रशस्त हुआ है। इन सिद्धान्तों का अनुशीलन कर मनुष्य अपना जीवन सार्थक कर सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रचार-प्रसार के माध्यमों से इन महाव्रतों को अधिकाधिक प्रचारित किया जाय। यह खुशी की बात है कि प्रकाशन में भगवान महावीर के सिद्धान्त, उनका जीवन, जैन संस्कृति एवं धर्म के इतिहास जैसी उपादेय सामग्री का समावेश किया जा रहा है।

आशा है प्रकाशन जैन धर्म के अनुयायियों के साथ-साथ अन्य धर्मावलम्बियों के लिये भी उपयोगी एवं महत्वपूर्ण सिद्ध होगी।

मैं प्रकाशन की सफलता के लिए हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएं प्रेषित करती हूँ।

– वसुन्धरा राजे
मुख्य मंत्री, राजस्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि राजस्थान जैन सभा द्वारा विगत 43 वर्षों से महावीर जयन्ती के पावन अवसर पर स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है तथा इसका आगामी अंक 31 मार्च, 2007 को प्रकाशित होने जा रहा है।

यह एक अत्यन्त सराहनीय प्रयास है।

मैं इस हेतु समस्त पदाधिकारियों को धन्यवाद देता हूँ तथा इसके सफल प्रकाशन हेतु अपनी शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

एन. के. जैन
कुलपति
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देश

हमें प्रसन्नता है कि राजस्थान जैन सभा पूर्व वर्षों की भाँति इस वर्ष भी भगवान महावीर की २६०६वीं जन्म जयन्ती पर 'महावीर जयन्ती स्मारिका' का प्रकाशन कर रही है। यह और भी प्रसन्नता की बात है कि महावीर जयन्ती स्मारिका का 31 मार्च, 2007 को प्रकाशित होने वाला अंक ४४वाँ अंक होगा। लम्बे समय से बहुत ही सुन्दर कलेवर में उपयोगी सामग्री के साथ 'महावीर जयन्ती स्मारिका' का प्रकाशन एक बड़ी उपलब्धि है। इस अवसर पर राजस्थान जैन सभा के सभी पदाधिकारी एवं कार्यकर्ताओं को जैन समाज की ओर से साधुवाद प्रस्तुत है। श्रमण संस्कृति परंपरा के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर ने ऐसे समय पर सत्य और अहिंसा का बिगुल बजाया था जब भारत जैसे देश में ही नहीं, बल्कि पूरे विश्व में इसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह आज भी विश्व के हर प्राणी के लिए मौलिक सिद्धान्त हैं। जिस देश ने और जिस समाज ने इन सिद्धान्तों को हृदय से अपनाया है, उसकी निरन्तर प्रगति हुई है।

देश के विभिन्न भागों में पद विहार करते हुए दिगम्बर जैन आचार्य एवं संतगण निरन्तर धर्म प्रभावना कर रहे हैं। लगभग सभी तीर्थ क्षेत्रों में आगन्तुक यात्रियों की सुख-सुविधाओं को दृष्टि में रखते हुए विकास कार्य भी किए जा रहे हैं। गत वर्ष भगवान बाहुबली की श्रवणबेलगोला में 1025 वर्षों से खड़ी 57 फुट उतुंग प्रतिमा का 12 वर्षों के उपरान्त सम्पन्न हुआ महा-मस्तकाभिषेक और जनवरी, 2008 में मध्यप्रदेश में बड़वानी में भगवान आदिनाथ की 84 फुट उतुंग प्रतिमा का महामस्तकाभिषेक पूरे समाज को एक मंच पर लाने वाले कार्यक्रम हैं। देश के दिगम्बर जैन समाज ने ऐसे समारोहों का भरपूर लाभ उठाया है। जहाँ कतिपय राजनेताओं द्वारा एक ओर जैन धर्म के स्वतंत्र अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न लगाये जा रहे हैं, वहीं कुछ तीर्थों को लेकर विवाद विभिन्न न्यायालयों में लम्बे अर्से से लम्बित हैं। ऐसे में जैन एकता की जितनी आवश्यकता आज महसूस की जा रही है, उतनी सम्भवत: पिछले वर्षों में नहीं थी। यदि वर्ष 2007 को जैन समाज की एकता के वर्ष के रूप में मनाया जा सके तो निश्चित ही भगवान महावीर की जन्म जयन्ती हमारे लिए सुखद संदेश देने वाली सिद्ध होगी।

भगवान आदिनाथ से भगवान महावीर तक श्रमण संस्कृति परंपरा के महापुरुषों द्वारा दिये गये सिद्धान्त हम सभी आत्मसात कर सकें और अपने जीवन को दिन-प्रतिदिन बेहतर बना सकें, इसी मंगल कामना के साथ 'महावीर जयन्ती स्मारिका' के प्रकाशन के अवसर पर राजस्थान जैन सभा परिवार को हार्दिक शुभ कामनाएँ।

– नरेश कुमार सेठी, अध्यक्ष – भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देश

बड़ी प्रसन्नता की बात है कि हर वर्ष की भाँति इस वर्ष भी राजस्थान जैन सभा भगवान महावीर की 2606वी पावन जयन्ती के अवसर पर महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन करने जा रही है।

भगवान महावीर के उपदेशों को जन-जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से स्मारिका का प्रकाशन प्रशंसनीय है। भगवान महावीर के उपेदश हमें लोगों के बीच में शान्ति, अहिंसा और सौहार्द्र की भावना बनाने के लिए प्रेरित करते रहेंगे।

राजस्थान जैन सभा स्मारिका प्रकाशन का जो महत्वपूर्ण कार्य कर रही है, यह कार्य ही नहीं है अपितु जैनागम की बहुत बड़ी सेवा है।

राजस्थान जैन सभा के समस्त पदाधिकारी गण, प्रधान सम्पादक, प्रबन्ध सम्पादक और लेखकों के प्रसास से स्मारिका का स्वरूप प्रतिवर्ष निखरता आ रहा है। मैं उनको हार्दिक बधाई देता हूँ तथा कामना करता हूँ कि स्मारिका व सभा की निरन्तर प्रगति हो।

– निर्मल कुमार सेठी

अध्यक्ष, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन धर्म संरक्षिणी महासभा, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देश

यह जानकर अत्यन्त ही हर्ष हुआ कि हर वर्ष की तरह इस वर्ष भी राजस्थान जैन सभा भगवान महावीर जयन्ती के पुनीत अवसर पर महावीर जयन्ती स्मारिका का 44वाँ अंक प्रकाशित करने जा रही है।

आज सारी मानवता आतंकवाद के भयाकान्त साये में सिहर-सिहर कर जी रही है। विश्व शान्ति आज बारूद के ढेर पर बैठी अपने अस्तित्व को बनाये रखने की बाट जो रही है। जीवन के हर क्षेत्र में गला-काट प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है। विश्व में क्षुद्र और स्वार्थी राजनीति का अजगर अपनी विषैली फुंकारों से भ्रष्टाचार, जातिवाद, घृणा, हिंसा को पनपा रहा है। जीवन मूल्यों का अधःपतन और अवमूल्यन हो रहा है।

इस भयावह स्थिति में भगवान महावीर का सिद्धान्त 'जियो और जीन दो' समय की प्रथम आवश्यकता है। अगर मानवता को बचाना है, विश्व शान्ति की स्थापना करनी है, परस्पर समन्वय, एकता को बढ़ावा देना है और जैन धर्म को जन-धर्म बनाना है तो हमें आज महावीर के सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद की अलख को पुनः जगाना होगा। तभी एक शान्त, समस्या-विहिन समाज, राष्ट्र और विश्व का निर्माण संभव हो सकेगा।

मुझे पूर्ण आस्था है कि स्मारिका का प्रकाशन इस पावन उद्देश्य की प्राप्ति में एक सशक्त शंखनाद फूँकने में सफल होगा। इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

– विवेक काला

अध्यक्ष – दिगम्बर जैन महासमिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यक्ष की कलम से ...

विश्व वंद्य 1008 भगवान महावीर की 2606वीं पावन जयन्ती चैत्र शुक्ला तेरस दिनांक 31-03-2007 को आ रही है। आज भगवान महावीर के पावन सिद्धान्तों की पहले से अधिक आवश्यकता है। इनको जीवन में उतारने से विश्व के प्राणीमात्र का कल्याण हो सकता है।

राजस्थान जैन सभा अपनी स्थापना वर्ष से ही समग्र जैन समाज की ओर से महावीर जयन्ती समारोह विभिन्न कार्यक्रमों के साथ आयोजित करती आ रही है। इन कार्यक्रमों में समाज का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है। इस वर्ष भी महावीर जयन्ती के चार दिवसीय कार्यक्रम रखे गये हैं, जिसमें भक्ति संध्या, कवि सम्मलेन, प्रभात फेरी, शोभायात्रा, धर्मसभा व सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित होंगे। महावीर जयन्ती के अवसर पर महावीर जयन्ती स्मारिका भी प्रकाशित की जावेगी। इसका विमोचन भी धर्म सभा में होगा। महावीर जयन्ती के दिन ही विशाल रक्तदान शिविर का भी आयोजन किया जावेगा।

इस वर्ष भी धर्मसभा में जयपुर स्थित जैन आचार्य, साधु, संत पधारेंगे तथा जन साधारण को अपने प्रवचनों के माध्यम से भगवान महावीर के उपदेशों व शिक्षा के बारे में बतायेंगे।

राजस्थान जैन सभा गत 43 वर्षों से भगवान महावीर की जयन्ती के अवसर पर महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन करती आ रही है। इस वर्ष इसका 44वाँ अंक प्रकाशित हो रहा है। सभा द्वारा स्मारिका का प्रकाशन देश के प्रसिद्ध विद्वान श्रद्धेय चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ जयपुर की प्रेरणा से प्रारम्भ किया गया था। तब से अनवरत रूप से इसका प्रकाशन हो रहा है। स्मारिका में प्रकाशित रचनाएँ बहुत ही उच्च श्रेणी की होती हैं। स्मारिका में तीर्थंकर महावीर और उनकी देशना, दर्शन एवं अध्यात्म, इतिहास और संस्कृति, भक्ति एवं शोध पर सारगर्भित रचनाएँ प्रकाशित होती हैं।

इस वर्ष भी स्मारिका के प्रधान सम्पादक का गुरुतर भार सभा द्वारा प्रसिद्ध विद्वान डॉ. प्रेमचन्दजी रांवका को सौंपा है। इन्होंने इसका बहुत ही विद्वता पूर्वक सम्पादन किया हैं। उनके प्रति अपनी ओर से तथा सभा की ओर से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। आपने अपना अमूल्य समय प्रदान कर, विद्वान लेखकों से संपर्क कर रचनाएँ प्राप्त की। उनका सम्पादन कर स्मारिका में प्रकाशित किया। इनके सहयोगी सम्पादक मण्डल के सदस्य सर्वश्री डॉ. जे. डी. जैन एवं श्री महेशचन्दजी चांदवाड़ द्वारा स्मारिका के प्रकाशन में प्रदत्त सहयोग के लिए मैं मेरी ओर से तथा सभा की ओर से आभार प्रकट करता हूँ।

श्रीमान् ज्ञानचन्दजी बिल्टीवाला ने वर्षों तक स्मारिका के प्रधान सम्पादक का महत्वपूर्ण दायित्व निभाया। वे अब स्मारिका के प्रमुख परामर्शदाता हैं। उनका स्मारिका के लिए हमेशा महत्वपूर्ण परामर्श मिलता रहा है। मैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

स्मारिका के प्रकाशन में विज्ञापनों के माध्यम से अर्थ संग्रह करना, विज्ञापन दाताओं से सम्पर्क, विज्ञापन प्राप्त करना, उनको छपवाना, प्रेस का चयन, स्मारिका के वितरण की व्यवस्था, विज्ञापन दाताओं को भिजवाना, राशि प्राप्त करना आदि महत्वपूर्ण कार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रबन्ध सम्पादक करता है। प्रबन्ध सम्पादक स्मारिका की रीढ़ है। इस महत्वपूर्ण पद पर सभा की कार्यकारिणी ने इस वर्ष भी कार्यकारिणी के वरिष्ट सदस्य श्री जयकुमारजी गोधा को मनोनीत किया है। वे गत 5 वर्षों से स्मारिका के प्रबन्ध सम्पादक का कार्य सम्हाल रहे हैं। इनके कार्यकाल में हर वर्ष विज्ञापनों की राशि बढ़ रही है तथा वसूली भी बढ़ रही है। वे स्मारिका से संबंधित सभी कार्य रात-दिन लगाकर पूर्ण निष्ठा, लगन व कर्मठता से सम्हाल रहे हैं। मैं अपनी ओर से तथा सभा की कार्यकारिणी की ओर से उनका बहुत आभारी हूँ। संयुक्त प्रबन्ध सम्पादक श्री सुरेशजी बज एवं श्री दर्शन कुमारजी बाकलीवाल द्वारा प्रदत्त सहयोग के लिए मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। श्री निर्मल कुमारजी कासलीवाल, श्री अमरचन्दजी छाबड़ा, श्री सुनील कुमारजी, श्री रवीन्द्र कुमारजी बैनाडा, श्री आर. के. लुहाड़िया, श्री उमरावमलजी संघी द्वारा प्रदत्त सहयोग को भुलाया नहीं जा सकता है। मैं इनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

स्मारिका के लिए जिन लेखकों, कवियों, विद्वानों ने हमारे निवेदन पर अपनी रचनाएँ भिजवाई हैं, उनके हम अन्यन्त आभारी हैं। जिन-जिन संस्थानों ने/व्यक्तियों ने अपने विज्ञापन प्रदान कर सहयोग प्रदान किया तथा जिन्होंने प्रयत्न कर विज्ञापन प्राप्त करवाये हैं, उन सभी के प्रति मैं आभार प्रदर्शित करता हूँ।

सभा की गतिविधियों को सुचारू रूप से चलाने में विविध संस्थाओं और मण्डलों, मन्दिरों द्वारा निरन्तर सहयोग प्राप्त होता रहता है। दिगम्बर जैन मन्दिर महावीर स्वामी कालाडेरा, गोपालजी का रास्ता में हर वर्ष भजन संध्या का आयोजन होता है। दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा, (तेरहपंथ) दड़ा व सभा के सहयोग से महिला सिलाई प्रशिक्षण केन्द्र एवं संगीत प्रशिक्षण केन्द्र चलता है। बड़े दीवानजी के मन्दिर में भाद्रपद मास में 10 दिन तक दशलक्षण पर्व का आयोजन होता है। दिगम्बर जैन मन्दिर बाकलीवालान के सहयोग से सभा द्वारा होम्योपैथिक चिकित्सालय चलाया जाता है। दिगम्बर जैन मन्दिर मोहनबाड़ी में भगवान आदिनाथ की पावन जयन्ती के उपलक्ष्य में सामूहिक पूजन का आयोजन, भट्टारकजी नसियाँ में भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव पर सामूहिक लाडू चढ़ाने का कार्यक्रम तथा महावीर जयन्ती सम्मान समारोह का आयोजन, राजस्थान चेम्बर एंड इंडस्ट्रीज (एम. आई. रोड़) में विचार गोष्ठी तथा कवि सम्मेलन का आयोजन, महावीर दिगम्बर जैन बालिका विद्यालय में वाद-विवाद प्रतियोगिता, निबंध प्रतियोगिता का पारितोषिक वितरण समारोह, एस. एस. जैन सुबोध हा. सै. स्कूल में निबंध प्रतियोगिता का आयोजन, जैन श्वेताम्बर हा. स्कूल में चित्रकला प्रतियोगिता आदि कार्यक्रम इनके सहयोग से आयोजित हुए। मैं इन संस्थाओं के पदाधिकारियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि इनका भविष्य में भी पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

सभा का कार्यालय चाकसू के चौक स्थित दिगम्बर जैन मन्दिर चाकसू में स्थित है इस मन्दिर के अध्यक्ष श्री राजेन्द्र कुमारजी ठोलिया व उनकी कार्यकारिणी के सदस्यों की ओर से सभा की सभी गतिविधियों के लिए पूर्ण सहयोग मिलता है।

महावीर जयन्ती के अवसर पर आयोजित रक्तदान शिविर के आयोजन में सवाई मानसिंह चिकित्सालय रक्त बैंक, सन्तोकबा दुर्लभजी अस्पताल रक्त बैंक, स्वास्थ्य कल्याण केन्द्र रक्त बैंक के चिकित्सकों, टेक्निशियनों व कर्मचारियों का भी मैं आभारी हूँ। जिनके सहयोग से सभा सुचारू रूप से रक्तदान शिविर आयोजन करने में सफल रहती है। महावीर जयन्ती के अवसर पर सभा द्वारा आयोजित रक्तदान शिविर में जिन-जिन ने भी रक्तदान कर सहयोग प्रदान किया, उनके इस मानव सेवा के कार्य व सहयोग के लिए मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि इस वर्ष भी यह शिविर सफलता पूर्वक सम्पन्न होगा।

चाकसू के चौक के सोनी परिवार के द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर जयन्ती के पहले दिन सभा द्वारा आयोजित प्रभात फेरी के बाद चाकसू के चौक में सहभागियों के लिए हर वर्ष नाश्ते का प्रबन्ध किया जाता है, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

सभा को अपने कार्यक्रमों में सभी युवा मण्डलों, महिला मण्डलों, दिगम्बर जैन सोश्यल ग्रुप, जैन सोश्यल ग्रुप, दिगम्बर जैन महासमिति, धर्म संरक्षिणी महासभा, दिगम्बर जैन परिषद्, अखिल भारतीय दिगम्बर जैन युवा परिषद्, राजस्थान जैन युवा महासभा आदि का पूर्ण सहयोग मिलता रहा है। मैं इनके पदाधिकारियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

महावीर जयन्ती शोभायात्रा में भाग लेने वाले सभी स्कूलों, महाविद्यालयों, विभिन्न बैण्डों, झाँकी प्रस्तुत करने वाली संस्थाओं, भजन मण्डलों ने सहयोग प्रदान किया। सभा उनके प्रति आभार प्रकट करती है। महावीर जयन्ती की शोभायात्रा में जगह-जगह फल वितरण व दूध, मिल्करोज, ठंडे पानी के प्रबन्ध करने वालों, बर्फ की आपूर्तिकर्ता श्री प्रेमचन्दजी गंगवाल, पानी की आपूर्तिकर्ता श्री दीनदयालजी पाटनी व छात्रों को लड्डू वितरणकर्ता-महानुभावों, क्षमापन पर्व समारोह पर खोपरा-मिश्री वितरण करने वाली संस्थाओं के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ।

नगर निगम जयपुर राजस्थान जैन सभा को हमेशा महावीर जयन्ती व सामूहिक क्षमापन पर्व समारोह पर रामलीला मैदान निशुल्क आवंटित करता है। मैं जयपुर नगर निगम के महापौर तथा जोन आयुक्त एवं अन्य अधिकारियों व कर्मचारियों को धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

सभा के निर्वतमान अध्यक्ष श्री रतनलालजी छाबड़ा का सभा को पूर्ण मार्गदर्शन व सहयोग मिलता है, मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

सभा के उपाध्यक्ष श्री प्रेमचन्दजी छाबड़ा एवं श्री कैलाशचन्दजी शाह, संयुक्त मंत्री श्री शान्तिकुमारजी गोधा एवं श्री प्रकाशजी अजमेरा, कोषाध्यक्ष श्री अरुण कोड़ीवाल कार्यकारिणी के समस्त सदस्य गणों, अभ्यर्थित सदस्य गणों, विशेष आमंत्रित महानुभावों, विद्वानों, श्रेष्ठियों, साधर्मी बहनों व भाइयों, शुभचिन्तकों व सहयोगियों एवं सभा के विभिन्न कार्यक्रमों के संयोजकों द्वारा प्रदत्त सहयोग के लिए आभार प्रकट करता हूँ। सभा के कार्यक्रमों के प्रचार-प्रसार में दैनिक, पाक्षिक, मासिक व साप्ताहिक पत्रों, पत्रकारों, टी.वी. चैनल्स व आकाशवाणी द्वारा प्रदत्त सहयोग के लिए उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। विभिन्न कार्यक्रमों के संयोजकों व समारोह के अतिथियों के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ।

महावीर जयन्ती के अवसर पर राज्य के विभिन्न व्यापारियों से राशि एकत्रित करने में तथा शोभायात्रा में बैजेज के माध्यम से राशि प्राप्त करने में जिन-जिन महानुभावों ने सहयोग प्रदान किया है, मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

सभा ने विभिन्न सामाजिक कुरीतियों के निवारण हेतु विभिन्न संस्थाओं से सम्पर्क किया, उन्हें कुरीतियाँ समाप्त करने हेतु प्रेरित किया। बाढ़ पीड़ितों के लिए राहतकार्य में सहयोग प्रदान किया। ऋषभदेव में जैन समाज के व्यक्तियों/परिवारों पर जो अत्याचार हुआ, उसके विरुद्ध आवाज उठाकर सरकार से अत्याचार को रोकने, सुरक्षा प्रदान करने तथा नुक्सान का मुआवजा देने तथा सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 04-01-2007 को जो फैसला दिया है, उसकी अनुपालना करवाने हेतु ज्ञापन प्रस्तुत किया है।

अन्त में मैं जिन्होंने भी सभा को किसी भी प्रकार का सहयोग प्रदान किया, उसके लिए उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। सभी से अनुरोध है कि सभा के अधिक से अधिक सदस्य बनाकर एकता का परिचय दें।

भवदीय
महेन्द्र कुमार जैन पाटनी
अध्यक्ष, राजस्थान जैन सभा जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलेख मंत्री की लेखनी से...

सम्पूर्ण विश्व में आस्थाओं के केन्द्र विश्व वंद्य 1008 तीर्थंकर महावीर का 2606वाँ जन्म जयन्ती समारोह दिनांक 28 मार्च से 31 मार्च 2007 तक राजस्थान जैन सभा द्वारा विभिन्न कार्यक्रमों के साथ मनाया जा रहा है। आचार्य श्री विशदसागरजी महाराज, आचार्य श्री निर्भयसागरजी महाराज, मुनि श्री विनम्र सागरजी महाराज, मुनि श्री पावनसागरजी महाराज, मुनि श्री श्रेयांससागरजी महाराज ससंघ के पावन सानिध्य में इस वर्ष महावीर जयन्ती समारोह मनाया जा रहा है। मैं उनके चरणों में नमन करता हूँ।

भगवान महावीर के उपदेशों का जनमानस में प्रचार-प्रसार व सभा को सामाजिक गतिविधियों की जानकारी हेतु विगत 43 वर्षों से अनवरत् भगवान महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है। इस वर्ष भी पावन जयन्ती के शुभ अवसर पर दिनांक 31 मार्च 2007 को स्मारिका का 44वाँ अंक आपके समक्ष प्रस्तुत कर हमें प्रसन्नता एवं गौरव का अनुभव हो रहा है।

स्मारिका में भगवान महावीर के जीवन दर्शन, उनके उपदेशों की महत्ता, कविताएँ एवं अन्य सम-सामयिक विषयों पर ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत की गई है। जिससे स्मारिका की उपयोगिता अपने आप बन गई है। ज्ञातव्य रहे इस स्मारिका को संदर्भित ग्रन्थ के रूप में भी मान्यता प्राप्त है। स्मारिका में आचार्यों, मुनिराजों के आशीर्वाद एवं राजनेताओं व समाज-सेवियों के संदेश प्राप्त हुए हैं, हम उनके प्रति आभारी हैं। स्मारिका में जिन विद्वान्, लेखकों व कवियों ने रचनाएँ भिजवाई हैं, उनके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ।

इस वर्ष भी सभा की कार्यकारिणी ने स्मारिका के प्रधान सम्पादक गुरुतर भार प्रसिद्ध विद्वान डॉ. प्रेमचन्दजी रांवका को सौंपा है। डॉ. रांवकाजी ने अत्यधिक व्यस्तताओं के बावजूद हमारे अनुरोध को स्वीकार कर स्मारिका में उच्च स्तरीय लेखों एवं कविताओं का संकलन कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। भारत वर्ष के मूर्धन्य विद्वानों के लेख एवं आचार्यों व मुनिराजों के आशीर्वाद प्राप्त कर स्मारिका के लिए उपयोगी सामग्री का सृजन किया है। सभा उनके द्वारा प्रदत्त सहयोग के लिए हार्दिक आभार प्रगट करती है।

इस कार्य को सफल बनाने के लिए स्मारिका के परामर्शदाता श्री ज्ञानचन्दजी बिल्टीवाला, संपादक मण्डल के डॉ. जे. डी. जैन एवं श्री महेशजी चांदवाड़ ने अपनी उपयोगी सेवाएँ प्रदान की हैं। हम उनके प्रति भी आभार प्रगट करते हैं।

सभा ने स्मारिका के प्रबन्ध सम्पादक का गुरुतर भार श्री जयकुमारजी गोधा को सौंपा है। जिन्होंने स्मारिका के लिए विज्ञापन जुटाने एवं उसकी साज-सज्जा को नया रूप प्रदान करने में अपनी पारिवारिक व्यस्तताओं के होते हुए भी अथक परिश्रम किया है। जिससे स्मारिका का स्वरूप आकर्षक व भव्य बन सका है। उनके द्वारा किये गये प्रशंसनीय प्रयासों व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहयोग के लिए हम उनके प्रति आभार प्रगट करते हैं। इस कार्य हेतु श्री दर्शनकुमारजी बाकलीवाल एवं श्री सुरेशजी बज ने संयुक्त-प्रबन्ध सम्पादक के रूप में जो सहयोग प्रदान किया है, हम उनके भी आभारी हैं। प्रबन्ध मण्डल के अन्य सभी सदस्यों का, विज्ञापन दाताओं, विज्ञापन लाकर सहयोग प्रदान करने वालों का एवं किसी भी रूप में स्मारिका से जुड़े हुए सभी महानुभावों का भी आभार प्रदर्शित करते हैं, जिनके सहयोग से स्मारिका का कार्य पूर्ण हुआ है। सभा के अध्यक्ष श्री महेन्द्रकुमारजी जैन पाटनी द्वारा स्मारिका हेतु दिये गये अमूल्य सुझाव ही नहीं, अपितु विज्ञापनों को जुटाने से सभी कार्य सहज बन पड़े हैं। आपके कठिन प्रयासों से स्मारिका से लेकर विज्ञापन एवं अन्य व्यवस्थाओं में आपका भरपूर सहयोग रहा है। मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। पूर्व अध्यक्ष श्री रतनलालजी छाबड़ा, कार्यसमिति के सभी पदाधिकारियों व सदस्यों के प्रति भी आभार प्रदर्शित करता हूँ, जिनके सहयोग से हम सभी कार्य सफलता पूर्वक कर सके हैं।

महावीर जयन्ती समारोह के विभिन्न कार्यक्रमों के लिए निम्न प्रकार से समितियों का गठन किया गया है, इनके संयोजकों व सहयोगी सदस्यों द्वारा प्रदत्त सहयोग के लिए आभार प्रगट करता हूँ।

कवि सम्मेलन– श्री शान्तिकुमारजी गोधा, श्री अरुण कोड़ीवाल, श्रीमती शीला डोड्या, श्री विनोद छाबड़ा।

भक्ति संध्या– श्रीमती विमला पापड़ीवाल एवं श्रीमती कुसुम बज।

प्रभात फेरी – श्री मनीष बैद, श्री प्रदीप जैन, श्री सुभाष जैन पाण्ड्या, श्री सुरेन्द्र कुमार पाटनी, श्रीमती शीला डोड्या, श्रीमती विमला गोधा।

शोभा यात्रा– श्री अरुण कोड़ीवाल (परामर्शक), श्री योगेश टोडरका (संयोजक), श्री राकेश छाबड़ा (संयोजक)।

शोभा यात्रा समिति – श्री नवीनसेन जैन, श्री कैलाश गोधा, श्री अशोक लुहाड़िया, श्रीमती मृदुला पाण्ड्या, श्री सुरेश बज, श्री राजेन्द्र लुहाड़िया, श्री हनुमान प्रसाद पाटोदी, श्री महेन्द्र शाह, श्रीमती शीला डोड्या, श्रीमती कल्पना जैन, श्रीमती अरुण जैन, श्री विजय सौगाणी, श्रीमती आशा बड़जात्या, श्री अजय सेठी, श्री पूरणमल अजमेरा, श्री ज्ञानचन्द बिलाला, श्री प्रदीप गोधा, श्री सुभाष जैन, श्री नवीन सौगाणी, श्री विनोद जैन कोटखावदा, श्रीमती विद्युत लुहाड़िया, श्रीमती कुसुम बज, श्री प्रेमचन्द बड़जात्या।

सांस्कृतिक कार्यक्रम – श्रीमती स्नेहलता शाह, श्री महावीरकुमार बिंदायक्या, श्री धनकुमार लुहाड़िया।

सामान्य व्यवस्था समिति – संयोजक श्री शान्तिकुमार गोधा, सहयोगी श्री सुभाष गोधा, श्री सुरेशचन्द काला एवं पदमचन्द शाह।

रक्तदान परामर्शक – डॉ. सुभाष गंगवाल, डॉ. विनय सोनी, डॉ. निर्मल जैन, डॉ. सुभाष काला, डॉ. ज्ञानचन्द सोगाणी, डॉ. प्रभा लुहाड़िया, डॉ. दिलीप काला, संयोजक – श्री मनोज पापड़ीवाल, परामर्शक – श्री राकेश छाबड़ा, श्री दर्शनकुमार बाकलीवाल, सहयोगी श्री महेन्द्र गंगवाल, श्री सौभाग मल जैन, श्री महावीर सुरेन्द्र जैन, श्री अंशुल पाटनी, श्री अरिकेत जैन।

मुख्य जुलूस अर्थव्यवस्था – श्री सरदार मलजी सौगाणी, श्री वीरबहादुर बज।

अर्थव्यवस्था समिति – श्री विमलचंद गोधा, श्री सुरेश बज, श्री देवकुमार शाह, श्री पदमचन्द पाटनी, श्री राजमल छाबड़ा, श्री संजय काला, श्री राजेन्द्र कुमार लुहाड़िया, श्री सुरेन्द्र मोहन जैन, श्री कैलाशचन्द बिंदायक्या, श्री भागचन्द छाबड़ा, श्री प्रदीप ठोलिया, श्री योगेश टोडरका, श्री कैलाशचंद सौंगानी, श्री कैलाशचंद लुहाड़िया, श्री शरद गंगवाल।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रचार-प्रसार – श्री रमेशचन्द चांदवाड़, श्री मनीष बैद।

महावीर जयन्ती समारोह समिति :

महावीर जयन्ती समारोह को वृहत् रूप देने हेतु समाज के गणमान्य महानुभावों, जयपुर स्थित मन्दिरों के प्रतिनिधियों, जैन समाज के सभी वर्गों, महिलाओं, युवाओं व संस्थागत प्रतिनिधियों को मिलाकर एक समारोह समिति का गठन भी किया गया, जिससे सभा को भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ। सभा उनके प्रति आभार प्रकट करती है।

इस स्मारिका के प्रकाशन के लिए मुद्रण सम्बन्धी सभी कार्य मे. जैन कम्प्यूटर्स जयपुर पर सम्पन्न हुए। जय महावीर !

स्मारिका के समय पर प्रकाशन व सुन्दर साज-सज्जा के लिए मैं संस्थान के संचालक श्री रमेशचन्दजी शास्त्री जैन कम्प्यूटर्स का भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ, हम उनके आभारी हैं।

कार्यालय के काम को सुचारू रूप से चलाने हेतु श्री प्रमोद जैन एवं श्री अनिल जैन का भी सहयोग प्राप्त हुआ।

उपरोक्त समितियों के सभी संयोजकगणों व सदस्यों द्वारा महावीर जयन्ती के समस्त कार्यक्रमों को उच्चता एवं ऐतिहासिकता प्रदान करने में सक्षम होंगे, जिससे राजस्थान जैन सभा का काम उत्तरोत्तर प्रगति की ओर अग्रसर हो सकेगा।

– इन्हीं शुभकामनाओं के साथ !

– कमलबाबू जैन

मंत्री, राजस्थान जैन सभा, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के 2606वीं पावन जयन्ती समारोह के शुभ अवसर पर राजस्थान जैन सभा द्वारा प्रतिवर्ष प्रकाश्य ''महावीर जयन्ती स्मारिका'' का यह 44वाँ पुष्प मनीषी सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष एवं गौरव का अनुभव करते हैं। इस अंक प्रकाशन के साथ राजस्थान जैन सभा अपनी स्थापना के 54 वर्ष पूर्ण कर 55वें वर्ष में प्रवेश कर रही है।

''महावीर जयन्ती स्मारिका'' का सर्वप्रथम शुभारम्भ जैन दर्शन के विश्रुत विद्वान मनीषी, राजस्थान जैन सभा के प्रेरक संस्थापक प्रातः स्मरणीय गुरुवर्य्य पण्डित श्री चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ द्वारा सन् 1962 में हुआ था। उन्होंने तीर्थंकर महावीर के सर्वोदयी सिद्धान्तों को मानवीय समाज को उपलब्ध कराने हेतु राजस्थान जैन सभा को 'स्मारिका' के प्रकाशन की प्रेरणा दी। उनके निर्देश को सभा ने बहुमान पूर्वक क्रियान्वित किया। सन् 1962 से 66 तक पाँच अंकों का विद्वतापूर्ण सम्पादन कर पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ ने समाज को सन्मार्ग प्रदान किया। उनकी ज्ञान-प्रसूत लेखनी से सुसम्पादित महावीर जयन्ती स्मारिका का सर्वत्र समादर हुआ और यह सन्दर्भग्रन्थ रूप में बहुमानित हुई। परिणाम स्वरूप 'स्मारिका प्रकाशन' राजस्थान जैन सभा की एक अपरिहार्य गतिविधि बन गई, जो अद्यावधि गतिमान है। पूज्य पण्डित सा. ने स्मारिका को स्वयं की प्रज्ञापूर्ण लेखनी एवं विद्वान मनीषियों के सहयोग से संदर्भ ग्रन्थ के साथ स्वाध्याय ग्रन्थ का स्वरूप प्रदान किया। जिससे यह स्मारिका ग्रन्थ रूप में विद्वानों, शोधार्थियों, साधु-सन्तों एवं सामाजिकों के लिए अत्यन्त उपादेय बन कर सिद्ध हुआ। जैन एवं साहित्य-समाज के प्रति उनकी यह अनुकम्पा वाचामगोचर है। उनकी प्रज्ञा मनीषा को सर्वदा नमन है।

स्व. पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के पश्चात् उन्हीं के सुयोग्य प्रसिद्ध विद्वान शिष्यद्वय पण्डित श्री भंवरलालजी पोल्याका और जैन साहित्य के प्रथित इतिहासज्ञ विद्वान डॉ. श्री कस्तूरचन्दजी कासलीवाल के द्वारा स्मारिका का विद्वता पूर्ण सम्पादन हुआ। 1967 से 1982 तक इन दोनों विद्वान सम्पादकों ने स्मारिका को साहित्यिक परिपक्वता प्रदान की और पू. पं. सा. के प्रज्ञापूर्ण सम्पादन कर्म को संरक्षित और संवर्द्धित किया। तत्पश्चात् पण्डित चैनसुखदासजी के ही शिष्य सम सम्प्रति आध्यात्मिक तत्त्ववेत्ता पं. श्री ज्ञानचन्दजी बिल्टीवाला ने सन् 1983 से 2002 तक के दो दशकों में महावीर जयन्ती स्मारिका का अपनी दार्शनिक ज्ञानाराधना से सुसम्पादन कर समाज के लिए अध्यात्म पाथेय प्रस्तुत किया। इन गुरु तुल्य विद्वान सम्पादक त्रय के ज्ञानोपयोगी सम्पादन के प्रति नमित हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गत पाँच वर्षों से पं. श्री ज्ञानचन्दजी बिल्टीवाला सा. के निर्देश एवं प्रेरणा तथा राजस्थान जैन सभा के अध्यक्ष प्रसिद्ध समाज सेवी एवं इतिहास लेखक आदरणीय श्री महेन्द्र कुमारजी पाटनी सा. एवं मंत्री श्री कमलबाबू जी जैन के अनुरोध पर मैं स्मारिका के सम्पादन कर्म में प्रविष्ट होकर प्रवृत्त हूँ। इस गुरुतर दायित्व के निर्वहन में गुरुतुल्य प्रधान सम्पादकों का ही प्रेरणारूप सम्बल है।

'महावीर जयन्ती स्मारिका' के प्रकाशन का उद्देश्य जैनाजैन जनता में भगवान महावीर के जीवन, दर्शन और उनके सर्वोपयोगी उपदेशों का प्रसार कर जैन साहित्य, इतिहास, संस्कृति, पुरातत्त्व आदि विषयों पर शोधपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करना रहा है। साहित्य शब्द से तात्पर्य ऐसी रचनाओं से है जो पाठकों में सद्भाव जागृत करें, जिसमें मानव-मात्र का हित-चिन्तन निहित हो। सत्यं शिवं सुन्दरम् से समन्वित उदात्त भावों का संचरण हो। इसी दृष्टि से स्मारिका में रचनाओं का चयन कर प्रकाशन किया गया है।

तीर्थंकर महावीर के शाश्वत हितकारी उपदेशों/संदेशों को जन-जन तक पहुँचाने की दृष्टि से स्मारिका में पूज्य आचार्यों, मुनिराजों, सन्तों, विद्वान् मनीषियों एवं सामाजिक चिन्तकों के सर्वोपयोगी आलेखों का चयन कर प्रकाशित किया गया है। इस अंक में नवीन लेखों के साथ ऐसे दुर्लभ एवं बहुमूल्य लेखों को भी प्रकाशित किया गया है जो आज से 40-45 वर्ष पूर्व जैन विद्या के प्राच्य-वरिष्ठ विद्वानों द्वारा लिखे गये थे, जिनकी आज भी प्रासंगिकता एवं समाजोपयोगी आवश्यकता है। जिनका अभिज्ञान कराना आज भी अपेक्षित और हितावह है। आचार्य श्री विद्यानन्दजी मुनिराज और आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की प्रेरणा से प्राकृत विद्या एवं जिन भाषित में भी ऐसे ही प्राच्य एवं बहुमूल्य लेखों को जन हिताय प्रकाशित किया जा रहा है। निश्चित ही ये रचनाएँ मानवीय समाज को विविध क्षेत्रों में दिशाबोध प्रदान करती हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं पूर्व राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का तीर्थंकर महावीर, क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी कृत अध्यात्म और अहिंसा, पं. कैलाशचन्दजी शास्त्री द्वारा रचित अध्यात्म और सिद्धान्त, पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का भक्ति का फल, डॉ. कस्तूरचन्दजी कासलीवाल का राजस्थानी जैन सन्तों की साहित्य साधना, राष्ट्रकवि श्री रामधारी सिंह दिनकर रचित जैन संस्कृति वेदपूर्व है, पं. श्री भंवरलालजी न्यायतीर्थ रचित जयपुर के जैन दीवान और डॉ. ज्योतिप्रसादजी जैन का दिगम्बरत्व का महत्व।

चार खण्डों में विभक्त स्मारिका के **प्रथम खण्ड भगवान महावीर : जीवन एवं दर्शन** में सर्वप्रथम आचार्य भगवन्त श्री कुन्दकुन्द द्वारा प्राकृत में रचित चौबीस तीर्थंकरों की भक्तिपरक गाथाएँ और संस्कृत में रचित मंगलाष्टक का हिन्दी गद्यानुवाद मंगलाचरण स्वरूप है। जैन विद्या के प्रसिद्ध वरिष्ठ विद्वान् डॉ. महेन्द्रसागरजी प्रचण्डिया की दो गद्य-गद्य रचनाएँ मर्मस्पर्शी और सारगर्भित हैं। इस खण्ड के अन्य आलेखों में पूर्वराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् का तीर्थंकर महावीर, श्री नीरजजी जैन का महावीर का श्रावक, श्री चंचलमल चौरडिया का महावीर का वीतराग दर्शन, डॉ. नरेन्द्र भानावत का वर्तमान में भगवान महावीर के चिन्तन की सार्थकता, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल का महावीर का घटना प्रधान जीवन नहीं, डॉ. दयानन्द भार्गव का भगवान महावीर की साधना आदि भगवान महावीर के जीवन एवं दर्शन को विशेष उद्घाटित करते हैं।

द्वितीय खण्ड : अध्यात्म और सिद्धान्त में आचार्य श्री सन्मतिसागरजी का मोक्ष पदार्थ मुक्ति मार्ग में पाथेय है। क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रजी वर्णी का अध्यात्म व अहिंसा और पं. कैलाशचन्दजी शास्त्री का अध्यात्म और सिद्धान्त, आर्यिका शीतलमति का द्रव्य गुण, पण्डित श्री शिवचरणलालजी का निश्चय-व्यवहार, श्री बिल्टीवालाजी का अन्तरात्मा की अन्तर्मुखता आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेख जैन दर्शन के सिद्धान्तों का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

तृतीय खण्ड : भक्ति और साहित्य-साधना में आचार्य श्री विद्यानन्दजी मुनिराज और आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के क्रमशः भक्ति में मुक्ति का अंकुर और आचार्य साधु स्तुति तथा पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का भक्ति का फल और डॉ. भंवरदेवी पाटनी का जिनेन्द्र भक्ति लेख परक महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। जो मुक्ति मार्ग को प्रशस्त करती हैं। इस अंक में डॉ. कासलीवालजी के जैन संतों की साहित्य साधना के अतिरिक्त सल्लेखना से संबंधित तीन आलेख सामयिक शंकाओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं।

चतुर्थ खण्ड : संस्कृति और इतिहास में आचार्य श्री कनकनन्दीजी का प्राचीन भारत के गणतंत्र, श्री रामधारी सिंह दिनकर का जैन संस्कृति वेद पूर्व है, डॉ. राजेन्द्र बंसल का वैशाली में महावीर दर्शन, श्री महेन्द्र कुमारजी पाटनी का ऐतिहासिक अतिशय क्षेत्र घोघा, पं. भंवरलालजी न्यायतीर्थ का जैन दीवान, डॉ. शैलेन्द्र रस्तोगी का जिन छत्र आदि लेख जैन संस्कृति की प्राचीनता एवं प्रभाव से परिचय कराते हैं।

स्मारिका में आचार्य श्री सन्मतिसागरजी महाराज, आचार्य श्री विद्यानन्दजी मुनिराज, आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज, आचार्य श्री कनकनन्दीजी महाराज, आचार्य श्री निर्भयसागरजी महाराज एवं मुनि श्री पावनसागरजी और विनम्रसागरजी के चरणों में नतमस्तक हैं, जिनके आलेखों एवं शुभाशीर्वादों से स्मारिका गौरवान्वित हुई है। विद्वान लेखक मनीषियों के प्रति कृतज्ञ हैं, जिनसे स्मारिका संदर्भ ग्रन्थ बनता है। उपराष्ट्रपति श्री भैरोसिंहजी शेखावत, राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति श्री एन. के. जैन एवं मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री एन. के. जैन के प्रति शुभकामना सन्देश हेतु अनुगृहीत हैं।

राजस्थान जैन सभा के अध्यक्ष श्री महेन्द्र कुमारजी पाटनी, मंत्री श्री कमलबाबूजी जैन, प्रबन्ध संपादक श्री जयकुमारजी गोधा एवं कार्यकारिणी के सभी सदस्य साधुवाद के पात्र हैं, जो प्रतिवर्ष स्मारिका प्रकाशन में सक्रिय रहते हैं। स्मारिका सम्पादन में पं. श्री ज्ञानचन्दजी बिल्टीवाला के निरन्तर मार्गदर्शन एवं श्री डॉ. जिनेश्वरदासजी जैन एवं श्री महेशचन्दजी चांदवाड़ा के सहयोग के लिए आभारी हूँ। स्मारिका के समय पर शुद्ध एवं सुन्दर मुद्रण हेतु श्री रमेशचन्दजी जैन शास्त्री, जैन कम्प्यूटर्स को भूरिशः धन्यवाद है।

महावीर जयन्ती स्मारिका का यह 44वाँ अंक भगवान महावीर के सर्वोदयी सिद्धान्तों को समाहित करता हुआ सभी जन-मन के लिए मंगलकारी होवे। सभी को सौख्यकारी होवे। सभी आत्मोत्थान में जयेन्द्र व जयवन्त हों। इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ वीर प्रभुः पातुनः।

– डॉ. प्रेमचन्द रांवका
22, श्रीजी नगर, दुर्गापुरा, जयपुर
दूरभाष : 0141-2545570

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आभार

प्रबन्ध सम्पादक की ओर से...

ऊँ अर्हन्तसिद्धसाधुभ्यो नम:

जिन-शासन के नायक चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी की जन्म-जयन्ती के पावन पर्व पर महावीर जयन्ती स्मारिका का 44 वाँ अंक आपके समक्ष सहर्ष प्रस्तुत है।

स्मारिका के 44 वें अंक के प्रबन्ध सम्पादक के गुरुतर भार को वहन करने के लिए गत वर्षों की निरन्तरता में मुझे पुन: अवसर दिये जाने के निर्णय के प्रति मैं, राजस्थान जैन सभा की कार्यकारिणी का आभार व्यक्त करता हूँ।

स्मारिका के द्वारा जैन-धर्म एवं भगवान महावीर के सन्देशों आदि को सरल सारगर्भित भाषा में अधिकाधिक प्रबुद्ध सुधी पाठकों की रुचि अनुसार उन तक पहुँचाने में पठनीय सामग्री के चयन करने का श्रम साध्य कार्य करने के लिए हमारे परामर्शदाता श्री ज्ञानचन्दजी बिल्टीवाला, प्रधान सम्पादक डॉ. प्रेमचन्दजी रांवका एवं उनके सहयोगी श्री महेशचन्दजी चाँदवाड़ और डॉ. जे.डी. जैन के योगदान के लिए इन सबका आभार।

स्मारिका का मुद्रण आर्थिक उपलब्धता पर निर्भर करता है और इसकी उपलब्धता ही इसके निरन्तर आकर्षक रूप में प्रकाशित होते रहने का आधार है। स्मारिका में प्रकाशित विज्ञापनों की प्राप्ति को लक्ष्यानुसार गति देने के कार्य में गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी सभा अध्यक्ष श्री महेन्द्रकुमारजी जैन पाटनी का यथासमय सम्पूर्ण मार्गदर्शन, सहयोग एवं साथ हर प्रकार से मुझे स्नेह सहित बराबर मिलता रहा है। इस क्रम में पूर्व की भाँति श्री पाटनीजी ने विज्ञापन दाताओं, विज्ञापन प्रदाताओं से सम्पर्क साधने में अपने व्यस्ततम समय में से समय दिया, हम साथ-साथ कई स्थानों पर गये, इस मूल्यवान सम्पूर्ण सहयोग के लिए मैं उनका अत्यन्त आभार मानता हूँ।

मंत्री श्री कमलबाबूजी, ने स्वयं के स्तर से प्रयास करके यथासमय विज्ञापन जुटाकर सहयोग दिया। इसके लिए इनका एवं सभा के अन्य पदाधिकारियों व श्री अरुणजी कोड़ीवाल से मिले सहयोग के लिए उन सबका आभार व्यक्त करता हूँ।

श्री प्रेमचन्दजी छाबडा उपाध्यक्ष तथा वरिष्ठ साथी श्री प्रकाशचन्दजी ठोलिया का पूर्व वर्षों की भाँति ही पूरा-पूरा सहयोग मुझे मिला है। इसके लिए आभारी हूँ।

स्मारिका में बड़ी राशि के विज्ञापन देने वालों में श्री गणेशजी राणा, श्री अशोकजी पाटनी किशनगढ, श्री विवेकजी काला, श्री नरेशचन्दजी जैन, श्री प्रदीपजी जैन, श्री अनिलजी सोनी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री सोहनलालजी सेठी, श्री सुदीपजी सोनी, एवं बड़े प्रतिष्ठानों आदि का आभारी हूँ।

श्री आर. के. लुहाडियाजी, श्री रविन्द्र कुमारजी जैन बैनाडा, श्री अमरचन्दजी छाबड़ा के प्रयत्नों से मिले विज्ञापनों के सहयोग के लिए मुझे इनका आभार व्यक्त करने में प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

प्रतिवर्ष स्मारिका में विज्ञापन दिलाने के लिए समाज के कई गणमान्य महानुभावों से सम्पर्क होता है। और उनमें से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से कईयों का उल्लेखनीय सहयोग मुझे मिला है, इसके लिए मैं उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करते हुये भविष्य में भी पूर्ण सहयोग की अभिलाषा रखता हूँ। मुझे मिले उल्लेखनीय सहयोग में श्री किशोरजी सरावगी, श्री त्रिलोकचन्दजी कोठारी, श्री मुकेशजी छाबड़ा, श्रीमती श्वेताजी पाण्डया, श्री अभयजी गोधा, श्री आमोदजी दीवान, श्री कमलकुमारजी गंगवाल, डॉ. सुभाषजी गंगवाल, श्री कमलचन्दजी छाबड़ा, श्री उमरावमलजी संघी, श्री एम. के. जी जैन, श्री एकेन्द्रकुमार जी, श्री कैलाशजी साह, श्री सुरेन्द्रमोहनजी, श्री प्रेमचन्दजी बड़जात्या, श्रीमती वन्दनाजी टोंग्या, श्रीमती मधुजी पाटनी, श्री भारत भूषणजी जैन, श्री विनोदजी कोटखावदा, श्री प्रकाशजी अजमेरा, श्री शांतिकुमारजी गोधा, श्री रमेशचन्दजी चाँदवाड़, श्री सुधीरजी (लाली), श्री रामबाबूजी जैन, श्री सन्दीपजी पापडीवाल, श्री अनिलजी जैन, श्री सुज्ञानीलालजी जैन, श्री ओमप्रकाशजी जैन, श्री कैलाशजी गोधा, श्री दिनेशकुमारजी गोधा, श्री हरकचन्दजी, श्री श्रेयांसकुमारजी बाकलीवाल, श्री मनोजजी पापड़ीवाल, श्री विनयजी जैन, श्री अविनाशजी जैन, श्री योगेशकुमारजी टोडरका, श्री जिनेन्द्रजी पाटनी, श्री नरेन्द्रकुमारजी ठोलिया, श्री भागचन्दजी छाबड़ा, श्री विजयकुमारजी सौगाणी, श्रीकैलाशचन्दजी गोधा, श्री राकेशजी गोधा, श्री मनीषजी बैद, श्री विनोदजी छाबड़ा, श्री विवेकजी पाटनी, श्री जिनेन्द्रकुमारजी कासलीवाल, श्री जयकुमारजी पाटनी कालाडेरावाले, श्री सुभाषजी जैन, श्री राकेशजी जैन, श्री अशोकजी कोड़ीबाल, श्री राकेशजी छाबड़ा, श्री राकेशजी संघी, श्री वीर बहादुरजी बज, श्री ए.के. साह साहब, श्री कान्तीकुमारजी सेठी, श्री राकेशजी ठोलिया, श्री सुनीलजी बख्शी सहित उपर्युक्त महानुभावों एवं इनके अतिरिक्त अन्य महानुभावों से मिले सहयोग के लिए सभी का आभार एवं भविष्य में भी सहयोग की आशा।

प्रबन्ध मंडल के मेरे साथी श्री सुरेशजी बज तथा श्री दर्शनकुमारजी बाकलीवाल, निर्मलकुमारजी कासलीवाल अधिक सक्रिय रहे हैं – इस हेतु मैं इनका आभार व्यक्त करता हूँ।

मुद्रण कार्य में श्री रमेशचन्दजी शास्त्री, जैन कम्प्यूटर्स का सहयोग मिला है, उन्होंने समय पर कार्य बहुत सुन्दरता से पूर्ण किया उनको धन्यवाद !

– जयकुमार गोधा
प्रबन्ध सम्पादक, महावीर जयन्ती स्मारिका
राजस्थान जैन सभा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा, जयपुर
कार्यकारिणी के सदस्यों की सूची

क्र.	नाम	फोन	मोबाईल
1.	**श्री महेन्द्र कुमार जैन पाटनी, अध्यक्ष** D-127, सावित्री पथ, बापूनगर, जयपुर	2705831	2070953 9829499222
2.	**श्री प्रेमचन्द छाबड़ा, उपाध्यक्ष** 2, न्यू कॉलोनी, एम.आई. रोड़, जयपुर	3268599	
3.	**श्री कैलाशचन्द साह, उपाध्यक्ष** 106, गली नम्बर-2, हिम्मतनगर, टोंकरोड़, जयपुर	2313068	9829016068
4.	**श्री कमलबाबू जैन, मंत्री** 18, सवाईपाव की बगीची, जनता कॉलोनी,जयपुर	2603942 2611045	
5.	**श्री शांति कुमार गोधा, संयुक्त मंत्री** 589, गोधों का चौक,हल्दियों का रास्ता, जयपुर	2575514	
6.	**श्री प्रकाश अजमेरा, संयुक्त मंत्री** 801, बरकत नगर, टोंक फाटक, जयपुर	2592274	9414520475
7.	**श्री अरुण कोड़ीवाल, कोषाध्यक्ष** कोड़ीवाल भवन, दाई की गली, घीवालों का रास्ता, जयपुर	2569425	9414606129
8.	श्री श्री रतनलाल छाबड़ा, कार्यकारिणी सदस्य	2762853	
9.	श्री प्रकाचन्द ठोलिया, कार्यकारिणी सदस्य	2719100	
10.	श्री भागचन्द छाबड़ा, कार्यकारिणी सदस्य	2549618	9314871933
11.	श्री विजय कुमार सौगानी, कार्यकारिणी सदस्य	2760860	9828454050
12.	श्री जय कुमार गोधा, कार्यकारिणी सदस्य	2575931	
13.	श्रीमती स्नेहलता साह, कार्यकारिणी सदस्य	2709674	9414071604
14.	श्री सुधीर बाकलीवाल (लाली), कार्यकारिणी सदस्य	2324575	9829156031
15.	श्री राजेन्द्र कुमार हाड़ा, कार्यकारिणी सदस्य	2522833	9829078048
16.	श्री कुन्थीलाल जैन, कार्यकारिणी सदस्य	2594213	9829038213
17.	श्री निर्मल कुमार कासलीवाल, कार्यकारिणी सदस्य	2594043	
18.	श्री मनोज पापड़ीवाल, कार्यकारिणी सदस्य	2315598	9828014598
19.	श्री मनीष बैद, कार्यकारिणी सदस्य	2709959	9414068572
20.	श्री रमेशचन्द चाँदवाड़, कार्यकारिणी सदस्य	2524487	9414931891
21.	श्री राकेश छाबड़ा, कार्यकारिणी सदस्य	2762853	9829991785
22.	श्रीमती विमला पापड़ीवाल, कार्यकारिणी सदस्य	2565645	
23.	श्रीमती शकुन्तला गोधा, कार्यकारिणी सदस्य	2565416	
24.	श्री सुरेन्द्र मोहन जैन, कार्यकारिणी सदस्य	2313429	9414336124
25.	श्री वीर बहादुर बज, कार्यकारिणी सदस्य	2720606	9414203345

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा, जयपुर
विशेष आमंत्रित सदस्यों की सूची

क्र.	नाम	फोन	मोबाईल
1.	श्री गणेश राणा	2311966	9829200003
2.	श्री विवेक काला	5102222	9829066611
3.	श्री राजेन्द्र के. गोधा	2705888	9414044688
4.	श्री सुमेर कुमार पाण्ड्या	2602862	
5.	श्री सुभाष गंगवाल	2521491	9314866200
6.	श्री संजीव जैन	2314582	
7.	श्री कैलाशचन्द सौगानी	2594514	
8.	श्री अनिल जैन (आर. पी. एस.)	2552366	9414337555
9.	श्रीमती आभा जैन (आर. पी. एस.)	2382789	9829049526
10.	श्री अरुण काला	2520672	9828020776
11.	श्री पदमचन्द पाटनी	2300960	
12.	श्री निर्मल कुमार पाटनी	2701164	9829064235
13.	श्री धन कुमार लुहाड़िया	2317083	9414932441
14.	श्री महावीर प्रसाद पहाड़िया	2374207	9829060160
15.	श्री कैलाशचन्द गोधा	2709989	
16.	श्री योगेश कुमार टोडरका	2324537	9414771158
17.	श्री महावीर कुमार बिन्दायका	2560650	
18.	श्री सुमेरचन्द राँवका	2200258	
19.	श्री सरदारमल सौगानी	2318727	9828467965
20.	श्री दर्शन कुमार बाकलीवाल	5183902	9414073035
21.	श्रीमती कुसुम बज	2570138	
22.	श्री नरेन्द्र कुमार सेठी	2615044	
23.	श्री हंसराज जैन	2245595	
24.	श्री राकेश तोतुका	2760424	
25.	श्री भारत भूषण जैन	2545239	9828363615
26.	श्री विनोद जैन कोटखावदा	2328004	9314278866

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थान जैन सभा की गतिविधियाँ
2006-2007

राजस्थान जैन सभा की स्थापना 1953 में हुई। समग्र जैन समाज की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था का गौरव हासिल करते हुए अपने अनवरत् व बहुआयामी कार्यक्रमों का निर्वहन करते हुए अपने 54 वर्ष पूर्ण कर रही है। यह समाज की एकता-सामाजिक सुदृढ़ता व धार्मिक उन्नति के लिए निरन्तर कार्यों को कर रही है, इसके प्रमुख उद्देश्यों में क्रमश: –

जैन समाज के आयतनों, साहित्यिक, सांस्कृतिक धरोहर व संस्कृति के प्रचार-प्रसार हेतु कार्यक्रम आयोजित करना एवं सहयोग करना।

विभिन्न जैन संस्थाओं से संपर्क साधना और उन्हें समाज हित में संगठित कर एक सूत्र में बांधना व कार्य करने के लिए प्रेरित करना।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में फैली हुई सामाजिक कुरीतियों को समाज के सहयोग से दूर करना।

समाज सेवा एवं धार्मिक प्रवृत्तियों के लिए लोगों को प्रेरित करना तथा प्रेरणार्थ समाज-सेवियों को सम्मानित करना।

जैन मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए प्राणीमात्र की सेवा, जीवदया एवं अहिंसा के कार्यों को परिस्तिथियों अनुसार प्रमुखता से सहायता एवं सहयोग प्रदान करना।

जैन समाज के सर्वांगीण विकास, जिनमें सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक, मानसिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों के संदर्भ में विकास के लिए विभिन्न प्रकार के यथासंभव प्रयास करना एवं इस हेतु आवश्यक विभिन्न आयोजनों को करना।

उक्त सभी उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए सभा द्वारा वर्ष 2005-2006 में कई महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये गये।

महावीर जयन्ती समारोह :

भगवान महावीर का 2605वाँ जन्म कल्याणक समारोह दिनांक 8 अप्रैल से 11 अप्रैल 2006 तक राजस्थान जैन सभा द्वारा समग्र जैन समाज के सहयोग से निम्न कार्यक्रमानुसार आयोजित किए गये –

कवि सम्मेलन :

दिनांक 8 अप्रैल, 2006 को सायं 8 बजे राजस्थान चेम्बर भवन लॉन, एम.आई. रोड, जयपुर में आध्यात्मिक कवि सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसकी अध्यक्षता श्री राजेन्द्र गोधा, प्रधान संपादक समाचार जगत, मुख्य अतिथि श्री गणेश कुमार राणा, विशिष्ट अतिथि श्री एस. के. जैन थे। कवि सम्मेलन देर रात तक चला, जिसमें कवियों ने अपनी शानदार प्रस्तुतियाँ प्रदान की, जिसकी सर्वत्र प्रशंसा की गई। इसके संयोजक थे श्री अरुण कोड़ीवाल, श्री शान्तिकुमार गोधा।

भक्ति संध्या :

दिनांक 9 अप्रैल, 2006 को सायं 7.00 बजे महावीर स्वामी का मन्दिर, गोपालजी का रास्ता जयपुर में भक्ति संध्या का आयोजन किया गया, जिसकी मुख्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिथि श्रीमती विमला देवी सोनी थी। कार्यक्रम संयोजक श्रीमती स्नेहलता शाह, श्रीमती शकुन्तला गोधा थी। सर्वप्रथम सायं 7.00 बजे आरती एवं भक्तामर स्तोत्र पाठ का आयोजन जैन सोशल ग्रुप हेरिटेज सिटी जयपुर के सदस्यों के द्वारा सम्पन्न हुआ एवं 8.00 बजे जयपुर की महिला मण्डलों एवं अन्य कलाकारों ने भक्तिरस के कार्यक्रमों को प्रस्तुत कर सभी को भक्तिरस में सराबोर कर दिया।

प्रभातफेरी :

दिनांक 10 अप्रैल, 2006 को प्रात: 6.00 बजे प्रभातफेरी महावीर पार्क से प्रारंभ होकर शहर के विभिन्न मार्गों से होती हुई चाकसू के चौक पर विसर्जित हुई। सभा कार्यालय पर सभा के अध्यक्ष श्री महेन्द्र कुमार जैन पाटनी द्वारा 8.30 बजे ध्वजारोहण किया गया एवं महिला मण्डलों द्वारा झण्डागायन प्रस्तुत किया गया। चाकसू के चौक में स्थित जैन परिवारों द्वारा अल्पाहार करवाया गया। प्रभात फेरी में जयपुर के महिला मण्डलों, युवा मण्डलों, जैन सोशल ग्रुपों एवं समाज की अन्य-अन्य संस्थाओं के प्रतिनिधि एवं महानुभावों ने भाग लिया। प्रभात फेरी के संयोजक थे श्रीमती कुसुम बज, श्रीमती इन्द्रा बड़जात्या, श्री प्रदीप जैन,श्री सुभाष कुमार बज, श्री धनकुमार लुहाड़िया।

शोभा यात्रा :

महावीर जयंती के पावन दिवस 11 अप्रैल को प्रात: 7.00 बजे विशाल जुलूस महावीर पार्क से रवाना होकर लालजी सांड का रास्ता, चौड़ा रास्ता, त्रिपोलिया बाजार, जौहरी बाजार, सांगानेरी गेट व एम.आई. रोड होता हुआ रामलीला मैदान पहुँचकर धर्मसभा में परिवर्तित हुआ। शोभा यात्रा में विभिन्न महिला मण्डलों, जैन सोशल ग्रुप, दिगम्बर जैन सोशल ग्रुप, युवा मण्डलों, शिक्षण संस्थाओं के बच्चों एवं समाज की अन्य संस्थाओं द्वारा जैन सिद्धान्तों पर आधारित झाँकियाँ निकाली गई। शोभा यात्रा में हाथी, घोड़े, विभिन्न बैण्ड, रथ व महिला मण्डलों की सदस्याएँ, शिक्षण संस्थाओं के बच्चे अपने गणवेश में चल रहे थे। विभिन्न भजन मण्डलियाँ भजन गाते हुए पूरे वातावरण को महावीरमय बनाये हुई थी। पूरे मार्ग में जगह-जगह शोभा यात्रा का स्वागत किया जा रहा था। शोभा यात्रा के प्रमुख संयोजक श्री अरुण कोड़ीवाल, श्री योगेश टोडरका व श्रीमती कुसुम बज थे, जिन्होंने बहुत ही सुन्दर ढंग से जुलूस को संजोया। इस कार्य में उनके सहयोगी रहे श्री राजकुमार बरड़िया, श्रीमती शीला डोड्या, श्री निर्मल गोधा, श्री अशोक लुहाड़िया, श्री सुरेन्द्र बज, श्री प्रदीप जैन, श्रीमती कुसुम बज, श्री कैलाश गोधा, श्री अनिल जैन (आर.पी.एस), श्री नवीनसेन जैन, श्री प्रदीप जैन, श्री राजेन्द्र लुहाड़िया, श्री महेन्द्र शाह, श्री विजय सोगाणी, श्री शांतीकुमार गोधा, श्री कैलाशचन्द गोधा, श्री निर्मल गोधा, श्री मृदुला पाण्ड्या, श्री सुरेश बज, श्री अशोक लुहाड़िया, श्रीमती शीला गोधा, श्रीमती कल्पना जैन, श्री राजकुमार बड़जात्या, श्री वसन्त बाकलीवाल, श्री प्रेमचन्द छाबड़ा (फेशनहट)।

लड्डू वितरण :

महावीर जयन्ती की शोभा यात्रा में भाग लेने वाले स्कूल के छात्र-छात्राओं एवं मण्डलों को श्री निर्मल कुमार पाटनी बापू नगर व कासलीवाल परिवार के सहयोग से लड्डू वितरण किये गये।

झाँकियों एवं मण्डल-मण्डलियों में निम्न संस्थाओं ने प्रथम, द्वितीय व तृतीय स्थान प्राप्त किया

झाँकियों में :

आदर्श नगर जैन सभा	प्रथम
श्याम नगर जैन समाज	द्वितीय
दिगम्बर जैन सोशल ग्रुप राज. रीजन	द्वितीय
अम्बाबाड़ी जैन समाज	तृतीय
दि. जैन महावीर स्कूल, सी स्कीम	तृतीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भजन मण्डल :

दिगम्बर जैन महिला मण्डल, जौहरी बाजार, जयपुर	प्रथम
स्नेह वनिता संघ	द्वितीय
दिगम्बर जैन महिला मण्डल महावीर स्वामी मन्दिर	तृतीय
महिला जागृति संघ	तृतीय

छात्रा अनुभाग :

श्री दि. जैन महावीर बालिका विद्यालय	प्रथम
वीर बालिका स्कूल	द्वितीय
पद्मावती जैन गर्ल्स सी. सैकेण्डरी स्कूल, जयपुर	तृतीय

छात्रा अनुभाग :

श्री महावीर दि. जैन स्कूल, सी स्कीम, जयपुर	प्रथम
श्री महावीर दिगम्बर जैन पब्लिक स्कूल, सी स्कीम, जयपुर	प्रथम
श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय	द्वितीय

धर्मसभा :

आचार्य श्री विशदसागरजी महाराज ससंघ के पावन सानिध्य में प्रात: 9.30 बजे धर्मसभा का कार्यक्रम प्रारंभ हुआ। सर्वप्रथम ध्वजारोहण का कार्यक्रम माननीय श्री नानगराम जैन (रत्न व्यवसायी) के कर-कमलों द्वारा संपन्न किया गया। श्री वीर बालिका उ.मा. विद्यालय की छात्राओं द्वारा बैण्ड वादन कर झण्डे का अभिवादन किया। तत्पश्चात् पद्मावती जैन उ.मा. विद्यालय की छात्राओं द्वारा मंगलाचरण प्रस्तुत किया गया। समाज सेवी श्री उमरावमल संघी द्वारा दीप प्रज्ज्वलन किया गया। समारोह के मुख्य अतिथि माननीय श्री अशोक परनामी, महापौर जयपुर एवं अध्यक्षता माननीय राजसभा सदस्य श्री रामदास अग्रवाल ने की। विशिष्ट अतिथि माननीय श्री सोहनलाल सेठी थे।

महावीर जयन्ती स्मारिका का विमोचन :

महावीर जयन्ती समारोह की धर्मसभा में माननीय श्री रामदास अग्रवाल सांसद द्वारा स्मारिका के 43वें अंक का विमोचन किया गया। डॉ. प्रेमचन्द्र रांवका स्मारिका के प्रधान सम्पादक थे एवं परामर्शदाता श्री ज्ञानचन्द बिल्टीवाला सम्पादक मण्डल में डॉ. पी.सी. जैन एवं श्री महेशचन्द चांदवाड़ थे। श्री जयकुमार गोधा स्मारिका के प्रबन्ध सम्पादक थे एवं प्रबन्ध मण्डल में श्री सुरेशचन्द्र बज एवं श्री निर्मल कासलीवाल थे। इसी अवसर पर महावीर जयन्ती विशेषांक के रूप में निकाली जानेवाली विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का विमोचन भी उनके सम्पादकों द्वारा करवाया गया।

रक्तदान शिविर :

महावीर जयन्ती के अवसर पर पूर्व विधानसभा में विपक्ष के नेता श्री बी.डी. कल्ला द्वारा रक्तदान स्टीकर का विमोचन करवाया गया। उसी क्रम में महावीर जयन्ती के शुभदिवस पर रामलीला मैदान में विशाल रक्तदान शिविर का आयोजन किया गया। रक्तदान का उद्घाटन श्री रामधन राजेशकुमार सिविर ज्वैलर्स वाले ने 8.00 बजे किया। सवाई मानसिंह चिकित्सालय, स्वास्थ्य कल्याण बैंक एवं सन्तोकबा दुर्लभजी ब्लड बैंक, जयपुर के सहयोग से यह शिविर लगाया गया। जिसमें करीब 260 व्यक्तियों द्वारा रक्तदान किया गया। रक्तदान हेतु स्वेच्छिक रक्तदान का पंजीयन भी किया गया। संख्यागत एक वर्ष में सर्वाधिक रक्तदान करने हेतु स्व. विद्याविनोदजी काला की स्मृति में संस्थाओं के द्वारा सर्वाधिक रक्तदान देने के लिए भास्कर मल्टीनेट लिमिटेड, भास्कर ग्रुप को एवं एक दिन में सर्वाधिक रक्तदान हेतु डॉ. श्रीमती प्रभा गोधा चल बैजयन्ती, जयपुर इंजीनियरिंग कॉलेज एण्ड रिसर्च सेन्टर सीतापुरा को प्रदान की गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्तदान के परामर्शक थे डॉ. विनय सोनी, डॉ. निर्मल जैन, डॉ. सुभाष काला, डॉ. प्रभा लुहाड़िया, डॉ. ज्ञानचन्द सोगानी, डॉ. दिलीप जैन। श्री मनोज पापड़ीवाल रक्तदान शिविर के संयोजक थे जिन्होंने इस कार्य हेतु सभी व्यवस्थाएँ अपने स्तर पर पूर्ण की। उनके इस कार्य में सहयोगी रहे श्री निर्मल गोधा, श्री सौभागमल जैन, श्री महावीर सुरेन्द्र जैन, श्री अंशुल पाटनी व श्री अरिकेत जैन।

सांस्कृतिक कार्यक्रम :

दिनांक 11 अप्रैल 06 को सायंकाल 8.00 बजे महिला जागृति संघ द्वारा नाटक प्रस्तुत किया गया। इसके संयोजक श्रीमती स्नेहलता शाह एवं श्री महावीर कुमार बिन्दायका थे। नाटक की मनोहारी प्रस्तुति रही।

उक्त सभी कार्यक्रमों की सामान्य व्यवस्था के संयोजक श्री शान्तिकुमार गोधा थे, जिन्होंने सुव्यस्थित तरीके से सभी व्यवस्थाएँ पूरी कीं।

वीर शासन जयन्ती :

11 जुलाई 2006 को चाकसू के मन्दिर में वीर शासन जयन्ती मनायी गई, जिसके मुख्य अतिथि डॉ.पी.सी. जैन गाँधीनगर थे। डॉ. शीतलचन्द जैन एवं श्री बुद्धिप्रकाश भास्कर ने वीरशासन जयन्ती के संबंध में सभा को संबोधित किया।

अन्य धार्मिक समारोह :

सम्मान समारोह :

राजस्थान जैन सभा द्वारा दिनांक 25 नवम्बर 2006 को सायं 7.00 बजे भट्टारकजी नसियां स्थित कुन्दकुन्द सभागार महावीर जयन्ती समारोह में सहयोग देने वाली सम्माननीय संस्थाओं एवं व्यक्तियों का सम्मान किया गया। जिसके संयोजक थे श्री शान्तिकुमार गोधा। समारोह के मुख्य अतिथि थे माननीय श्री महावीरप्रसाद जैन मुख्य सचेतक राजस्थान एवं अध्यक्ष श्री विवेक काला, राष्ट्रीय अध्यक्ष दि. जैन महासमिति थे। इस अवसर पर स्टीकर का विमोचन भी किया गया।

दशलक्षण पर्व समारोह :

सदैव की भाँति इस वर्ष भी दिनांक 28 अगस्त से 6 सितम्बर 2006 तक श्री दि. जैन मन्दिर बड़ा दीवानजी के परिसर में सभा द्वारा दशलक्षण धर्म समारोह पूर्वक मनाया गया। प्रतिदिन पण्डित महेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा सोलहकारण भावना पर प्रवचन, विभिन्न संस्थाओं द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रमों की प्रस्तुति एवं आध्यात्मिक प्रवक्ता पण्डित पीयूष शास्त्री, जयपुर द्वारा दशधर्मों पर प्रवचन दिया गया। प्रवचन के पश्चात् प्रश्नमंच का कार्यक्रम भी होता था। दसवीं से लेकर स्नातकोत्तर परीक्षाओं में प्रथम दस में स्थान एवं 80 प्रतिशत से अधिक अंक प्राप्तकर्ताओं का सम्मान भी किया गया। राज्यस्तरीय प्रशासकीय सेवाओं सी.एस., सी.ए. व समकक्ष डिग्रीधारियों का सम्मान भी किया गया। कार्यक्रम के संयोजक थे श्री मनोज पापड़ीवाल व श्री योगेश टोडरका।

सामूहिक क्षमापन पर्व :

दिनांक 9 सितम्बर 2006 को रामलीला मैदान में 108 आचार्य श्री निर्भयसागरजी, 108 मुनि श्री सिद्धसेनसागरजी, 105 क्षुल्लक श्री धवलसागरजी महाराज के पावन सानिध्य में क्षमापन पर्व का आयोजन किया गया, जिसमें 10 दिन एवं उससे अधिक दिवस तक उपवास करने वाले व्यक्तियों का सम्मान किया गया। माननीय श्री एन.के. जैन कुलपति राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा अध्यक्षता की गई। दीप प्रज्वलन श्री राकेश जैन नेकीवाला ने किया एवं विशिष्ट अतिथि श्री विमल कुमार पाण्ड्या, श्री दीनदयाल पाटनी व श्री राजेन्द्र के. गोधा थे। समारोह के अन्त में खोपरा-मिश्री का वितरण हुआ।

महावीर निर्वाण महोत्सव :

दिनांक 21 अक्टूबर 2006 को भट्टारकजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की नसियां के तोतूका सभागार में सभा द्वारा भगवान महावीर के 2533वे निर्वाण कल्याण महोत्सव के अवसर पर पूजन एवं सामूहिक लाडू चढ़ाने का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। इस कार्यक्रम के संयोजक श्री शांतिकुमार गोधा थे।

कुरीतियों के निवारण हेतु समाज की सभा :

समाज की प्रतिनिधि संस्थाओं के प्रतिनिधिगणों एवं प्रमुख महानुभावों की उपस्थिति सभा कार्यालय चाकसू के मन्दिर में मीटिंग रखी गई, जिसमें सभी वक्ताओं ने शादी-विवाहों में 20 से अधिक व्यंजन न बनाये जावें; दिन में फेरे कराने व फिजूलखर्ची पर अंकुश लगाने पर जोर दिया।

ऋषभदेव जयन्ती समारोह :

जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव एवं उनके पुत्र भरत जिनके नाम से भारतवर्ष देश का नाम पड़ा, उनका दो दिवसीय कार्यक्रम दिनांक 12 मार्च से 13 मार्च तक सभा द्वारा मनाया गया। दिनांक 12 मार्च को सायंकाल 7.30 बजे मोहनलाल सुखाड़िया सभागार चैम्बर भवन पर भगवान ऋषभदेव के संदर्भ में विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया, जिससे प्रमुख वक्ताओं में सर्वश्री प्रो. दयानंद भार्गव, डॉ. सुषमा सिंघवी एवं श्री दिनेश गंगवाल थे, जिन्होंने अपने-अपने विचार रखे। समारोह के मुख्य अतिथि श्री प्रकाशचन्द पाटोदी थे। विचार गोष्ठी के संयोजक थे श्री प्रकाश अजमेरा थे।

इसी क्रम में दिनांक 13 मार्च को तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्म दिवस पर मुनि श्री विनम्रसागरजी ससंघ के सान्निध्य में श्री दिगम्बर जैन मन्दिर मोहनबाड़ी की प्रबन्ध समिति के सहयोग से साजो पर भक्तामर मण्डल विधान का पूजन किया गया। जिसमें कई महानुभावों ने भाग लिया। श्रीजी के अभिषेक व माला के पश्चात् सामूहिक भोज का आयोजन किया गया। सभी व्यवस्थाओं के लिए श्री शान्तिकुमार गोधा को संयोजक बनाया गया था। विधान का कार्य पं. प्रद्युम्न कुमारजी द्वारा सम्पन्न करवाया गया।

समाजोपयोगी कार्य :

महिला उद्योग एवं सिलाई केन्द्र :

सभा द्वारा दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरापंथी के संयुक्त तत्त्वावधान में सिलाई प्रशिक्षण केन्द्र वर्ष भर चलता है, जिसमें कई महिलाओं एवं बालिकाओं को सिलाई का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। समय-समय पर केन्द्र में निर्मित वस्तुओं की प्रदर्शनी भी लगाई जाती है। इस कार्यक्रम की संयोजिका श्रीमती विमलाज पापड़ीवाल हैं।

संगीत प्रशिक्षण केन्द्र :

सभा द्वारा राष्ट्रपति से पुरस्कृत श्री अजित जैन अनुराग संगीत संस्थान के निर्देशन में दि. जैन मन्दिर बड़ा तेरापंथी पर संगीत प्रशिक्षण का कार्यक्रम वर्ष भर चलता रहता है। यहाँ पर महिलाओं एवं बालिकाओं को संगीत का प्रशिक्षण दिया जाता है। इस कार्यक्रम की संयोजक श्रीमती विमला पापड़ीवाल हैं।

होम्योपैथिक चिकित्सालय :

राजस्थान जैन सभा एवं श्री दिगम्बर जैन मन्दिर बाकलीवालान् के संयुक्त तत्त्वावधान में होम्योपैथिक चिकित्सालय वर्ष भर चलाया जाता है। जिसका जनसाधारण को लाभ मिलता है। इसके संयोजक श्री धनकुमार लुहाड़िया हैं।

सवाई मानसिंह चिकित्सालय में वार्ड नं. 3 सी को गोद :

सवाई मानसिंह चिकित्सालय में वार्ड 3 सी को सभा ने गोद ले रखा है। जिसमें इस वार्ड की आवश्यकतानुसार रख-रखाव व समान की पूर्ति सभा द्वारा की जाती है। साथ ही समय-समय पर सभा के सदस्यों एवं अन्य महानुभावों द्वारा यहाँ फल वितरण का कार्यक्रम भी चलता रहता है। इसकी व्यवस्थाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की देखरेख हेतु श्री निर्मल कासलीवाल एवं कुन्थीलाल रांवका को संयोजक बनाया गया है। सभा द्वारा समय-समय पर असहाय व्यक्तियों को दवाई उपलब्ध करवाई जाती हैं एवं चिकित्सा सेवाओं के लिए कैम्पस् का आयोजन भी किया जाता है।

मेधावी छात्रों को पी.एच.डी. के लिए छात्रवृत्ति :

सभा जैन दर्शन पर राजस्थान विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. करने वाले छात्रों में छात्रवृत्तियों के रूप में अनुदान भी प्रदान करती है। विगत वर्षों में दो छात्रों को डॉ. पी.सी. जैन की सलाह पर यह छात्रवृत्ति प्रदान की गई है। इसके अलावा स्कूलों व अन्य जैन शिक्षा के आयतनों में भी समय-समय पर स्थितियों के अनुरूप सभा सहायता प्रदान करती रहती है।

व्यक्तित्व एवं बौद्धिक विकास हेतु कार्यक्रम :

निबन्ध प्रतियोगिता :

28 जनवरी 2007 को सुबोध स्कूल, जौहरी बाजार में श्री के.सी. कटारिया चैरिटेबल ट्रस्ट बापूनगर के सौजन्य से निबन्ध प्रतियोगिता आयोजित की गई। जिसमें विभिन्न स्कूलों के 300 छात्र-छात्राओं ने भाग लिया।

चित्रकला :

दिनांक 28 फरवरी 2007 को जैन श्वेताम्बर स्कूल घीवालों के रास्ता पर हुई चित्रकला प्रतियोगिता में 350 बच्चों ने भाग लिया। श्री राजेन्द्र लुहाड़िया, श्री संजीव काला विशिष्ट अतिथि थे। संयोजक श्री विनोद जैन कोटखावदा एवं सहयोगी श्री नरेन्द्र ठोलिया थे।

वाद-विवाद प्रतियोगिता :

दिनांक 17 मार्च 2007 को दोपहर 2.00 बजे श्री महावीर दिग. जैन बालिका विद्यालय, चोरुकों का रास्ता, जयपुर में सभा द्वारा वाद-विवाद प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। इसमें विभिन्न स्कूलों के बच्चों ने भाग लिया। इस कार्यक्रम के संयोजक थे श्री विजयकुमार सोगानी। प्रतियोगिता का विषय था वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संयुक्त परिवार का औचित्य।

अन्य विविध कार्य :

आम कार्यों के अलावा समाज में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने एवं शादी-विवाह में 20 से अधिक व्यंजन न बनाने के संदर्भ में भी सभा समय-समय कार्यक्रम चलाती रहती है। साथ ही शाकाहार का प्रचार-प्रसार, गौ-हत्या पर प्रतिबंध, बाढ़ या प्राकृतिक आपदाओं में मदद, विविध अवसरों व जयन्तियों पर मांस व मदिरा की दुकानों को बंद करवाने के लिए सरकार से अनुरोध, खुले रूप से मांस की बिक्री पर रोक; पुस्तकों, कपड़ों व फलों, दवाईयों का वितरण एवं अन्य सहायता कार्यक्रमों पर भी वर्ष भर सभा कार्य करती रहती है।

प्याऊ :

सभा द्वारा इस वर्ष जोहरी बजार में श्री शान्तिकुमार गोधा पारस मेडिकल के सहयोग से प्याऊ लगाई गई, इसका नियमित संचालन श्री शांतिकुमार गोधा द्वारा किया गया।

आभार : राजस्थान जैन सभा द्वारा वर्ष भर किए जानेवाले कार्यक्रमों की एक विस्तृत श्रृंखला है जिसे पूर्ण करना किसी अकेले व्यक्ति का कार्य नहीं है। मैं उन सभी संयोजकों व सहयोगियों का जिन्होंने अपनी पूर्ण निष्ठा व लगन से कार्यक्रमों को सफल बनाया है, उनका आभारी हूँ।

कार्यकारिणी के सभी सदस्यगण जिनके मार्गदर्शन एवं सुझावों से सभी कार्य पूर्ण हुए उसका मुझे अहसास है, मैं उन सभी के प्रति आदर का भाव रखते हुए आभार व्यक्त करता हूँ। सभा के अध्यक्ष श्री महेन्द्र कुमार जैन पाटनी ने वर्ष भर मेरा मार्गदर्शन किया एवं सभी कार्य आगे होकर सम्पन्न करवाये व पुत्रवत् आशीर्वाद रखा। आपके सतत् प्रयासों समन्वय से सभा हमेशा उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर रही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हुआ आभारी हूँ। निवर्तमान अध्यक्ष श्री रतनलाल छाबड़ा, उपाध्यक्ष श्री प्रेमचन्द छाबड़ा एवं श्री कैलाश चन्द साह ने मेरा मार्गदर्शन कर सहयोग प्रदान किया। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। कोषाध्यक्ष श्री अरुण कोड़ीवाल ने आर्थिक व्यवस्थाओं को पूरा किया। मैं उनका आभारी हूँ। श्री शांति कुमार गोधा एवं प्रकाश अजमेरा संयुक्त मंत्री का उनके सहयोग के लिए आभारी हूँ। कार्यसमिति के सदस्य श्री प्रकाशचन्द ठोलिया, श्री जयकुमार गोधा, श्री भागचन्द छाबड़ा, श्री अरुण सोनी, श्री विजय कुमार सोगाणी, श्रीमती स्नेहलता शाह, श्री सुधीर बाकलीवाल, श्री कुन्थीलाल रांवका, श्री मनोज पापड़ीवाल, श्री निर्मल कासलीवाल एवं श्री मनीष बैद ने समय-समय पर अनिवार्य सभी कार्यक्रमों में सहभागिता निभाते हुए सहयोग प्रदान किया। मैं उनका भी आभारी हूँ।

सभा के विशेष आमंत्रित सदस्यों में श्री राजेन्द्र के. गोधा, श्री विवेक काला, श्री सुमेर कुमार पाण्ड्या एवं श्री गणेश कुमार राणा ने हर तरह से मेरे प्रति विश्वास का भाव रखते हुए मार्गदर्शन एवं सहयोग प्रदान किया, मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। मेरे स्नेही श्री निर्मल कुमार पाटनी, श्री सुमेर कुमार रांवका, श्री नरेन्द्र कुमार सेठी, श्री महावीर प्रसाद पहाड़िया एवं श्री पदमचन्द पाटनी ने हमेशा मेरा हौसला बनाये रखा, मैं उनका आभारी हूँ।

अन्य सहयोगियों में श्री रमेशचन्द चांदवाड़, डॉ. आभा जैन, श्री राकेश छाबड़ा, श्री धनकुमार लुहाड़िया, श्री कैलाश गोधा, श्री योगेश टोडरका, श्री महावीर बिन्दायका, श्री सरदारमल सोगाणी, श्री विनोद जैन कोटखावदा, श्रीमती विमला पापड़ीवाल, श्रीमती कुसुम बज, श्री कैलाशचन्द सोगाणी एवं श्री वीर बहादुर बज ने सभी कार्यक्रमों को सफल बनाने में सहयोग प्रदान किया, मैं सभा की ओर से सभी का आभारी हूँ।

आचार्य श्री 108 विशदसागरजी महाराज ससंघ की, व्यवस्था करने में श्री निर्मल कुमार कासलीवाल, श्री कुन्थीलाल रांवका, श्री महेन्द्र गंगवाल एवं श्री निर्मल गोधा ने अपना अपूर्व सहयोग प्रदान किया, उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

महावीर जयन्ती समारोह समिति 2006 में समाज के सभी वर्गों के महानुभावों ने सम्मिलित होकर जो अपूर्व सहयोग प्रदान किया, उसके लिए मैं उनका बहुत-बहुत आभारी हूँ।

राजस्थान जैन सभा द्वारा इस वर्ष आयोजित सभी परम्परागत महोत्सव व कार्यक्रम आशातीत रूप से सफल रहे व कार्यक्रम की कुछ नई कड़ियों का सृजन भी हुआ। जिसकी समग्र जैन समाज ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। समाज की सभी संस्थाओं व पुरुषों, महिलाओं एवं युवावर्ग का इसकी सफलता में भारी योगदान रहा है। सभा का यह वट वृक्ष 54वें वर्ष में प्रवेश कर चुका है। आपका आशीर्वाद स्नेह व शुभकामनाएँ इसके साथ चिरकाल तक जुड़ी रहे, ऐसी हम सभी की आकांक्षा है। स्वर्णिम वर्ष की सफलताएँ आगे भी नये सौपान का सृजन करे तो आइये हम सभी इसके लिए सतत् प्रयास करते रहें। पूर्व वर्ष में मेरे द्वारा किसी अनुचित व कठोरपूर्ण व्यवहार से किसी के अन्तस्थल को ठेस पहुँची हो तो मैं खेद व्यक्त करता हूँ।

भविष्य में भी आपका स्नेह व सहयोग प्राप्त होता रहे।

इसी आशा एवं विश्वास के साथ सभी को महावीर जयन्ती की शुभकामनाएँ।

– कमलबाबू जैन

मंत्री, राजस्थान जैन सभा, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ आशीर्वाद

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा सत्य है धरती और आकाश का स्थान है, उसी प्रकार भगवान महावीर और उनके सत्-सिद्धान्त भी अटल और अचल हैं; जन-जन के लिए हृदयग्राही हैं – इसी से महावीर की पहिचान विश्व के मानचित्र पर सर्वोत्तम है।

राजस्थान जैन सभा महावीर जयन्ती को उच्च स्तर पर मनाती आ रही है, साथ ही 2004 में हमारे प्रथम वर्षायोग के अवसर पर आशीर्वाद और निर्देश से वीर शासन जयन्ती मनाने का संकल्प लिया और निरन्तर उत्साह पूर्वक सम्पन कर रहे हैं। इस वर्ष 2007 में नया कदम रहा कि रथ के ऊपर श्री 1008 महावीर भगवान की मूर्ति विराजमान कर रथ यात्रा निकाली, जिससे समग्र नर-नारी दर्शन का लाभ प्राप्त कर सकें। हमारा सभी के लिए पूर्ण आशीर्वाद है। इसी प्रकार भगवान महावीर के सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए सतत् कार्यशील रहकर जिन धर्म की धारा में अवगाहन करते रहें। और जिन धर्म का ध्वज सतत् अपनी आभा बिखेरकर जन-मन को सन्तप्त करता रहे।

– आचार्य विशदसागर, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देश

सत्यमेव जयते

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि राजस्थान जैन सभा जयपुर द्वारा भगवान महावीर की पावन जयन्ती के अवसर पर गत 43 वर्षों से महावीर जयन्ती स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है। मुझे आशा है यह स्मारिका पठनीय, संग्रहणीय व प्रेरणा का स्रोत बनेगी।

भगवान महावीर ने तो प्राणी मात्र के प्रति प्रेम दया व करुणा का संदेश दिया था, हम उसी महावीर के अनुयायी हैं। एक बार पुनः हमें अपनी सोच को मजबूत करना होगा और भारतीय संस्कृति के परम मंत्र अहिंसा परमोधर्मः को गहराई से आत्मसात् करना होगा। जीव जन्तुओं की रक्षा करनी होगी। इसी को हृदयंगम कर साधु-संतों ने जीवदया को धर्म का एक प्रमुख स्तम्भ माना है।

मैं आपके प्रयासों की सराहना करते हुए प्रकाशित होने वाली स्मारिका की सफलता हेतु अपनी शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

गांधीनगर
22 मार्च,2007

नवल किशोर शर्मा
राज्यपाल, गुजरात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देश

भगवान महावीर के संदेश जियो और जीने दो के प्रचार को रेखांकित करते हुए राजस्थान जैन समाज का सौभाग्य है कि राजस्थान जैन सभा द्वारा भगवान महावीर के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में महावीर जयन्ती के उपलक्ष्य में एक स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है।

राजस्थान जैन सभा के सभी पदाधिकारी एवं कार्यकर्ता बंधुओं को मेरी ओर से हार्दिक शुभकामनाएँ एवं महावीर जयन्ती पर सभी को हार्दिक बधाई।

धन्यवाद !

(प्रदीप कुमार सिंह कासलीवाल)
राष्ट्रीय अध्यक्ष
दिगम्बर जैन सोशल ग्रुप फैडरेशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देश

मुझे जानकर बड़ा हर्ष हुआ है कि राजस्थान जैन सभा द्वारा गत कई वर्षों से महावीर जयन्ती के शुभ अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन किया जाता है।

इस स्मारिका में प्रकाशित लेखों से पाठकों को जैन धर्म और सिद्धान्तों की जानकारियाँ मिलती हैं और ज्ञान बढ़ाती हैं।

स्मारिका के इस अंक हेतु मेरी एवं परिषद की पूरी कार्यकारिणी की ओर से हार्दिक शुभकामनाएँ एवं बधाई प्रेषित हैं।

जय महावीर !

बलवन्त राय जैन
राष्ट्रीय अध्यक्ष,
अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम खण्ड

भगवान महावीर : जीवन व दर्शन

1.	चउवीस तित्थयर भक्ति	आचार्य कुन्दकुन्द	1
2.	मङ्गलाष्टक (भावानुवाद)		2
3.	आज जन्म दिन सन्मति प्रभु का	डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया	3
4.	जब बालक से विभु बने	डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया, डी.लिट्	4-5
5.	तीर्थंकर महावीर	डॉ. एस. राधाकृष्णन् (पूर्व राष्ट्रपति)	6-8
6.	महावीर का श्रावक	नीरज जैन	9-11
7.	महावीर का वीतराग दर्शन	चंचलमल चोरडिया	12-15
8.	वर्तमान में भगवान महावीर के तत्त्व-चिंतन की सार्थकता	डॉ. नरेन्द्र भानावत	16-18
9.	केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) भगवान महावीर	डॉ. अनामिका जैन	19-20
10.	भगवान महावीर के सिद्धान्त : आज के परिवेश में	ललित कुमार जैन	21-22
11.	भगवान महावीर प्रभु का तीसरा भव मरीचि के रूप में	राजमल सिंघवी	23-24
12.	भगवान महावीर और उनका जीवन दर्शन	ज्ञानचन्द रांवका	25-26
13.	भगवान महावीर के विचार : विश्वशान्ति के व्यवहार	डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन	27-30
14.	भगवान महावीर का जीवन घटना प्रदान क्यों नहीं ?	डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	31-34
15.	भगवान महावीर की साधना	डॉ. दयानन्द भार्गव	35-36
16.	विश्व शान्ति के प्रेरक भगवान महावीर	श्रीमती चन्द्रकान्ता छाबड़ा	37
17.	भगवान महावीर का सर्वोदय तीर्थ और श्रावकाचरण	प्रवीण चन्द्र छाबड़ा	38-39
18.	महावीर नमन	श्रीमती कोकिला जैन	40

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चउवीस तित्थयर भत्ति

❑ आचार्य कुन्दकुन्द

थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महाप्पण्णे ।।१।।

मैं अनन्त जिनेन्द्रों, तीर्थंकरों और केवलियों की स्तुति करता हूँ। वे सभी माहात्म्य को प्राप्त, रज-मल-विधूत (रहित) और प्रमुख मानवों से लोक में पूजित हैं अथवा मानवों में प्रमुख और लोक-पूज्य हैं।

लोयस्सुज्जोयकरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो ।।२।।

लोक को (उपदेश द्वारा) प्रकाशित करनेवाले, धर्मरूपी तीर्थ के कर्त्ता अरहंत जिनों को मैं नमस्कार करता हूँ तथा चौबीस केवली तीर्थंकर का मैं कीर्तन करता हूँ।

उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ।।३।।

मैं ऋषभ और अजित जिन की वन्दना करता हूँ; संभव, अभिनन्दन और सुमति की वन्दना करता हूँ; पद्मप्रभ, सुपार्श्व और चन्द्रप्रभ को वन्दन करता हूँ।

सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयलं सेयंसं च वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि ।।४।।

सुविधि (पुष्पदंत) शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति की वन्दना करता हूँ।

कुंथुं च जिणवरिंदं, अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं।
वंदे अरिट्ठणेमिं तह पासं वड्ढमाणं च ।।५।।

जिनवर कुन्थु, अर (नाथ), मल्लि (नाथ), सुव्रत (मुनिसुव्रतनाथ), नमि (नाथ), अरिष्टनेमि (नेमिनाथ), पार्श्व तथा वर्धमान (महावीर) की वन्दना करता हूँ।

एवं मए अभिथुया विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं वि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ।।६।।

इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुति किये गये, कर्म-रजमल से रहित, जरा-मरण से रहित जिनवर चौबीस तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों।

कित्तिय वंदिय महिया आ लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं ।।७।।

जो मेरे द्वारा (लोकों द्वारा भी) वचन से कीर्तित, पूजित और वंदित हैं, जो लोक में उत्तम हैं तथा कृतकृत्य हैं, वे जिन मुझे आरोग्यलाभ, ज्ञानलाभ, समाधि और बोधि प्रदान करें।

चंदेहिं णिम्मलयरा आइच्चेहिं अहियं पहासंता।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।।८।।

चन्द्र से अधिक निर्मल, सूर्य से अधिक प्रभावान, सागर के समान गम्भीर सिद्ध (आत्म-कार्य सिद्ध होने से अरहंत भी सिद्ध हैं), मुझे (लौकिक और आत्मिक दोनों) सिद्धि प्रदान करें। ❑

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मङ्गलाष्टक (भाषानुवाद)

अणिमादि अनेक ऋद्धियों से युक्त तथा नमन करते हुये सुरेन्द्रों और असुरेन्द्रों के मुकुटों में लगे हुये कान्ति युक्त रत्नों की प्रभा से जिनके चरणों के नख रूपी चन्द्र भासमान हो रहे हैं, जो प्रवचन रूपी वारिधि को वृद्धिंगत करने के लिये चन्द्रमा के समान हैं, जो सदा अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं और जिनकी योगीजन स्तुति करते हैं, वे अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु सब का मंगल करें ॥१॥

निर्दोष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह पवित्र रत्नत्रय है। श्री सम्पन्न मुक्ति नगर के स्वामी भगवान जिनदेव ने इसे अपवर्ग को देने वाला धर्म कहा है। इस प्रकार जो यह तीन प्रकार का धर्म कहा गया है वह तथा इसके साथ सूक्ति सुधा, समस्त जिन प्रतिमा और लक्ष्मी का आकार भूत जिनालय मिलकर चार प्रकार का धर्म कहा गया है – वह मंगल करे॥२॥

तीन लोकों में विख्यात जो नाभेय आदि चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, अनेक प्रकार की विभूति से युक्त जो भरत आदि बारह चक्रवर्ती हुए हैं, जो सत्ताइस – नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र हुये हैं, वे तीनों कालों में प्रसिद्ध त्रेसठ महापुरुष सकल का मंगल करें॥३॥

जयादिक आठ देवियाँ, सोलह विद्या देवता, तीर्थंकरों की चौबीस माताएँ और चौबीस पिता तथा उनके चौबीस यक्ष और चौबीस यक्षिणी, बत्तीस इन्द्र, तिथि देवता, आठ दिक्कन्यायें और दस दिक्पाल ये सब देवगण आप सब का मंगल करें॥४॥

जो उत्तम तप से वृद्धि को प्राप्त हुई पंच सर्वोषधि ऋद्धियों के स्वामी हैं, जो अष्टांग महा निमित्तों में कुशल हैं, आठ चारण ऋद्धियों के धारी हैं, पांच प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न हैं, तीन प्रकार के बल से युक्त हैं और बुद्धि आदि सात प्रकार की ऋद्धियों के अधिपति हैं, वे जगत्पूज्य गणधर देव सबका मंगल करें॥५॥

ऋषभ जिन की कैलाश, वीर जिन की पावापुर, वासुपूज्य की चम्पा, नेमीश्वर की ऊर्जयन्त और शेष जिनों की सम्मेद शिखर निर्माण भूमियाँ हैं। विभव सम्पन्न वे निर्वाण भूमियाँ मंगल करें॥६॥

ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी और वैमानिकों के निवास-स्थान में तथा मेरु कुलाचल, जम्बूवृक्ष, शाल्मलीवृक्ष, चैत्यवृक्ष, वक्षारगिरि, विजयार्धगिरि, इक्ष्वाकारगिरि, कुण्डलगिरि, नन्दीश्वरद्वीप और मानुषोत्तर पर्वत पर स्थित जिन चैत्यालय आपका मंगल करें॥७॥

देवों ने समस्त तीर्थंकरों के जो गर्भावतार महोत्सव, जन्माभिषेक महोत्सव, परिनिष्क्रमण उत्सव, केवलज्ञान महोत्सव और निर्वाण महोत्सव किये, वे पञ्चकल्याणक सकल का निरन्तर मंगल करें॥८॥

इस प्रकार तीर्थंकरों के पाँच कल्याणक महोत्सवों के समय तथा प्रातःकाल जो बुद्धिमान हर्षपूर्वक सौभाग्य और सम्पत्ति को देने वाले इस जिन-मंगलाष्टक को सुनते हैं और पढ़ते हैं, वे सज्जन पुरुष धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ से युक्त लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं और अन्त में अपाय रहित मोक्ष लक्ष्मी को भी प्राप्त करते हैं॥९॥

मनोरथाः सन्तु मनोज्ञ-सम्पदः,
सत्कीर्तयः सम्प्रति सम्भवन्तु।
व्रजन्तु विघ्नानि धनं बलिष्ठं,
जिनेश्वरश्रीपद पूजनाद्वः॥

श्री जिनेन्द्र देव के चरणों के अर्चन से आप सब के मनोरथ सिद्ध हों, मनवांछित सम्पत्ति, धन, यश प्राप्त हों तथा समस्त विघ्न दूर हों। ❐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज जन्म दिन सन्मति प्रभु का...

❑ विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया

आज जन्म दिन सन्मति प्रभु का, घर-घर में गूँजे शहनाई।

अवनी से अम्बर तक हरषे,
विवुध-लोक से अमृत बरसे,
राजमहल भर गया मोद से, कुण्डग्राम में बजे बधाई।
आज जन्म दिन सन्मति प्रभु का, घर-घर में गूँजे शहनाई॥१॥

अग-जग सारा हो उठा मुखर,
किन्नरियाँ अब गा रहीं मधुर,
परियाँ अद्भुत नाच रहीं हैं, मंजीरों की ध्वनि गहराई।
आज जन्म दिन सन्मति प्रभु का, घर-घर में गूँजे शहनाई॥२॥

जागा आपस में सदाचार,
मन में सबके हों सद्विचार,
सब द्वेष-द्वन्द्व मिट चले त्वरत्, हो गये सभी भाई-भाई।
आज जन्म दिन सन्मति प्रभु का, घर-घर में गूँजे शहनाई॥३॥

सब अहंकार गज से उतरें,
जब अंतर में समता पसरे,
सब कपट-दिखावा बिनस चले, जब वही आर्जवी पुरवाई।
आज जन्म दिन सन्मति प्रभु का, घर-घर में गूँजे शहनाई॥४॥

संयम से सधता है जीवन,
निर्मल हो जाये अन्तर्मन,
निर्मल मन ही धर्म हमारा, हरता हरदय पीर-पराई।
आज जन्म दिन सन्मति प्रभु का, घर-घर में गूँजे शहनाई।।५॥

❑ मंगल कलश, सर्वोदय नगर, अलीगढ़ (उ.प्र.) २०२००१

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये, महाऽर्णवे पर्वत मस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि॥

वन में, रण में, शत्रुओं में, जल में, अग्नि में, समुद्र में और पर्वत की चोटी पर असावधान और विषम अवस्था में पुरुष की रक्षा पूर्व जन्म के पुण्य ही करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब बालक से विभु बने

❑ विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया, डी.लिट्

जनम-मरण मिलकर प्राणी को संसारी बनाते हैं। संसार उसके सुख-दुख भोगने की प्रयोगशाला है। अपने कर्मानुसार वह यहाँ अपनी आयुष्य अवधि भोगने आता है। जन्म लेकर वह कर्म करने लगता है। गृहीत और अगृहीत कर्मोदय होने पर वह सुख-दुख भोगता है। सुख और दुख स्वभाव से स्वाभिमानी होते हैं। किसी प्राणी के पास वे बिना बुलाये कभी नहीं आते हैं। प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कर्मों के माध्यम से सुख और दुख बुलाता है। इस रहस्य को सामान्यत: वह नहीं जानता। भगवान महावीर ने इस रहस्य का उजागरण किया था।

सोलह कारण भावनाओं को चिन्तवन करते-करते उन्हें तीर्थंकर कर्म बँध गया था। महारानी त्रिशला की कुक्षि में जब उन्होंने प्रवेश किया, उससे पूर्व ही लोक में रतनन की वृष्टि होने लगी थी। दुकाल-सुकाल में परिणत हो उठा था। प्राणियों के सारे संताप प्राय: सान्त हो गये। तीर्थंकर जीवन की पाँच घटनाओं – गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष घटा करती हैं। इनसे लोक के प्राणियों का कल्याण होता है, अत: यहाँ इन्हें कल्याणक कहा जाता है।

भगवान महावीर का जन्म कल्याणक बड़ी धूमधाम से मनाया गया। कुण्डग्राम गर्वित हो उठा। राजमहल में मंजीरे बजने लगे और बधाये गाये जाने लगे। राज्य में राजकीय उपहार बाटे गये। निरीह निहाल हो उठे। विवुध शिरोमणि देवेन्द्र बालक विभु को नहान हेतु पाण्डुक शिला पर ले गये। सहस्र अठोतर कलशों से उनका नहान हुआ। प्रभावंत बालक रूप विभु निष्कम्प नहाते रहे और शची जब उनका पोछन करती है, तो जब बार-बार पोछने पर भी कपोल प्रदेश से जल बिन्दु पुछने का नाम नहीं लेता, तो वह साश्चर्य हैरान हो जाती है। शची को हैरान देखकर देवेन्द्र पूछते हैं। पास आकर वे विभु को पेखते और कपोल प्रदेश को परखते हैं। देवेन्द्र शची से कहते हैं – आप नहीं जानती, आपके नाक के आभूषण में जो मोती जड़ा हुआ है, उसका प्रतिबिम्ब प्रभु के निर्मल कपोल प्रदेश पर पड़ता है। दरअसल वह मोती नग का प्रतिबिम्ब है, जल बिन्दु नहीं।

शची एक तरफ हटीं कि जल बिन्दु भी हट गया। कंचन सी काया है बालक वर्द्धमान की। कंचन सी काया में यह सब संभव है।

प्रभु वर्द्धमान के पंच नामों की महिमा को पुराणों ने बार-बार गाया और दुहराया है। वर्द्धमान, सन्मति, वीर, अतिवीर और महावीर संज्ञायें सार्थक सिद्ध और प्रसिद्ध होती गयीं।

महावीर के वचन, तप और संयम-साधना से अनुप्राणित होने से प्रवचन बन गये। वचन जब प्रवचन बन जाते हैं, तब बौद्धिक प्रदूषण समाप्त हो जाता है। भगवान महावीर के व्यवहार कार्य प्रदूषण हर्ता हैं।

महावीर के यथायोग्य तप-संयम साधना करते सभी कल्याणक संपन्न होने लगे। ज्ञान कल्याणक संपन्न होने पर स्थान-स्थान पर समवशरण सभाओं के आयोजन किये गये। मानस्तम्भ की रचना सारे मान समाप्त करने का अमोघ उपाय है। वेदज्ञ गौतम अपने अनेक शिष्यों के साथ वहाँ पहुँचते हैं। वे तीर्थंकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर की खिरती वाणी के बीच अनेक प्रश्न कर अपना वैदुष्य प्रमाणित करना चाहते हैं। सभा में वे ज्यों ही प्रवेश करते हैं, उन्हें सामने ही मानस्तम्भ के दर्शन हो जाते हैं और उनके दर्शन करते ही इनके सारे विरोध अनुरोध में बदल गये। वे आगे बढ़ते प्रभु महावीर के चरणों में विनत होकर गौतम गणधर की पदवी से अलंकृत किये जाते हैं। उनकी निरक्षरी खिरती वाणी को समझने की सामर्थ्य रखने वाले गौतम ने उसे सरल शब्दावलि में व्याख्यायित किया।

तीर्थंकर लोक कल्याणार्थ तीर्थ की स्थापना करते हैं। तीर्थ का अभिप्राय है – भवसागर से पार उतरने के लिए वह तट अथवा किनारा विशेष। यहीं से साधक भवसागर पार उतरने का प्रयास करता है। तीर्थंकर की दिव्य देशना सुनकर भले प्राणी अपना कल्याण करते हैं। व्यक्ति उदय और वर्गोदय के साथ-साथ भगवान वर्द्धमान सर्वोदय की व्यवस्था करते हैं।

गृहस्थ और साधक के रूप में समाज को दो भागों में विभक्त किया गया। गृहस्थ के लिए षट् आवश्यकों के नित्य और निरन्तर पालने को निर्देश दिया गया। देव-दर्शन, गुरु-वंदना, तप, संयम, स्वाध्याय और दान षट् आवश्यकों के पालने से जीवन मूर्च्छा मुक्त हो जाता है। त्रेपन नैत्यिक पालने की क्रियायें गृहस्थ को श्रावक पद पर प्रोन्नत कर देती हैं।

छटवीं से लेकर ग्यारह प्रतिमाओं के पालन करने पर श्रावक वर्णी, क्षुल्लक, ऐलक तथा आर्यिका बनकर आत्म-साधना में प्रवृत्त होते हैं। इसके उपरान्त साधक साधु, उपाध्याय, आचार्य पद को प्राप्त करता है। चार घातिया कर्मों को क्षयकर साधक स्वयं को अरिहंत पद पर प्रविष्ट पाता है। चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त कर क्षणभर में सिद्ध बन जाता है। ये ही पंच परमेष्ठी पद कहलाते हैं। जैन पंच परमेष्ठी की नित्य वंदना करते हैं। यहाँ व्यक्ति की अपेक्षा आत्मिक गुणों की वंदना करने का विधान है। व्यक्ति वंदना से परावलम्बन और आत्मिक गुणों की वंदना करने से स्वावलम्बन के संस्कार उत्पन्न हुआ करते हैं।

आज ऐसे ही महान सुधी साधक जिनकी साधना साधु से सिद्ध पद तक निर्बाध चलती है, के जन्म जयन्ती का संदर्भ उपलब्ध है। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को भगवान महावीर का जन्मोत्सव मनाया जाता है। इस अवसर पर मात्र जयकारे लगाने से काम नहीं चलता। काम तब पूरा होता है, जब उनके आत्मिक गुणों को देखकर अपनी बिसरी आत्मिक सत्ता को जगायें, उसे प्रयोग और उपयोग में लायें और कल्याण में प्रवृत्त होवें।

इत्यलम् ! ❐

– मंगल कलश, सर्वोदय नगर, अलीगढ़
(उ.प्र.) २०२००१, फोन नं. ०५७१-२४१०४८६

शत्रौ मित्रे पुत्रे बन्धौ, मा कुरु यत्नं विग्रह सन्धौ।
भव सम-चित्तः सर्वत्र त्वं, वांछस्यशु यदि तीर्थंकरत्वम्॥

शत्रु व मित्र में अथवा पुत्र व बंधु में तोड़-जोड़ करने का प्रयत्न मत कर।
यदि तीर्थंकर पद प्राप्त करना चाहता है, तो सर्वत्र समता भावी बन।

– सुभाषित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर महावीर

❑ डॉ. एस. राधाकृष्णन् (पूर्व राष्ट्रपति)

आत्मा प्रत्येक व्यक्ति में है, वह अगोचर है, इन्द्रियातीत है। मनुष्य इस ब्रह्माण्ड के भंवर से छिटका हुआ छींटा नहीं है। आत्मा की हैसियत से वह भौतिक और सामाजिक जगत से उभर कर ऊपर उठा है। यदि हम मानव आत्मा की अंतर्मुखता का नहीं समझ पाते, तो अपने आपको गंवा बैठते हैं।

चिन्तन का अक्ष बदला –

ईसा पूर्व ८०० से २०० के बीच के युग में मानव-इतिहास का अक्ष मानो बदल गया। इस अवधि में विश्व के चिंतन का अक्ष प्रकृति के अध्ययन से हटकर मानव जीवन के चिंतन पर आ टिका। चीन में लाओत्से और कन्फ्यूशस, भारत में उपनिषदों के ऋषि, महावीर और गौतम बुद्ध, ईरान में जरतुश्त, जूडिया में पैगम्बरों की परम्परा और यूनान में पीथागोरस, सुकरात और अफलातून – इन सबने अपना ध्यान बाह्य प्रकृति से हटाकर मनुष्य की आत्मा के अध्ययन पर केन्द्रित किया।

आत्मिक संग्रामों का महावीर –

मानव जाति के इन महापुरुषों में से एक हैं महावीर। उन्हें 'जिन' अर्थात् विजेता कहा गया है। उन्होंने राज्य और साम्राज्य नहीं जीते, अपितु आत्मा को जीता। सो उन्हें 'महावीर' कहा गया है – सांसारिक युद्धों का नहीं, अपितु आत्मिक संग्रामों का महावीर। तप, संयम, आत्मशुद्धि और विवेक की अनवरत प्रक्रिया से उन्होंने अपना उत्थान करके दिव्य पुरुष का पद प्राप्त कर लिया। उनका उदाहरण हमें भी आत्मविजय के उस आदर्श का अनुसरण करने की प्रेरणा देता है।

यह देश अपने इतिहास के आरंभ से ही इस महान आदर्श का कायल रहा है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के जमाने से आज तक के प्रतीकों, प्रतिमाओं और पवित्र अवशेषों पर दृष्टिपात करें, तो वे हमें इस परंपरा की याद दिलाते हैं कि हमारे यहाँ आदर्श मानव उसे ही माना गया है, जो आत्मा की सर्वोपरिता और भौतिकतत्त्वों पर आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता प्रस्थापित करे। यह आदर्श पिछली चार या पाँच सहस्राब्दियों से हमारे देश के धार्मिक दिगंत पर हावी रहा है।

आत्मवान बनें –

जिस महावाक्य के द्वारा विश्व उपनिषदों को जानता है, वह 'तत् त्वमसि' – तुम वह हो। इसमें आत्मा की दिव्य बनने की शक्यता का दावा किया गया है और हमें उद्‌बोधित किया गया है कि हम नष्ट किये जा सकने वाले इस शरीर को, मोड़े और बदले जा सकने वाले अपने मन को आत्मा समझने की भूल न करें। आत्मा प्रत्येक व्यक्ति में है, वह अगोचर है, इन्द्रियातीत है। मनुष्य इस ब्रह्माण्ड के भंवर से छिटका हुआ छींटा नहीं है। आत्मा की हैसियत से वह भौतिक और सामाजिक जगत से उभर कर ऊपर उठा है। यदि हम मानव आत्मा की अंतर्मुखता का नहीं समझ पाते, तो अपने आपको गंवा बैठते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हममें से अधिकांश जन सदा ही सांसारिक व्याप्तियों में निमग्न रहते हैं। हम अपने आपको स्वास्थ्य, धन, साजोसामान, जमीन, जायदाद आदि सांसारिक वस्तुओं में गंवा देते हैं। वे हम पर स्वामित्व करने लगती हैं, हमें उनके स्वामी नहीं रह जाते। ये लोग आत्मघाती हैं। उपनिषदों ने इन्हें 'आत्महनो: जना:' कहा है। इस तरह हमारे देश में हमें आत्मवान बनने को कहा गया है।

समस्त विज्ञानों में आत्मविज्ञान सर्वोपरि है – अध्यात्म विद्या विद्यानाम्। उपनिषद् हमसे कहते हैं – आत्मानं विद्धि। शंकराचार्य ने आत्मानात्मवस्तुविवेक: अर्थात् आत्मा और अनात्मा की पहचान को आत्मिक जीवन की अनिवार्य शर्त बताया है। अपनी आत्मा पर स्वामित्व से बढ़कर दूसरी चीज संसार में नहीं है। इसीलिए विभिन्न लेखक हमसे यह कहते हैं कि असली मनुष्य वह है, जो अपनी समस्त सांसारिक वस्तुएँ आत्मा की महिमा को अधिगत करने में लगा दे। उपनिषद् में एक लंबे प्रकरण में बताया गया है कि पति, पत्नी, संपत्ति सब अपनी आत्मा को अधिगत करने के अवसर मात्र हैं – आत्मनुस्त कामाय।

जो संयम द्वारा, निष्कलंक जीवन द्वारा इस स्थिति को प्राप्त कर ले, परमेष्ठी है। जो पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर ले, वह अर्हत् है। वह पुनर्जन्म की संभावना से, काल के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त है। महावीर के रूप में हमारे समक्ष ऐसे व्यक्ति का उदाहरण है, जो सांसारिक वस्तुओं को त्याग देता है, जो भौतिक बंधनों में नहीं फँसता, अपितु जो मानव आत्मा की आंतरिक महिमा को अधिगत कर लेता है।

कैसे हम इस आदर्श का अनुसरण करें ? वह मार्ग क्या है जिससे हम यह आत्म साक्षात्कार, यह आत्मजय कर सकते हैं ?

तीन महान सिद्धान्त –

हमारे धर्मग्रन्थ हमें बताते हैं कि यदि आत्मा को जानना चाहते हैं, तो हमें श्रवण, मनन, निदिध्यान का अभ्यास करना होगा। भगवद्गीता ने इसी बात को यों कहा है – 'तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।' इन्हीं तीन महान सिद्धांतों को महावीर ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के नाम से प्रतिपादित किया है।

हममें यह विश्वास होना चाहिए, यह श्रद्धा होनी चाहिए कि सांसारिक पदार्थों में श्रेष्ठतर कुछ है। कोरी श्रद्धा से, विचार विहीन अंधश्रद्धा से काम नहीं चलेगा। हममें ज्ञान होना चाहिए – मनन। श्रद्धा की निष्पत्ति को मनन – ज्ञान की निष्पत्ति में बदल देता है, किन्तु कोरा सैद्धान्तिक ज्ञान काफी नहीं है। वाक्यार्थ-ज्ञानमात्रेण न अमृतम् – शास्त्र शब्दार्थ मात्र जान लेने से अमरत्व नहीं मिल जाता। उन महान सिद्धान्तों को अपने जीव में उतारना चाहिए। चारित्र बहुत जरूरी है।

हम दर्शन, प्राणिपात या श्रवण से आरम्भ करते हैं। ज्ञान, मनन या परिप्रश्न पर पहुँचते हैं, फिर निदिध्यासन, सेवा या चारित्र पर आते हैं। जैसा कि जैन तत्त्व चिन्तकों ने बताया है, ये अनिवार्य हैं।

अहिंसा का कार्य-क्षेत्र बढ़ायें –

चारित्र यानी सदाचार के मूल तत्त्व क्या हैं ? जैन गुरु हमें विभिन्न व्रत अपनाने को कहते हैं। प्रत्येक जैन को पाँच व्रत लेने पड़ते हैं – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। सबसे महत्वपूर्ण व्रत है अहिंसा, यानी जीवों को कष्ट न पहुँचाने का व्रत। कई इस हद तक इसे ले जाते हैं कि कृषि भी छोड़ देते हैं, क्योंकि जमीन की जुताई में कई जीव कुचले जाते हैं। हिंसा से पूर्णत: विरति इस संसार में संभव नहीं है। जैसा कि महाभारत में कहा गया है – जीवो जीवस्य जीवनम्। हमसे जो आशा की जाती है, वह यह है कि अहिंसा का कार्य-क्षेत्र बढ़ायें – यत्नादल्पतरा भवेत्। हम प्रयत्न करें कि बल प्रयोग का क्षेत्र घटे, रजामंदी का क्षेत्र बढ़े। इसप्रकार अहिंसा हमारा आदर्श है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु अनेक धर्मात्मक –

यदि अहिंसा को हम अपना आदर्श मानते हैं, तो उससे एक और चीज निष्पन्न होती है, जिसे जैनों ने अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का रूप दिया है। जैन कहते हैं कि निर्भ्रांत सत्य, केवलज्ञान हमारा लक्ष्य है, परन्तु हम तो सत्य का एक अंश ही जानते हैं। वस्तु 'अनेक धर्मात्मक' है, उसके अनेक पहलू हैं, वह जटिल है। लोग उसका यह या वह पहलू ही देखते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि आंशिक है, अस्थायी है, सोपाधिक है। सत्य को वही जान सकता है, जो वासनाओं से मुक्त हो।

यह विचार हममें यह दृष्टि उपजाता है कि हम ठीक समझते हैं वह गलत भी हो सकता है। यह हमें इसका एहसास कराता है कि मानवीय अनुमान अनिश्चययुक्त होते हैं। यह हमें विश्वास दिलाता है कि हमारे गहरे से गहरे विश्वास भी परिवर्तनशील और अस्थिर हो सकते हैं।

जैन चिंतक इस बारे में छह अंधों और हाथी का दृष्टांत देते हैं। एक अंधा हाथी के कान छूकर कहता है कि हाथी सूप की तरह है। दूसरा अंधा उसके पैरों को आलिंगन करता है और कहता है कि हाथी खंभे जैसा है। मगर इनमें से हर एक असलियत का एक अंश ही बता रहा है। ये अंश एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। उनमें परस्पर वह संबंध नहीं है, जो अंधकार और प्रकाश के बीच होता है, वे परस्पर उसी तरह संबद्ध हैं। जैसे वर्णक्रम के विभिन्न रंग परस्पर संबद्ध होते हैं। उन्हें विरोधी नहीं विपर्याय मानना चाहिए। वे सत्य के वैकल्पिक पाठ्यांक (रीडिंग) हैं।

आज संसार नवजन्म की वेदना में से गुजर रहा है। हमार लक्ष्य तो 'एक विश्व' है, परन्तु एकता के बजाय विभक्तता हमारे युग का लक्षण है। द्वंद्वात्मक विश्व-व्यवस्था हमें यह सोचने को प्रलोभित करती है कि यह पक्ष सत्य है और वह पक्ष असत्य है और हमें उसका खंडन करना है। असल में हमें इन्हें विकल्प मानना चाहिए। एक ही मूलभूत सत्य के विभिन्न पहलू! सत्य के एक पक्ष पर बहुत अधिक बल देना हाथी को छूने वाले अपनी-अपनी बात का आग्रह करने के समान है।

विवेक दृष्टि अपनायें –

वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सामाजिक न्याय दोनों मानव कल्याण के लिए परमावश्यक हैं। हम एक के महत्व को बढ़ा-चढ़ा कर कहें या दूसरे को घटाकर कहें, यह हो सकता है। किन्तु जो आदमी अनेकान्तवाद, सप्तभंगीनय या स्याद्वाद के जैन विचार को मानकर चलता है वह इसप्रकार के सांस्कृतिक कठमुल्लापन को नहीं मानता। वह अपने और विरोधी मतों में क्या सही है और क्या गलत है, इसका विवेक करने और उनमें उच्चतर विवेक साधने के लिए सदा तत्पर रहता है। यही दृष्टि हमें अपनानी चाहिए।

इस तरह संयम की आवश्यकता, अहिंसा और दूसरे के दृष्टिकोण एवं विचारों के प्रति सहिष्णुता और समझ का भाव – ये उन शिक्षाओं में से कुछ हैं, जो महावीर के जीवन से हम ले सकते हैं। यदि इन चीजों को हम स्मरण रखें और हृदय में धारण करें तो हम महावीर के प्रति अपने महान ऋण का छोटा-सा अंश चुका रहे होंगे। ❐

– भगवान महावीर : आधुनिक संदर्भ से साभार

भारतीय संसद के संयुक्त अधिवेशन (दि. २३-०२-०७ को) में राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम के अभिभाषण की उदात्त भावों से भरी अन्तिम काव्य पंक्तियाँ –

सदाचारी व्यक्ति का चरित्र निश्छल होता है।
निश्छल चरित्र से घर में मेल-मिलाप रहता है।
घर में मेल-मिलाप से देश व्यवस्थित होता है।
व्यवस्थित देश से विश्वभर में शांति आती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर का श्रावक

❑ नीरज जैन

श्रावकाचारों में श्रावक की जो परिभाषा बताई गई है उसके अनुसार उसे एक नीति सम्पन्न और सब प्रकार से प्रामाणिक जीवन जीने वाला आदर्श नागरिक होना चाहिए, बारहवीं शताब्दी के महान विद्वान पण्डित आशाधरजी ने अपने ग्रन्थ में आदर्श श्रावक का जो प्रभावक शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है, उस पर एक दृष्टि डाल लेने से जैन श्रावक की सारी विशेषताएँ हमें स्पष्ट हो जायेंगी –

न्यायोपात्तधनो यजन्गुरुगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भज-
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशीः,
श्रण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्।

– पं. आशाधरजी, सागार धर्मामृत – १/११

पण्डितजी ने इस श्लोक में श्रावक को आचरण करने योग्य चौदह नियम बताये हैं जिन्हें हम जैन श्रावक के 'चौदह मूलगुण' भी कह सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि जो श्रावक इन प्रारम्भिक नियमों के प्रति सचेत रहेगा और उनकी विराधना को पाप मानकर चलेगा, वही पूज्य समन्तभद्राचार्य महाराज के 'गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो' की कसौटी पर भी खरा उतर सकता है। भगवान महावीर के हर आराधक को और हर अनुयायी को सही अर्थों में श्रावक होना चाहिए, इसलिए आइये एक बार इन नियमों को समझ लें।

१. न्यायोपात्त धनम् –

यह श्रावक का पहला नियम है। शायद यही सबसे कठिन भी होगा। श्रावक को न्यायपूर्वक अर्जित किये गये धन से ही अपनी आजीविका चलाना चाहिये। स्वामी-द्रोह, मित्र-द्रोह, विश्वासघात, चोरी, वंचना और कर-अपवंचना आदि निन्दित और वर्जित उपायों से प्राप्त धन का उपयोग उसके लिए त्याज्य बताया गया है। धर्मकार्यों में ऐसे कलंकित धन के उपयोग का तो निषेध है ही, परन्तु परिवार पालन के लिए भी उसका निषेध श्रावक का पहला नियम निरूपित करके उसके महत्व को रेखांकित किया गया है।

२. गुणगुरून् यजन –

उसे गुणों के प्रति आदर, गुणवान व्यक्तियों के प्रति सम्मान और गुरुजनों के प्रति सदा पूज्यता का भाव होना चाहिए।

३. सद्गीः –

श्रावक को मीठे और हितकर वचनों का प्रयोग करने वाला होना चाहिए। समाज में कलह और अशांति फैलाकर सामाजिक वात्सल्य को खण्डित करने वाले वचनों का प्रयोग उसे नहीं करना चाहिए।

४. अन्योन्यानुगुणं त्रिवर्गं भजन् –

धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ 'त्रिवर्ग' कहलाते हैं। श्रावक को अपनी जीवन पद्धति ऐसी बनानी चाहिए जिसके माध्यम से इन तीनों पुरुषार्थों की निर्विरोध साधना संभव हो सके।

यहाँ तात्पर्य यह है कि गृहस्थ जीवन में इतना धर्म रहे जो श्रावक के अर्थ और काम पुरुषार्थ को नियंत्रित करते हुए भी उनका विघातक या बाधक न हो।

श्रावक का अर्थ पुरुषार्थ। ऐसी मर्यादाओं से नियंत्रित होना चाहिए, जिससे उसके धर्म की हानि न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो और साथ ही गृहस्थ की धार्मिक व सामाजिक मर्यादाओं के भीतर उसका काम पुरुषार्थ भी सिद्ध होता रहे।

काम पुरुषार्थ का अर्थ केवल कामाभिलाषा या इन्द्रियों के विषय भोग मात्र नहीं हैं। काम का फलक विशाल है। कामना, इच्छा, अभिलाषा, वांछा आदि सभी प्रकार की आस-अभिलाष 'काम' के अंतर्गत ही आती हैं। श्रावक की कामनाएँ ऐसी और इतनी ही हों, जो उसके धर्म को खण्डित न करें और अर्थ-व्यवस्था के भी अनुकूल हों। आय से अधिक व्यय की आदत या चाह ही मनुष्य के जीवन में सारे अनर्थों की जड़ बनती है।

५. तदर्हगृहिणी स्थानालयो –

अच्छे कुल-शील वाली स्नेहमयी पत्नी, सदाचारी सभ्य जनों की संगति या सत्समागम और ऐसी ही अनुकूलताओं से युक्त निवास-स्थान, ये सारे संयोग श्रावक को त्रिवर्ग की निर्दोष साधना में बाह्य कारण बनते हैं। जिसे ये तीनों अनुकूलताएँ प्राप्त हैं, वह गृहस्थ भाग्यशाली है।

६. ह्रीमय: –

श्रावक को लज्जाशील होना चाहिए। लज्जा केवल स्त्रियों का आभूषण नहीं, वह पुरुषों का भी अनिवार्य गुण है। वास्तव में गृहस्थ को पाप वृत्तियों से और लोकनिंद्य कार्यों से बचाये रखने में लोकलाज का बड़ा हाथ होता है। लोकनिन्दा का भय न हो तो मनुष्य को राक्षस बनते देर नहीं लगती। पथभ्रष्ट होते हुए व्यक्ति के धर्म और व्रत उसे प्रत्यक्ष रूप से तत्काल कोई दण्ड नहीं देते, परन्तु लोकलाज तात्कालिक भय दिखाकर उसे पाप से बचाने में सहायक होती है, इसलिए यहाँ पण्डितजी ने लज्जा को भी श्रावक का गुण बताया है।

७. युक्ताहारविहार – स्वास्थ्य के अनुकूल तथा शरीर में मल वृद्धि, रोग वृद्धि और प्रमाद वृद्धि जिससे न होती हो, ऐसे संतुलित और भक्ष्याभक्ष्य के विवेक से निश्चित किये गये परिमित आहार और धर्मानुसार आचरण तथा संचरण का नियम यहाँ 'युक्ताहारविहार' के द्वारा कहा गया है। भोजन शुद्धि के बिना मन:शुद्धि संभव नहीं और अमर्यादित आवागमन के रहते व्रतादि का निर्वाह संभव नहीं, इसलिए श्रावक के यह गुण होना आवश्यक है।

८. आर्यसमिति: –

संत-समागम और सत्संगति को 'आर्यसमिति' कहा गया है। सज्जनों की संगति से मनुष्य में सद्गुणों का विकास होता है और दुष्प्रवृत्ति वाले नीच लोगों की संगति में रहने से वैसी ही प्रवृत्ति बनती रहती है। आर्यसमिति सदाचार के निर्माण में और त्रिवर्ग की सिद्धि में सहायक बनती है।

९. प्राज्ञ: –

हेय-उपादेय का विचार और आत्म-निरीक्षण 'प्राज्ञ' का अभिप्राय है। श्रावक को सदा यह विचार करते रहना चाहिए कि मेरी प्रवृत्ति जैसी हो रही है, उसका फल क्या है ? जो मैं करने जा रहा हूँ वह उचित है या नहीं ? मेरे लिए करणीय है या अकरणीय ? उससे राज्य के नियमों का उल्लंघन तो नहीं हो रहा ? उससे किसी के स्वत्व का हरण या किसी की हिंसा तो नहीं हो रही ? वे कार्य स्वहित और परहित में कहाँ तक कारण बन सकेंगे ? और मैंने आज जो किया है, वह मेरे लिए कहाँ तक योग्य था ? उसका फल तो मुझे ही भोगना होगा। निरन्तर ऐसा चिन्तन गृहस्थ को 'श्रावक' बनाये रखने में सहायक होता है।

१०. कृतज्ञ: –

जीवन में कृतघ्नता से बचते रहना और उपकारी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते रहना इस नियम का आशय है। कृतज्ञता मन को निर्मल बनाती है और वात्सल्य तथा प्रभावना आदि गुणों में सहायक होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. वशी –

पंच इन्द्रियों की चपलता पर तथा अंतरंग में उठती क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों की तरंगों पर सतत दृष्टि रखना और उन्हें नियंत्रित करते रहना यानी अपने मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों को अपने वश में रखना इस गुण की परिभाषा है। यह गुण अन्य अनेक गुणों के विकास में सहायक होता है।

१२. श्रण्वन् धर्म विधिम् –

धर्म उपार्जन के कारणों को 'धर्म विधि' कहा है। जिन कारणों से धर्म की वृद्धि होती है – ऐसे व्रत, अनुष्ठान, साधना, तपस्या आदि की चर्चा करना अथवा संसार, शरीर और भोगों में आसक्ति घटाकर मन में विरक्ति उपजाने वाले प्रसंगों के सुनने में रुचि रखना, बार-बार वैसे संयोग जुटाने का प्रयास करते रहना और ऐसे प्रसंगों का प्रसार करना 'श्रण्वन् धर्म विधिं' के अंतर्गत् प्रस्तुत किया गया है। इससे साधक के दोनों लोक सुधरते हैं।

१३. दयालु –

'धर्मस्य मूलं दया' तथा 'जियो और जीने दो' आदि सूत्र वाक्यों के द्वारा जैन श्रावक के लिए दया को उत्कृष्ट गुण के रूप में व्याख्यापित किया गया है। साधक को दयालु होना ही चाहिए। दया से ही परिणामों में वह कोमलता संभव है, जिसमें धर्म का अंकुरारोपण होता है।

१४. अघभी –

वैसे तो सम्यग्दृष्टि जीव को सात प्रकार के भयों से रहित, निर्भीक होना चाहिए, परन्तु उसे किसी से डरना भी आवश्यक है। यहाँ शास्त्रकार ने 'अघभी' कहकर पाप से भय को श्रावक का चौदहवाँ गुण कहा है। जब तक जीव पाप से और पाप के फल से डरेगा नहीं, तब तक पुण्य के कार्य उसके जीवन में नहीं आ सकते और जब तक पुण्य के कार्यों को तात्कालिक उपादेय मानकर उनमें संलग्नता नहीं होगी, तब तक जीवन में धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता।

इस प्रकार इन चौदह गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति ही महावीर का श्रावक कहलाने का अधिकारी कहा जाने योग्य है। ये न्यूनतम अर्हताएँ हैं जो बिना कोई व्रत धारण किये भी श्रावक जीवन में अनिवार्यतः विद्यमान होनी चाहिए। ❐

– शांति सदन, कंपनी बाग, सतना (म.प्र.)

सा भार्या या प्रियं ब्रूते, स पुत्रो यत्र निर्वृत्तिः।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः, स देशो यत्र जीव्यते॥

पत्नी वही है, जो मीठा बोलती है। पुत्र वही है, जिससे शान्ति प्राप्त हो। मित्र वही है, जिस पर विश्वास किया जा सके और अपना देश वही है, जहाँ सुखपूर्वक जिया जा सके।

– शान्ति पर्व, महाभारत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर का वीतराग दर्शन

❑ चंचलमल चोरडिया

महावीर का दर्शन पूर्णतः वैज्ञानिक –

इस संसार में समय-समय पर अनेक महापुरुष हो चुके हैं, जिन्होंने पीड़ित मानव को सन्मार्ग पर लगाने का प्रयास किया। प्रायः सभी धर्म-प्रवर्तक अपनी-अपनी विशिष्टताओं से अलंकृत रहे। उन्होंने देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुरूप अपनी-अपनी प्रज्ञा के अनुसार तत्कालीन समस्याओं के समाधान में सहयोग दिया। मानव को उसके परम लक्ष्य एवं कर्तव्यों का बोध कराया। नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा बनने की कला सिखलाई। उनमें आस्था रखने वाले विभिन्न धर्मावलम्बी अनुयायी आज भी उसका आचरण करने का प्रयास करते हैं। प्रायः सभी व्यक्ति अपने-अपने धर्म अथवा आचरण को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। परन्तु धर्म क्या है ? उसका आचरण क्यों और कैसे किया जाना चाहिए ? **धर्म तो सदैव कल्याणकारी होता है। अपरिवर्तनीय होता है। उसमें वैमनस्य, विरोध और विभेद को कोई स्थान नहीं। धर्म अलग है और साम्प्रदायिकता अलग है।** धर्म तो प्राणी मात्र को जन्म, जरा एवं मृत्यु रूपी चक्रव्यूह से मुक्त करता है। धर्म की प्रामाणिकता उसके मानने वाले अनुयायियों की संख्या के आधार पर नहीं, अपितु उसके सिद्धांतों की सूक्ष्मता पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से जितना स्पष्ट, तर्क संगत, वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म विश्लेषण भगवान महावीर ने किया, अन्यत्र दुर्लभ है।

महावीर जैन-धर्म के प्रवर्तक नहीं –

जैन परम्परा में तीर्थंकरों का स्थान सर्वोपरि है। वे साक्षात् ज्ञाता, द्रष्टा, वीतरागी होते हैं। भगवान महावीर से पूर्व भी इस अवसर्पिणी काल में तेईस तीर्थंकर हो चुके हैं, जिन्होंने धर्म के शाश्वत स्वरूप का बोध कराया। महावीर ने किसी नये धर्म का प्रतिपादन नहीं किया, परन्तु उसी सनातन सत्य का साक्षात्कार कर प्राणिमात्र के कल्याण हेतु उपदेश दिया। सभी सर्वज्ञों के उपदेश सिद्धान्त समान होते हैं, क्योंकि सत्य सनातन होता है। आवश्यकता है उसके सही स्वरूप को समझने एवं अपनाने की। धर्म आचरण की वस्तु है, थोपने की नहीं। इसी कारण जैनियों के महामंत्र नमस्कार, मंगलपाठ एवं अनुष्ठानों की साधना में गुणों को ही महत्व दिया गया। किसी महापुरुष की नाम से पूजा अथवा गुणगान नहीं किया गया है। अतः यह मानना गलत होगा कि जैन धर्म के नाम से प्रज्वलित धर्म के प्रवर्तक भगवान महावीर थे।

महावीर मात्र नाम नहीं –

महावीर मात्र नाम नहीं है, उसका सम्बन्ध कर्म से है, कथन मात्र से नहीं। जो वे करना चाहते थे, उसका पहले स्वयं अनुभव किया। शारीरिक बल से मानसिक बल ज्यादा शक्तिशाली होता है और आत्मबल के सामने सारे बल तुच्छ हैं। युद्ध में हजारों योद्धाओं को जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीतना, स्वयं को संयमित, नियमित, नियंत्रित, अनुशासित रखना ज्यादा दुष्कर है। आत्मा पर आये कर्मों का आवरण हटते ही व्यक्ति सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्व शक्तिमान एवं त्रिकाल ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है। सम्पूर्ण आत्मानुभूति की अवस्था में विज्ञान की भौतिक जानकारी तो होती ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, परन्तु उससे भी कहीं अधिक ब्रह्माण्ड के वर्तमान, भूत एवं भविष्य की सूक्ष्मतर एवं सम्पूर्ण जानकारी हो जाती है। वास्तव में वे जीवन के सर्वोच्च कलाकार, पथ प्रदर्शक एवं सर्वोच्च वैज्ञानिक होते हैं। उनका उपदेश भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति के लिए न हो कर जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति हेतु होता है।

महावीर को समझने के लिए हमें पहले अपने सभी पूर्वाग्रहों को छोड़ना होगा। उनका प्रत्येक आचरण एवं उपदेश सनातन सत्य पर आधारित है, जिसको समझने के लिए आवश्यक है व्यापक दृष्टिकोण। उनके उपदेश विषम परिस्थितियों एवं काल के थपेड़ों के बावजूद आज भी अक्षुण्ण बने हुए हैं। आध्यात्मिक साधना में उनका दृष्टिकोण सम्पूर्णता की खोज पर आधारित था। अनुशासनहीनता के बीच उनका जोर आत्मानुशासन पर था। उन्होंने आत्म-विकास के लिए ज्ञान एवं क्रिया के समन्वित प्रयास को आवश्यक बतलाया। **वे उस ढोंगवाद को नहीं मानते जो भोगी होते हुए भी अपने आपको परम योगी मानते हैं। भोगी निर्विकारी कैसे हो सकता है ? जो मन में होगा वही तो आचरण में प्रदर्शित होगा।** उन्होंने भाव क्रिया के महत्व को भी उजागर किया। मात्र जड़ क्रियाकाण्डों से व्यक्ति का उत्थान नहीं हो सकता। उन्होंने यतना अर्थात् विवेक में ही धर्म माना। यदि हमारा प्रत्येक कार्य विवेक एवं प्रज्ञानुसार हो तो नवीन कर्मों के बन्ध की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। उनके अनुसार प्रमाद विकास में सर्वाधिक बाधक है प्रमाद अर्थात् सुषुप्त अथवा असावधान। अज्ञानी ही प्रमादी होता है। जो स्वयं असजग है, अपने प्रति भी ईमानदारी नहीं, वह दूसरों को कैसे जगा देगा। अत: भगवान महावीर ने स्वयं साढ़े बारह वर्ष तक उग्र साधना कर पूर्णता प्राप्त की। जब तक सर्वज्ञ न बने, पूर्ण मौन रहे। परन्तु जागृत होने के पश्चात् संसार को सही मार्ग का उपदेश देने में कंजूसी नहीं की। जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति की जितनी सूक्ष्मतम, तर्कसंगत व्याख्या और विवेचन महावीर ने श्रमणाचार की नियमावलि में किया उसकी अन्यत्र कल्पना भी नहीं की जा सकती। आज भी बढ़ती मायावृत्ति एवं शिथिलाचार के बावजूद महावीर की परम्परा के श्रमण और श्रमणी वर्ग, जिस सूक्ष्म अहिंसा का पालन कर अपनी जीवनचर्या चलाते हैं, वैसी कठोर आचार संहिता अन्यत्र ढूँढना कठिन है। वास्तव में महावीर का उपदेश प्राणिमात्र के लिए उपयोगी है। वहाँ भेदभाव और आशंकाओं की कोई गुंजाइश नहीं। न तो किसी के साथ भेदभाव, न अपने भक्तों के लिए विशेष रियायत। उनके विराट् व्यक्तित्व को चन्द प्रसंगो के आधार पर परखा जा सकता है।

प्रतिकूलता आत्मबल की कसौटी –

महावीर ने साधना हेतु राजपाट छोड़ा। पद, पैसे और परिवार का त्याग किया। अगर वे चाहते तो अपने राज्य में भी एकान्त साधना कर सकते थे। परन्तु उन्होंने साधन के लिए प्रतिकूल क्षेत्र चुना जहाँ उनका कोई परिचित नहीं था। वे जानते थे कि आत्मबल की परीक्षा प्रतिकूलता में ही हो सकती है। परन्तु आज हम प्रतिकूलताओं को पसन्द नहीं करते। उन्होंने पद, पैसा और परिवार का मोह त्यागा। परन्तु आज प्राय: हम पद, पैसे और परिवार के पीछे दीवाने बन अपने आपको उनके अनुयायी समझने का अहम् करें, कितना अप्रासंगिक है। इस पर सारे पूर्वाग्रह छोड़ शुद्ध चिन्तन अपेक्षित है।

स्वालम्बन के उद्घोषक –

महावीर आत्म-साधना में स्वालम्बन के पक्षधर थे। मनुष्य को अपने कर्मों का क्षय अपने ही पुरुषार्थ से करना होता है। अत: वे साधना पथ पर अकेले ही आगे बढ़े। जब देवों के सम्राट शक्रेन्द्र उनकी सेवा में उपस्थित हो प्रार्थना करने लगे – **"भगवन् ! आपको साधना काल में भयंकर उपसर्ग (कष्ट) आने की संभावना है, अत: मैं आपकी सेवा में रहकर उससे रक्षा करना चाहता हूँ।"** उसके प्रत्युत्तर में भगवान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर ने कहा – **"आज तक कोई भी प्राणी दूसरों की सहायता से अपने समस्त कर्मों से मुक्त नहीं हुआ। किये हुए कर्मों का भुगतान तो स्वयं को ही करना पड़ता है।"** इस प्रकार उन्होंने प्राणीमात्र में स्वाबलम्बी बन अपनी सुषुप्त चेतना को जागृत करने का आत्मविश्वास जागृत किया। स्वावलम्बन की पहली शर्त है स्वाधीनता। पराधीनता दु:ख का कारण है, जो दासता में जकड़ती है। स्वाधीनता में ही सुख है। वही अपनी शक्तियों के विकास का केन्द्र बिन्दु है। स्वाधीनता से ही अपनी अनन्त शक्तियों का द्वार खुलता है। जिससे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र प्रकट होता है। महावीर कठोर, परन्तु हृदयग्राही आत्मानुशासन के प्रवर्तक थे। साधक यदि कठोर मार्ग पर न चले तो उसके फिसलने की संभावना सदैव बनी रहती है। अत: वे स्वयं कठोर चर्या में रहे तथा अपने शिष्य समुदाय के लिए भी उन्होंने कठोर श्रमणाचार का निर्देशन किया। उन्होंने भक्त और भगवान के बीच की खाई को समाप्त करने का उपदेश दिया। वे भक्त को सदैव भक्त ही रखने के पक्षधर नहीं थे। अवतारवाद की मान्यता उन्हें स्वीकार नहीं थी। उन्होंने प्राणिमात्र के अन्दर उस परम परमात्म पद को पहिचाना। इसी कारण उनके सम्पर्क में आकर सम्यक् साधना में पुरुषार्थ करने वाले अनेक साधक उनके समकक्ष सर्वज्ञ बन गये।

अनन्त करुणामय व्यक्तित्व –

दुनिया में मातृत्व में ही इतनी शक्ति है कि अपने बच्चे के प्रति अपार अनुराग होने से माता के स्तनों में दूध आने लगता है। महावीर के जीवन के अलावा संसार में आज तक ऐसा दृष्टान्त उपलब्ध नहीं कि चण्डकौशिक जैसा भयंकर दृष्टि विषधारी सर्प काटे और रक्त के स्थान पर दूध की धारा बहे। **प्राणिमात्र के प्रति कितनी दया, करुणा, अनुकम्पा और कल्याण की भावना होगी – ऐसे महापुरुष में, जिसकी सहज कल्पना भी नहीं की जा सकती।**

नारी उत्थान –

भगवान महावीर के युग में भारतीय नारी की बहुत दुर्दशा थी। नारी उत्पीड़न की तरफ जन साधारण का ध्यान आकर्षित करने हेतु अपने साधना काल में उन्होंने तेरह बोलों का कठोर अभिग्रह (संकल्प) लिया। जिसके अनुसार उन्होंने तब तक भिक्षा ग्रहण न करने का निश्चय किया, जब तक कोई तीन दिन की भूखी रोती हुई, भूतकाल की राजकुमारी, हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़िया पहिने, सिर से मुण्डित अबला उन्हें भिक्षा नहीं देगी। कैसी उपेक्षित थी नारी उस युग में ? सहज ही कल्पना की जा सकती है।

ऐसे समय में नारी को अपने धर्म-संघ में दीक्षित कर श्रमणी बनाना तथा अपने धर्म-तीर्थ में साधु और श्रावक के समकक्ष क्रमश: साध्वी तथा श्राविका को स्थान देना उस युग का कितना क्रान्तिकारी कदम होगा।

जातिवाद का प्रतिकार –

भगवान महावीर की स्पष्ट घोषणा थी कि मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से महान बनता है। हरिकेशबल जैसे नीच कुल में जन्मे क्षुद्र को अपने धर्म संघ में दीक्षित कर, धर्म के नाम पर जातिवाद का उन्होंने प्रतीकार किया। जातिवाद के नाम पर राष्ट्र में विघटन करने वालों एवं अपने स्वार्थों से प्रेरित अनुसूचित एवं नीच जातियों के उत्थान का दावा करने वालों को महावीर के जीवन प्रसंगों का अध्ययन कर अहम् छोड़ देना चाहिए।

पाप से घृणा करो, पापी से नहीं –

भगवान महावीर ने अर्जुनमाली जैसे ११४१ व्यक्तियों की हत्या करने वाले को अपने संघ में दीक्षित कर साधना के क्षेत्र में इतना गतिमान किया कि छह मास के अन्दर ही उसने अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। भगवान महावीर ने इस घटना के माध्यम से जन साधारण को प्रतिबोधित किया कि पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। क्योंकि पापी कभी भी पाप छोड़ धर्मी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन सकता है, परन्तु पाप कभी धर्म नहीं हो सकता।

राग-द्वेष त्यागे बिना मोक्ष नहीं –

संपूर्ण सत्य की व्याख्या और सूक्ष्मतम विश्लेषण वही कर सकता है, जो स्वयं वीतरागी है। उसका न तो किसी के प्रति राग है और न किसी के प्रति द्वेष। जब तक राग और द्वेष रहेगा अपने भक्तों के प्रति ममत्व और अन्य की उपेक्षा होना संभव है। **विश्व के इतिहास में शायद ही कहीं ऐसा दृष्टांत मिलता है कि भक्त अपने परम लक्ष्य को तब तक प्राप्त न कर सका, जब तक उसको अपने आराध्य के प्रति राग था। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम को भी तब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई, जब तक कि उनका भगवान के प्रति राग समाप्त नहीं हुआ। आज जो साम्प्रदायिक कट्टरता से धर्म बदनाम हो रहा है, उसका रूप विकृत हो रहा है, अपने को ही अच्छा और अन्य को बुरा बतला कर घृणा का वातावरण बनाया जा रहा है, उन सभी धर्म के ठेकेदारों को चिन्तन करना होगा कि कहीं उनका आचरण उनके आत्म-विकास में बाधक तो नहीं है ?**

सम्यक्त्व ही साधना का केन्द्र –

भगवान महावीर ने मिथ्यात्व अथवा गलत धारणा, मान्यता, श्रद्धा को मोक्ष की साधना में सबसे अधिक बाधक माना। सम्यक्त्व (सही दृष्टि) के बिना सच्चा ज्ञान और आचरण सम्यक् नहीं हो सकता। उनकी साधना का लक्ष्य था समभाव से वीतरागता की प्राप्ति। समता ही धर्म का लक्षण है। वह विवादों से पर है। उतार-चढ़ाव, मान-अपमान, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने आपको विचलित न होने देने का मूल मन्त्र है। दूसरी बात यह है कि जब तक जीव-जीव का सूक्ष्मतम भेद समझ में नहीं आवेगा, अहिंसा का पालन पूर्ण रूप से नहीं हो सकता। **पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल में चेतना को सर्वज्ञ ही जान सकते हैं। वर्तमान विज्ञान की पहुँच से भी वह बहुत परे है। इसी कारण अन्य धर्मों में सूक्ष्म हिंसा से बचने का प्रावधान एवं सोच नहीं है, जितनी बारीकी से जैन श्रमणाचार की नियमावली में प्रतिपादित किया गया है।**

महावीर का दर्शन सभी के लिए जीवन्त दर्शन है, अलौकिक दर्शन है। उसके अभाव में ज्ञानी का ज्ञान, पण्डित का पाण्डित्य, विद्वान की विद्वत्ता, धार्मिक का धर्माचरण, भक्तों की भक्ति, अहिंसकों की अहिंसा, न्यायाधीश का न्याय, राजनेताओं की राजनीति, वैज्ञानिकों की वैज्ञानिक शोध, चिकित्सकों की चिकित्सा, लेखकों का लेखन, कवि का काव्य अधूरा है। कहने का सारांश यही है कि महावीर के सिद्धान्तों से मतभेद रखना, उन्हें अस्वीकारना, चिन्तनशील, प्रज्ञावान, विवेकवान व्यक्ति के लिए संभव नहीं। फिर वह जीवन का कोई भी क्षेत्र क्यों न हो ? उनके दर्शन में अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह का समग्र दर्शन है, जो शाश्वत सत्य की आधार-शिला पर प्ररूपित किया गया है। ❐

– चोरड़िया भवन, जालोरी गेट के बाहर, जोधपुर, ३४२००३. फोन नं. ३५०९६, ३५४७१

कामं क्रोधं लोभं मोहं त्यक्त्वात्मानं भावय कोऽहम्।
आत्मज्ञान विहिना मूढाः ते पच्यन्ते नरक निगूढाः।।

– काम, क्रोध, लोभ, मोह को छोड़कर, 'मैं कौन हूँ' – इसप्रकार आत्मा के विषय में भावना कर। आत्म ज्ञान से विहीन मूढ़जन नरक में गिरते हैं। **– नीति तत्त्वसार**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान में भगवान महावीर के तत्त्व-चिन्तन की सार्थकता

❐ डॉ. नरेन्द्र भानावत

महावीर का विराट् व्यक्तित्व –

वर्द्धमान भगवान महावीर विराट् व्यक्तित्व के धनी थे। वे क्रांति के रूप में उत्पन्न हुए थे। उनमें शक्ति, शील, सौन्दर्य का अद्‌भुत प्रकाश था। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। यद्यपि वे राजकुमार थे, समस्त राजसी ऐश्वर्य उनके चरणों में लौटते थे, तथापि पीड़ित मानवता और दलित-शोषित जन-जीवन से उन्हें सहानुभूति थी। समाज में व्याप्त अर्थजनित विषमता और मन में उद्‌धृत कामजन्य वासनाओं के दुर्दमनीय नाग को अहिंसा, संयम और तप के गारुड़ी संस्पर्श से कील कर वे समता, सद्‌भाव और स्नेह की धारा अजस्र रूप में प्रवाहित करना चाहते थे। इस महान उत्तरदायित्व को, जीवन के इस लोकसंग्रही लक्ष्य को उन्होंने पूर्ण निष्ठा और सजगता के साथ संपादित किया।

वैज्ञानिक और सार्वकालिक चिन्तन –

महावीर का जीवन-दर्शन और उनका तत्त्व-चिन्तन इतना अधिक वैज्ञानिक और सार्वकालिक लगता है कि वह आज की हमारी जटिल समस्याओं के समाधान के लिए भी पर्याप्त है। आज की प्रमुख समस्या है सामाजिक-आर्थिक विषमता को दूर करने की। इसके लिए मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को हल के रूप में रखा। शोषक और शोषित के अनवरत पारस्परिक संघर्ष को अनिवार्य माना और जीवन की अन्तस् भाव चेतना को नकार कर केवल भौतिक जड़ता को ही सृष्टि का आधार माना। इसका जो दुष्परिणाम हुआ वह हमारे सामने है। हमें गति तो मिल गयी, पर दिशा नहीं, शक्ति तो मिल गयी, पर विवेक नहीं, सामाजिक वैषम्य तो सतही रूप से कम होता हुआ नजर आया, पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अनात्मीयता का फासला बढ़ता गया। वैज्ञानिक अविष्कारों ने राष्ट्रों की दूरी तो कम की, पर मानसिक दूरी बढ़ा दी। व्यक्ति के जीवन में धार्मिकता रहित नैतिकता और आचरण रहित विचार शीलता पनपने लगी। वर्तमान युग का यही सबसे बड़ा अन्तर्विरोध और सांस्कृतिक संकट है। भगवान महावीर की विचारधारा को ठीक तरह से हृदयंगम करने पर समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति भी संभव है और बढ़ते हुए इस सांस्कृतिक संकट से मुक्ति भी।

आवश्यकता से अधिक संग्रह : सामाजिक अपराध –

महावीर ने अपने राजसी जीवन में और उसके चारों ओर जो अनन्त वैभव सम्पत्ति देखी, उससे यह अनुभव किया कि आवश्यकता से अधिक संग्रह करना पाप है। साम्य अपराध है, आत्मा को छलना है। आनन्द का रास्ता है, अपनी इच्छाओं को कम करना, आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना, क्योंकि हमारे पास जो अनावश्यक संग्रह है, उपयोगिता कहीं और है। कहीं ऐसा प्राणिवर्ग है, जो उस सामग्री में वंचित है, जो अभाव में संतप्त है, आकुल है। अतः हमें उस अनावश्यक सामग्री को संगृहीत कर उचित नहीं। यह अपने प्रति ही नहीं, समाज के प्रति छलना है, धोखा है, अपराध है, – ऐसे विचार को अपरिग्रह-दर्शन कहा गया है। जिसका मूल मन्तव्य है किसी के प्रति ममत्व न रखना। वस्तु के प्रति भी नहीं, व्यक्ति के प्रति भी नहीं, स्वयं अपने प्रति भी नहीं।

ममत्व भाव न हो –

वस्तु के प्रति ममता न होने पर हम अनावश्यक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामग्री का तो संचय करेंगे नहीं, आवश्यक सामग्री को भी दूसरों के लिए विसर्जित करेंगे। आज के संकट काल में संग्रह-वृत्ति (होर्डिंग हेबिट्स) और तज्जनित व्यावसायिक लाभ-वृत्ति पनपी है, उससे दूर हम तब तक नहीं हो सकते, जब तक कि अपरिग्रह-दर्शन के इस पहलू को हम आत्मसात् न कर लें।

व्यक्ति के प्रति भी ममता न हो, इसका दार्शनिक पहलू इतना है कि व्यक्ति स्वप्नों तक ही न सोचे, परिवार के सदस्यों के हितों की ही रक्षा न करे, वरन् उसका दृष्टिकोण समस्त मानवता के हित की ओर अग्रसर हो। आज प्रशासन और अन्य लोगों में जो अनैतिकता व्यवहृत है, उसके मूल में "अपनों के प्रति ममता" का भाव ही मूल रूप से प्रेरक कारण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति पारिवारिक दायित्व से मुक्त हो जाय। इसका ध्वनित अर्थ केवल इतना है कि व्यक्ति "स्व" के दायरे से निकलकर सब तक पहुँचे। स्वार्थ की संकीर्ण सीमा को लांघ कर परार्थ के विस्तृत क्षेत्र में आये। उसके जीवन की यही साधना है। महापुरुष इसी जीवन-पद्धति पर आगे बढ़ते हैं। महावीर क्या, बुद्ध सभी इस व्यामोह से परे हटकर आत्मजयी बने। जो जिस अनुपात में इस अनासक्त भाव को आत्मसात् कर सकता है, वह उसी अनुपात में लोक सम्मान का अधिकारी होता है। आज के तथाकथित नेताओं के व्यक्तित्व का विश्लेषण इसके आधार पर किया जा सकता है। नेताओं के संबंध में आज जो दृष्टि बदली है और उस नेता अर्थ का जो अपकर्ष हुआ है, उसके पीछे यही लोक-दृष्टि सक्रिय है।

"अपने प्रति भी ममता न हो" – यह अपरिग्रह दर्शन का चरम लक्ष्य है। श्रवण संस्कृति में इसीलिए शारीरिक कष्ट सहन की ओर अधिक महत्व दिया है। तो दूसरी ओर इस पार्थिव देह विसर्जन (सल्लेखना) का विधान किया गया है। वैदिक संस्कृति में जो समाधि अवस्था या संत मत में जो सहजावस्था है, वह इसी कोटि की है। इस अवस्था में व्यक्ति "स्व" से आगे बढ़कर इतना अधिक सूक्ष्म हो जाता है कि वह कुछ भी नहीं रह जाता। योग साधना की यही चरम परिणति है।

संक्षेप में महावीर की इस विचारधारा का अर्थ है कि हम अपने जीवन को इतना संयमित और तपोमय बनायें कि दूसरों का लेशमात्र भी शोषण न हो, साथ ही स्वयं में हम इतनी शक्ति, पुरुषार्थ और क्षमता भी अर्जित कर लें कि दूसरा हमारा शोषण न कर सके।

जीवन-व्रत-साधना –

प्रश्न है ऐसे जीवन को कैसे जिया जाए ? जीवन में शील और शक्ति का यह संयम कैसे हो ? इसके लिए महावीर ने "जीवन-व्रत-साधना" का प्रारूप प्रस्तुत किया। साधना-जीवन को दो वर्गों में बाँटते हुए उन्होंने बारह व्रत बतलाये। प्रथम वर्ग, जो पूर्णतया इन व्रतों की साधना करता है, वह श्रमण है, मुनि है, संत है और दूसरा वर्ग, जो अंशत: इन व्रतों को अपनाता है, वह श्रावक है, गृहस्थ है, संसारी है।

इन बारह व्रतों की तीन श्रेणियाँ हैं – पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। अणुव्रतों में श्रावक स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग करता है। व्यक्ति तथा समाज के जीवन-यापन के लिए वह आवश्यक सूक्ष्म हिंसा का त्याग नहीं करता। जबकि श्रमण इसका भी त्याग करता है, पर उसे भी यथाशक्ति सीमित करने का प्रयत्न करता है। इन व्रतों में समाजवादी समाज रचना के सभी आवश्यक तत्त्व विद्यमान है।

प्रथम अणुव्रत में निरपराध प्राणी को मारना निषिद्ध है, किन्तु अपराधी को दण्ड देने की छूट है। दूसरे अणुव्रत में धन, सम्पत्ति, परिवार आदि के विषय में दूसरे को धोखा देने के लिए असत्य बोलना निषिद्ध है। तीसरे व्रत में व्यवहार शुद्धि पर बल दिया गया है। व्यापार करते समय अच्छी वस्तु दिखाकर घटिया दे देना, दूध में पानी आदि मिला देना, झूठा नाप-तोल तथा राज-व्यवस्था के विरुद्ध आचरण करना निषिद्ध है। इस व्रत में चोरी करना तो वर्जित है ही, किन्तु चोर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को किसी प्रकार की सहायता देना या चुरायी हुई वस्तु को खरीदना भी वर्जित है। चौथा व्रत स्वदार-संतोष है, जो एक ओर काम-भावना पर नियमन है, तो दूसरी और पारिवारिक संगठन का अनिवार्य तत्त्व है। पाँचवें अणुव्रत में श्रावक स्वेच्छापूर्वक धन-सम्पत्ति, नौकर-चाकर आदि की मर्यादा करता है।

तीन गुणव्रतों में प्रवृत्ति के क्षेत्र को सीमित करने पर बल दिया गया है। शोषण की हिंसात्मक प्रवृत्तियों के क्षेत्र को मर्यादित एवं उत्तरोत्तर संकुचित करते जाना ही इन गुणव्रतों का उद्देश्य है। छठा व्रत इसी का विधान करता है। सातवें व्रत में योग्य वस्तुओं के उपभोग को सीमित करने का आदेश है। आठवें में अनर्थदण्ड अर्थात् निरर्थक प्रवृत्तियों को रोकने का विधान है।

चार शिक्षाव्रतों में आत्मा के परिष्कार के लिए कुछ अनुष्ठानों का विधान है। नवाँ सामाजिक व्रत समता की आराधना पर, दसवाँ संयम पर, ग्यारहवाँ तपस्या पर और बारहवाँ सुपात्रदान पर बल देता है।

इन बारह व्रतों की साधना के अलावा श्रावक के लिए पन्द्रह कर्मादान भी वर्जित है अर्थात् उसे ऐसे व्यापार नहीं करने चाहिए, जिनमें हिंसा की मात्रा अधिक हो या जो समाज-विरोधी तत्त्वों का पोषण करते हों। उदाहरणत: चोरों-डाकुओं या वैश्याओं को नियुक्त कर उन्हें अपनी आय का साधन नहीं बनाना चाहिए। इस व्रत-विधान को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि महावीर ने एक नवीन और आदर्श समाज-रचना का मार्ग प्रस्तुत किया, जिसका आधार तो आध्यात्मिक जीवन जीना है, पर जो मार्क्स के समाजवादी लक्ष्य से भिन्न नहीं है।

ईश्वर का जनतंत्रीय स्वरूप –

ईश्वर के संबंध में जो जैन विचारधारा है, वह भी आज की जनतंत्रात्मक और आत्मस्वातन्त्र्य की विचारधारा के अनुकूल है। महावीर के समय का समाज बहुदेवोपासना और व्यर्थ के कर्मकाण्ड से बँधा हुआ था। उसके जीवन और भाग्य को नियंत्रित करती थी कोई परोक्ष अलौकिक सत्ता। महावीर ने ईश्वर के इस संचालक रूप का तीव्रता के साथ खण्डन कर इस बात पर जोर दिया कि व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उसके जीवन को नियंत्रित करते हैं, उसके द्वारा किये गये कार्य। इसे उन्होंने 'कर्म' कह कर पुकारा। वह स्वयं कृत कर्मों के द्वारा ही अच्छे या बुरे फल भोगता है। इस विचार ने नैराश्यपूर्ण असहाय जीवन में आशा, आस्था और पुरुषार्थ का आलोक बिखेरा और व्यक्ति स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होकर कर्मण्य बना।

ईश्वर के संबंध में जो दूसरी मौलिक मान्यता जैन दर्शन की है, वह भी कम महत्व की नहीं। ईश्वर एक नहीं, अनेक हैं। प्रत्येक साधक अपनी आत्मा को जीतकर, चरम साधना के द्वारा ईश्वरत्व की अवस्था को प्राप्त कर सकता है। मानव जीवन की सर्वोच्च उत्थान रेखा ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। इस विचार-धारा या आत्म-साधना का मार्ग प्रशस्त किया। आज की शब्दावली में कहा जा सकता है कि ईश्वर के एकाधिकार को समाप्त कर महावीर की विचारधारा ने उसे जनतंत्रीय पद्धति के अनुरूप विकेन्द्रित कर सबके लिए प्राप्य बना दिया। शर्त रही जीवन की सरलता, शुद्धता और मन की दृढ़ता। जिस प्रकार राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति आज प्रत्येक नागरिक के लिए सुगम है, उसी प्रकार ये आध्यात्मिक अधिकार भी उसे सहज प्राप्त हो गये हैं। शूद्रों का और पतित समझी जाने वाली नारी जाति का समुद्धार करके भी महावीर ने समाज-देह को पुष्ट किया। आध्यात्मिक उत्थान की चरम सीमा को स्पर्श करने का मार्ग भी उन्होंने सबके लिए खोल दिया, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, चाहे वह शूद्र हो या चाहे और कोई। ❐

– सी-२३५ ए, दयानन्द मार्ग,
तिलक नगर, जयपुर-४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) भगवान महावीर

❐ डॉ. अनामिका जैन

आज से लगभग २६०० वर्ष पूर्व जैन धर्म के इस युग के चौबीसवें तीर्थंकर कालजयी महापुरुष महावीर स्वामी का चैत्र सुदी त्रयोदशी को बिहार के कुण्डलपुर में राजा सिद्धार्थ व माता त्रिशला के पुत्र रूप में जन्म हुआ। यह तो सुविदित है कि महावीर से पहले ऋषभादि २३ तीर्थंकर हो चुके हैं तथा वर्तमान में भगवान महावीर का शासनकाल प्रवर्तमान है, जो उत्सर्पिणी काल में प्रथम तीर्थंकर के निर्वाण काल तक चलेगा। जन्म से ही महावीर अपनी आत्मा के रंग में निमग्न, सांसारिक राग-रंग, मोह-माया के जंजाल से सर्वथा दूर रहे और तीस वर्ष की आयु में ही मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के दिन नग्न दिगम्बरी दीक्षा धारण कर मुनि हो गये।

आपने बारह वर्षों तक घोर तपश्चरण किया। तत्पश्चात् एक दिन जुम्बिका गाँव के पास ऋजुकूला नदी के तट पर जब शाल्मलि वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ थे, उस शुभ दिवस बैसाख शुक्ला दशमी को आपने पूर्ण रूपेण शुद्ध दशा अर्जित करके अर्थात् चार प्रकार के घातिया कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की भाँति केवलज्ञान की प्राप्ति पर महावीर सर्वज्ञ हुए अर्थात् सम्पूर्ण/परिपूर्ण ज्ञान के धारक हुए। सम्पूर्ण जगत में लोकालोक में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी को उनके सम्पूर्ण गुण और भूत, भविष्य एवं वर्तमान की समस्त पर्यायों (अवस्थाओं) सहित एक समय में बिना किसी की सहायता के, इन्द्रियों के बिना, सीधे आत्मा से प्रत्यक्ष जाना– केवलज्ञान की यही विशेषता है। यह सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती सभी पदार्थों को हाथ पर रखे हुए आवले के समान अत्यन्त स्पष्टरूप से जानता है। सूक्ष्म अर्थात् दृष्टि से दूर, अन्तरित अर्थात् काल से दूर और दूरवर्ती यानि क्षेत्र से दूर। परमाणु एवं कर्म-वर्गणायें सूक्ष्म हैं, राम, रावण, कृष्ण आदि काल से दूर/अन्तरित हैं और सुमेरु पर्वत, देव-नरकगति अनेक समुद्र व द्वीपादि क्षेत्र से दूर होने से दूरवर्ती कहे जाते हैं। ये सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती सभी पदार्थ केवलज्ञान रूपी दर्पण में समान रूप से युगपत प्रतिभासित होते हैं। बिना एक-दूसरे के सम्पर्क में आये प्रतिसमय लोकालोक के सभी पदार्थ ज्ञान दर्पण में झलकते रहते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक पदार्थ की भविष्य की पर्यायें सुनिश्चित होने से केवली भगवान उन्हें अत्यन्त स्पष्टरूप से जानते हैं। ऐसा नहीं होता तो प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव अपने ज्ञान में कैसे जानते कि मारीचि एक कोड़ाकोड़ी सागर के बाद इसी भरतक्षेत्र में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर होंगे। जिनकी जयन्ती आज हर्षोल्लास से हम मना रहे हैं।

भगवान नेमिनाथ ने भी बारह वर्ष पहले द्वारका दहन की स्थिति बता दी थी। ऐसी ही सुनिश्चित भविष्य संबंधी लाखों घोषणाएँ जिनवाणी में भरी हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि जिनेन्द्र भगवान भूत, भविष्य एवं वर्तमान की समस्त पर्यायों को युगपत आत्मा से प्रत्यक्ष जानते हैं। यही तो केवलज्ञान एवं सर्वज्ञता की महिमा है, जो जैन दर्शन की विशेषता है।

मुनि महावीर ने दीक्षा लेने के १२ वर्ष बाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलज्ञान प्राप्त किया और अरहंत भगवान बने। इससे पूर्व वे मुनिराज महावीर थे, राजकुमार थे। "भगवान की दिव्यध्वनि प्रयोजनभूत मूलवस्तु की मुख्यता से खिरती है। वह मूलवस्तु जीवादि तत्त्वार्थ हैं और उसमें भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की एकतारूप मुक्ति के मार्ग का निरूपण होता है।" केवलज्ञान होने के बाद भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी, जिसमें छह द्रव्य, सात तत्त्व रूप मोक्षमार्ग का उद्घाटन हुआ।

केवलज्ञानी तीर्थंकर की धर्मसभा समवशरण कहलाती है। उसकी रचना सौधर्म इन्द्र के माध्यम से होती है। वह गोलाकार होती है, बीच में भगवान विराजमान होते हैं और चारों ओर श्रोतागण बैठते हैं। उसमें चारों ओर मिलाकर १२ सभाएँ होती हैं, जिनमें मुनिराज, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविकाओं के साथ-साथ देव-देवांगनाएँ तथा पशु-पक्षी भी श्रोताओं के रूप में बैठते हैं। चारों ओर बैठे लोगों में से किसी की ओर से उनकी पीठ नहीं होती, सभी को ऐसा लगता है कि मानो भगवान का मुख उनकी ही ओर है। उनका मुख चारों ओर होने से उन्हें चतुर्मुख भी कहा है। उनके चार मुख नहीं होते, परन्तु कुछ ऐसा अतिशय होता है कि उनका मुख चारों ओर बैठे जीवों को दिखाई देता है। इसी तरह के अनेक अतिशय केवली भगवान के समवशरण में देखने में आते हैं।

केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद भगवान महावीर की दिव्यध्वनि दिन में तीन-तीन बार खिरती थी और प्रत्येक बार का समय छह घड़ी होता था। एक घड़ी २४ मिनट की होती है। इस प्रकार प्रतिदिन कुल ७ घंटे और १२ मिनट उनकी दिव्य देशना होती थी।

भगवान की दिव्य देशना को गौतम गणधर ने ११ अंग १४ पूर्वों में गुंथित किया और परवर्ती आचार्यों के माध्यम से उसका कुछ अंश आज हमें द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और कथानुयोग के रूप में उपलब्ध है। इनके आधार पर भारत के एवं विदेशों के विश्वविद्यालयों एवं अन्य संस्थानों में अनुसंधान एवं उच्च स्तर के शोध हो रहें हैं, जो मानव समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित होंगे। केवलज्ञान में समाहित सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान का लाभ तो हम जैसे छद्मस्थ जीवों को इस काल में मिलना संभव नहीं है, परन्तु आत्म-कल्याण एवं मानव हित के लिए उनकी देशना का उपलब्ध अंश युग-युग तक कल्याणकारी हो।

❐ ए-३१, अनिता कालोनी, जयपुर (राज.)

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्णं प्राण्यन्तराणां तु पश्चाद्स्याद्वा न वा वधः।।

जो प्रमादी है, असावधान है, दूसरों को कष्ट पहुँचाने की भावना रखता है, वह पहले तो स्वयं अपनी ही आत्मा का घात करता है। दूसरे प्राणियों का घात तो पीछे की बात है, वह हो या न हो।

– भगवान महावीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर के सिद्धांत : आज के परिवेश में

❑ ललित कुमार जैन

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर का जन्म वैशाली गणराज्य के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला की कुक्षि से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन आज से लगभग २६०६ वर्ष पूर्व वैशाली के कुण्डग्राम में हुआ। भगवान महावीर के जन्म से पूर्व पृथ्वी पर अत्याचार-अनाचार, शोषण, हिंसा, संघर्ष एवं कुरीतियों का साम्राज्य था। धर्म के नाम पर पशुवध किया जाता था, नारी दासता के बन्धन में कैद थी। ऐसे समय में भगवान महावीर ने संसार के प्राणिमात्र के कल्याण हेतु संसार को असार जानकर ३० वर्ष की युवावस्था में वैराग्य धारण कर १२ वर्ष तक कठोर तप कर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त किया। भगवान महावीर ने ३० वर्ष तक भारत में विहार कर प्राणिमात्र के कल्याण हेतु जैन धर्म का उपदेश जनभाषा में दिया।

भगवान महावीर ने अपने उपदेश में जिओ और जीने दो एवं मित्ति मे सव्व भूएसु अर्थात् संसार में सभी प्राणियों से मेरी मैत्री का संदेश दिया। यह आज के समय में जहाँ विश्व आतंकवाद और संप्रदायवाद से त्रस्त है, उनसे मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित करते हैं।

भगवान महावीर ने जिस सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया, उसमें अहिंसा, अपरिग्रह एवं स्याद्वाद-अनेकान्तवाद के सिद्धांत महत्वपूर्ण हैं। जो वर्तमान समय में भी प्रासंगिक हैं।

अहिंसा – भगवान महावीर ने कहा कि ऊँच-नीच हिंसा की पराकाष्ठा है। प्रत्येक मनुष्य का अस्तित्व गौरवपूर्ण है, उसकी गरिमा को बनाये रखने, वर्ग-शोषण नहीं करने, दलित लोगों को सामाजिक सम्मान देना, पुरुष के समान स्त्री को भी प्रतिष्ठा देना, यहाँ तक कि किसी प्राणीमात्र को भी नहीं सताना अहिंसक समाज तैयार करना है।

अपरिग्रह – आज संसार में प्रत्येक मनुष्य के सामने भोजन, वस्त्र, आवास की मुख्य समस्या है। इस समस्या का समाधान अपरिग्रह के द्वारा संभव है। आज के समय में परिग्रह ने तीन बुराइयों को जन्म दिया है। १. विषमता, २. विलासिता, ३. क्रूरता। जब वस्तुओं का संग्रह एक स्थान पर हो जाता है, तब दूसरे उनके अभाव में दुखी हो जाते हैं। गरीबी-अमीरी, ऊँच-नीच आदि समस्याएँ इसी का परिणाम है। परिग्रह के सब साधन सामाजिक जीवन में क्रूरता, घृणा और शोषण को जन्म देते हैं। अत: अपने पास उतना रखना जितना आवश्यक है, बाकी शेष समाज को समर्पित करना ही अपरिग्रह है।

अत: भगवान महावीर ने भ्रमित एवं अज्ञानी प्राणियों को अपरिग्रह का दिशा बोध दिया। यदि सम्पूर्ण मानव समाज सुख व शांति चाहता है तो अपरिग्रह को अपनावे।

अनेकान्तवाद – मानवीय एवं आर्थिक असमानता के साथ-साथ वैचारिक मतभेद भी समाज में द्वन्द्व को जन्म देते हैं, जिसके कारण समाज रचनात्मक प्रवृत्तियों को विकसित नहीं कर सकता। मानव के आपसी मतभेद संकुचित संघर्ष के कारण बन जाते हैं, इससे सामाजिक समरसता नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति से छुटकारा प्राप्त करने हेतु भगवान महावीर ने अनेकान्तवाद का संदेश सभी को दिया तथा स्पष्ट किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि उसकी अपनी दृष्टि ही सर्वोपरि न होकर दूसरे की दृष्टि भी उतनी ही महत्वपूर्ण है।

इस संदेश से व्यक्तियों एवं राष्ट्रों के मध्य अनुचित सांप्रदायिक संघर्ष समाप्त हो सकता है। आज जितनी भी अशांति और संघर्ष है, उसके प्रति सत्ताग्रह, महत्वाकांक्षा एवं अहंकार है। यदि विवाद एवं अशान्ति के सभी पहलुओं को दृष्टिगत रखकर अनेकान्तवाद की दृष्टि से निर्णय करे तो विश्व में व्याप्त अशान्ति का वातावरण समाप्त हो सकता है। अनेकान्तवाद के संबंध में भगवान महावीर ने कहा कि प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलू होते हैं, जब तक उस वस्तु के सभी पहलुओं को नहीं देखेंगे, तब तक सत्य को प्राप्त नहीं करेंगे। अत: सत्य और अहिंसा की भूमिका में भगवान महावीर का स्याद्वाद-अनेकान्तवाद सार्वभौमिक सिद्धांत है, इसमें लोकहित एवं लोक संग्रह की भावना गर्भित है। अनेकान्तवाद धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करने का अमोघ अस्त्र है। दूसरे के दृष्टिकोण का अनादर करना एवं उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना ही संघर्ष का मूल कारण है। अत: संघर्षों को दूर करने हेतु आज के परिप्रेक्ष्य में अनेकान्तवाद-स्याद्वाद प्रासंगिक है।

सार रूप में भगवान महावीर की वाणी जो प्राणीमात्र के कल्याण हेतु कही गई, वह २६०० वर्ष से अधिक का समय व्यतीत होने पर आज भी कल्याणकारी है। ❐

– ५९, श्रीजी नगर, दुर्गापुरा, जयपुर

जाति, देह के आश्रित है और देह आत्मा के संसार का कारण है। इसलिए जो जाति का अभिमान करने वाले हैं, वे संसार से छूट नहीं सकते।

"वीरदेशना" से साभार

पंचसूत्र महावीर

वर्द्धमान महावीर के, **पंचशील** सिद्धान्त,
विश्व शान्ति सुख वरद हैं, मंत्र अचूक दुख सान्त।
मंत्र अचूक दुख सान्त, जीव कल्याणक वृष है,
जीओ, जीने दो ध्येय, **अहिंसा** धर्म सूत्र है।
भाई चारा भव्य, दया करुणा सनेह है,
तन-मन मंगल भाव, सुहृद वात्सल्य प्रेम है।
सत्य सदा शाश्वत रहा, आत्म स्वभाव स्वरूप,
निर्विकल्प परमार्थ मय, हित मित प्रिय वच भूप।
हित, मित, प्रिय वच भूप, श्रेष्ठतम मित्रभाव है,
मिलन सार, शुचि सरल, प्रेयतम श्रेय भाव है।
सत्यमेव जयवन्त, सांच को आंच नहीं है,
सदाचार सम्पन्न, सत्यता जगत पूज्य है।
वृष **अचौर्य** की शानशुचि, निष्कपट नर श्रेष्ठ,
रहे निडर बढ़े आत्मबल, सम्मानित जगज्येष्ठ।
सम्मानित जग ज्येष्ठ, न भ्रष्टाचार प्रबल है,
मृदु ऋजु भाव सुकृत्य, न मायाचार सबल है।
सामाजिक अभियान, अचौर्य सुख-शान्ति सदन है,
निर्भय रहे नर-नारि चौर्य कृत्य तजे शिवम् है।
ब्रह्मचर्य व्रत श्रेष्ठतम, तन-मन स्फूर्ति,
सन्तोषी स्व 'दार' में, शील सुमंगल मूर्ति।
शील सुमंगल मूर्ति, बहिन बेटी माँ तिय है,
मर्यादा संकल्प, जितेन्द्रिय जीवन जय है।
भोग लिप्सा, व्यभिचार, कुदृष्टि पाप तंत्र है,
ब्रह्मचर्य व्रत शुचिर, दिया भवि ब्रह्म मंत्र है।
परिग्रह का परिमाण कर, अनासक्त धन पंक,
सन्तोषी सुखिया सदा, न्याय-नीति नहि शंक।
न्याय-नीति नहि शंक, उदार उदात्त शुभम् है,
सुख सम्पत्ति को बाँट, विश्व कल्याण निहित है।
'पंचसूत्र' महावीर, समाज, नर, राष्ट्र सुहित है,
'वीर जयन्ती' दिवस, विमल जग मंगलमय है।

❐ **डॉ. विमला जैन,**
१/३४४,सुहागनगर, फिरोजाबाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर प्रभु का तीसरा भव मरीचि के रूप में

❑ राजमल सिंघवी

नयसार के जीवन में आई हुई प्रकाश के एक पल ने उसके जीवन में एक नया ही मोड़ दिया और वह सौधर्म देवलोक में देव हुआ। एक दिन देवलोक का विराट आयुष्य का काल भी पूर्ण हुआ और वह देव विशाल वैभवों से भरे हुए महाराजा भरत के यहाँ उनके पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ और उसका नाम रखा गया मरीचि। महाराजा भरत ऋषभप्रभु की वंदना करने आए। मरीचि भी साथ ही था। प्रभु की पहली देशना के श्रवण से ही उनमें संयम की लगन जग गई। पिता भरत राजा की अनुमति मिल गई तो संसार की ऋद्धि को ठुकराकर मरीचि ने मुनि धर्म स्वीकार किया।

भगवान के साथ विहार करते हुए मरीचि मुनि संयम धर्म की एक-एक सीढ़ी को पावन बनाते हुए आगे बढ़ने लगे, किन्तु एक ऐसा प्रमाद का पल आ गया कि मुनि मोहाधीन हो गये। गरमी के दिन थे, भगवान का मुनि धर्म तो छत्र की छाया को नहीं मानता, जूतियों से प्रेम करने की इसमें आज्ञा नहीं थी। स्नान के साथ तो इसका स्नहे था ही नहीं। विलेपन की बात तो इसमें थी ही नहीं। मुनि मरीचि इस परीषह से टक्कर नहीं ले सके। मुनि ने नया वेश धारण कर लिया। मुनि मरीचि ने त्रिदंडी संन्यास धारण कर लिया। सिर पर शिखा रखकर मुंडन, हाथ में दण्ड, थोड़ा परिग्रह, भगवाँ कपड़े, छाया के लिए छत्र, चंदन का सुगंधित लेप, अल्प जल से स्नान और पाँव में जूतियाँ। प्रमाद के पल में मरीचि मुनि ने नया वेश सर्जित किया। आचार से दूर हुए मरीचि विचार से तो भगवान ऋषभ प्रभु के ही अनुयायी रहे थे, किन्तु इनका नया वेश देखकर लोग उनको धर्म पूछते, तो वे सच्चा संयम तो भगवान ऋषभ प्रभु के मुनि धर्म को ही बताते। अपनी त्रुटि मानते हुए उनकी आँख में एक छिपा हुआ आँसू आ जाता। इस प्रकार अनके मनुष्यों को सद्धर्म समझाकर वे उनको ऋषभ प्रभु के श्रमण संघ में ही शामिल करते। विहार भी वे प्रभु के साथ ही करते थे। कुछ वर्ष तक ऐसा चलता रहा। आचार से अलग हुए मरीचि, विचार से अलग नहीं हुए। कई श्रावकों को उन्होंने ऋषभ प्रभु का मुनि धर्म दिलवाया।

कई वर्ष बीत गए। विनीता नगरी का उद्यान ऋषभ प्रभु के पधारने से प्रसन्न हुआ। महाराजा भरत उनकी धर्म देशना सुनने आये। भविष्य में होने वाले तीर्थंकर, चक्रवर्तियों, वासुदेवों, प्रतिवासुदेवों एवं बलदेवों को जानने की भरत की इच्छा की पूर्ति प्रभु की वाणी से हुई। भरत ने अंत में पूछा कि 'भगवान इस समवशरण में क्या कोई ऐसा जीव है जिसके भाग्य में तीर्थंकरत्व का लेख लिखा हो।' तब भगवान ने कहा कि 'हे भरत, यह मरीचि चरम तीर्थंकर महावीर की आत्मा है।' अपने पुत्र का ऐसा महान भविष्य सुनते ही भरत ने रोमांच अनुभव किया। प्रभु ने फिर फरमाया कि हे भरत, मरीचि भगवान महावीर होगा। वह इसके बीच में कई महान ऋद्धियों का स्वामी बनेगा। पोदनपुर में त्रिपुष्ट नामक पहिला वासुदेव एवं विदेह क्षेत्र की मूकापुरी नगरी में प्रिय मित्र नाम का चक्रवर्ती होने के लेख भी मरीचि के भाग्य में लिखे हुए हैं।

देशना पूरी हुई। भरत महाराजा का हृदय मरीचि में छिपे हुए भविष्य के महावीर को वंदन करने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लालायित हुआ तो वे मरीचि के पास आकर वंदन करते हुए बोले कि 'मरीचि तुम संन्यासी हो, भगवा तुम्हारा वेश है, भरत के प्रथम चक्रवर्ती की तुम संतान हो, इसकारण नहीं, किन्तु तुम चौबीसवें तीर्थपति महावीर होने वाले हो। अत: मैं तुम्हें वंदन करता हूँ। त्रिपृष्ट वासुदेव एवं प्रियमित्र चक्रवर्ती भी तुम होगे, किन्तु मेरा वंदन तो तुम्हारे में छिपे हुए महावीर को ही है।'

भरत विदा हुए। मरीचि भविष्य की अपनी ऋद्धि की कल्पना को पचा नहीं सका। उसके हृदय में गर्व से भरे हुए शब्द घूमने लगे कि 'मैं वासुदेव, मैं चक्रवर्ती, मैं तीर्थंकर।'

मरीचि खड़ा हो गया एवं अपने आनन्द तथा हर्ष को व्यक्त करता हुआ गर्व-नृत्य करते हुए बोला कि 'वासुदेवों में मैं पहला, चक्रवर्तियों में मेरे पिता पहले, तीर्थंकरों में मेरे पितामह ऋषभ प्रभु पहले। अहो, मेरा कैसा उत्तम कुल है?' इस गर्व-नृत्य में मरीचि ने कुल का मद करने से नीच गोत्र का कर्म बांध लिया।

कई वर्ष बीत गए। भगवान श्री ऋषभ प्रभु का निर्वाण हो गया। अब मरीचि के लिए स्वतंत्र विचरण का मार्ग खुला था, किन्तु उसमें रही हुई विचार-श्रद्धा ने उसको भगवान ऋषभ प्रभु के साधु संघ के साथ ही रहने दिया। फिर भी एक पल ऐसा आया जब मरीचि की विचार-ज्योत आँधी में अटक गई।

मरीचि बीमार हुआ। शिष्य तो उसके कोई भी था नहीं। उसकी सेवा कौन करे? निर्ग्रन्थ साधुओं की आचार संहिता असंयमी-मरीचि की सेवा करने से रोकती थी। तब मरीचि के मन में व्याधि की एक आँधी आयी, जिससे उसकी विचार-ज्योत डगमगा गई। मरीचि ने सोचा कि 'ये मुनि कैसे हैं कि उन्होंने अपनी आँख की शर्म भी खो दी। मैंने कितने कुमारों को प्रतिबोध करके उनके संघ में शामिल किये हैं, फिर भी आज मैं बीमार पड़ा हूँ तब भी वे मेरे पास नहीं फटकते।' अत: मरीचि ने निर्णय किया कि अब कोई वैरागी आवे तो मैं उसको प्रतिबोध करके मेरा शिष्य बनाऊँ। उसकी बीमारी समाप्त हुई, तब वह जब स्वस्थ होकर विचरण करने लगा, तब कपिल नाम का एक धर्म-जिज्ञासु मरीचि के पास आया। आरंभ में तो मरीचि ने उसको ऋषभ संघ में ही धर्म बताया, किन्तु उसकी डगमगाती विचार-ज्योत अभी पूरी बुझी नहीं थी। कपिल ने फिर पूछा कि 'यदि धर्म भगवान ऋषभ प्रभु के संघ में ही है, तो फिर आपने यह नया वेश कैसे पहना है।' तब मरीचि ने अपनी अशक्ति को स्वीकार करते हुए कहा कि 'अशान्त हूँ, किन्तु धर्म तो वही है।' कपिल ने फिर पूछा कि 'क्या धर्म ऋषभ संघ में ही है? क्या आप में उसका अंश भी नहीं है?'

तब मरीचि ने आँख के आगे उसका बीमारी का काल ताजा हुआ और उसको मुनियों द्वारा बताई हुई सेवा-हीनता का विचार आया। कपिल में उसको शिष्यत्व की योग्यता दिखाई दी। उसके पतन के इस पल में सावधानी खोकर मरीचि ने उत्तर दिया कि 'कपिल साधु के मार्ग में भी धर्म है और मेरे मार्ग में भी धर्म है।' कपिल को तो धर्म की छाप की आवश्यकता थी। इसके सच और झूठ की परीक्षा किए बिना ही कपिल ने भगवाँ वस्त्र धारण किए। तब मरीचि के हृदय में संतोष व्याप्त हुआ। उसके छोटे से लोभ ने मिथ्यात्व के उदय को जगाकर आत्मा को अंधकार में फेंक दिया। इस प्रकार कपिल से आरंभ हुई मिथ्यादर्शन की कुल्हाड़ी का हत्था बन गया।

'धर्म संयम में है और यहाँ असंयम में भी है।' मात्र इतने से सत्य मार्ग से विपरीत वचन से मरीचि के लिए संसार का दीर्घ परिभ्रमण खड़ा हो गया। मरीचि और कपिल की एक जोड़ी बन गई। मरीचि के जीवन के अंतिम पल तक भी उसके विपरीत-प्ररूपण का यह पाप अनालोचित ही रहा एवं उसने भगवाँ वेश में ही देह त्याग किया।

❐ बी-६१, सेठी कालोनी, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर और उनका जीवन दर्शन

❑ ज्ञानचन्द रांवका

भगवान महावीर को समझने के लिए मात्र उनके वर्तमान को जानना ही पर्याप्त नहीं है। इसके लिए उनके पूर्व हजारों-हजारों वर्षों के काल को समझना भी आवश्यक है। भगवान महावीर जैनधर्म के भरतक्षेत्र के वर्तमान युग के चौबीस तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर हुए हैं।

इस युग में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव हुए, उन्होंने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प – इन षट्कर्मों का प्रजा को उपदेश दिया और उस पर चलने से ही सुख की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। वे अंक और लिपि विद्या के स्रष्टा थे। प्रजा को धर्म का उपदेश दिया और उस पर चलने से ही सुख की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। ऋषभदेव द्वारा प्रशस्त मार्ग का अनुसरण भगवान अजितनाथ ने किया और इसे आगे बढ़ाया। इसी प्रकार आगे के तीर्थंकर अनुसरण करते हुए आगे-आगे बढ़ते गये। प्रसंगवश यह भी उल्लेखनीय है कि महावीर का जीव पूर्व में ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती का पुत्र मरीचि था। ऋषभदेव के ज्ञान में यह बात आ गई थी कि यही मरीचि का जीव आगे जाकर चौबीसवाँ अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगा। जब मरीचि को यह पता लगा कि मैं आगे जाकर इस युग का अन्तिम तीर्थंकर महावीर होने वाला हूँ। तो वह उन्मत्त होकर विचरण करने लगा और मनगढ़न्त तत्त्वों का उपदेश देने लगा। आगे जाकर यही मरीचि सांख्यमत का संस्थापक बना। कुतप के प्रभाव से मरकर पुरुरवा भील हुआ, सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ, पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग में देव हुआ यह इसका चौथा भव था।

इस प्रकार भव भ्रमण करता हुआ तेईसवें भव में सिंह के रूप में जन्म लिया। एक दिन यह सिंह भूख से पीड़ित होकर एक हरिण को पकड़ कर खा रहा था उस समय दो चरण ऋद्धि मुनि आकाश गमन करते हुए वहाँ उतरे और उस सिंह को संबोधन दिया – "हे जीव! तूने जो त्रिपृष्ट नारायण के भव में राजमद से घोर पापार्जन किया था, उसके परिणाम स्वरूप नरकों में घोर यातनाएँ सही और अब भी तू दीन पशुओं को मार-मार कर खा रहा है और पापार्जन कर रहा है। मुनिराज के वचनों को सुन कर उसे जाति स्मरण हो गया और अपने पूर्व भवों को याद करके हरिण को छोड़ कर आँखों से अश्रुधारा बहाते हुए निश्चल खड़ा रहा। उन मुनिराज ने उसे निकट भव्य और अन्तिम तीर्थंकर जानकर धर्मोपदेश दिया तथा पशु मारने और मांस खाने का त्याग कराया, सम्यक्त्व को ग्रहण कराया, जो बराबर अन्तिम तीर्थंकर महावीर के भव तक बना रहा। अन्त में संन्यास पूर्वक मरण कर वह सिंह स्वर्ग में देव हुआ।

पुन: संसार भ्रमण करता हुआ ३१वें भव में नन्द राजा हुआ और प्रोष्ठिल मुनिराज के पास धर्म का स्वरूप सुन कर जिनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। इसी मध्य षोडश कारण भावनाओं का चिन्तवन करते हुए तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया और समाधि पूर्वक मरण करके प्राणत स्वर्ग में देव हुआ। यहाँ आयु पूर्ण करके राजा सिद्धार्थ के महावीर नाम का पुत्र होता है। पूर्व भव के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आध्यात्मिक विकास की चरमोत्कर्ष स्थिति तक पहुँचना किसी एक भव की साधना का परिणाम नहीं है इसके लिए अनेकों भवों तक साधना करनी पड़ती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज से लगभग २६०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर के जन्म के समय भारत वर्ष में हिंसा का खुला ताण्डव नृत्य हो रहा था। पशुओं को यज्ञ में होमा जाता था। अश्वमेध, गोमेध आदि यज्ञ होते रहते थे। यहाँ तक कि नरमेध नाम का यज्ञ भी होता था, जिसमें रूप-यौवन सम्पन्न मनुष्यों तक की यज्ञ में आहुति दी जाती थी। महिलाओं की इज्जत सुरक्षित नहीं थी। दिन में ही लूट-खसोट, डाँके, आगजनि होती रहती थी। जिनके कारण प्रजा भयाक्रान्त रहती थी। समस्त भारत की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो रही थी। शूद्रों को धर्म का अध्ययन-श्रवण करना वर्जित था। उन्हें अधर्मी और अस्पृश्य समझा जाता था। दास-दासी प्रथा का बोलबाला था और इन पर घोर अत्याचार होता था। चौराहों पर इनकी नीलामी होती थी और इन्हें बन्धक बनाकर रखा जाता था। इस प्रकार की धार्मिक एवं सामाजिक विषम परिस्थितियों के समय भगवान महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ। सम्पूर्ण संसार में शान्ति की लहर दौड़ गई। स्वर्गों में भी वादित्र बजने लगे जिससे यह ज्ञात हुआ कि पृथ्वी तल पर भगवान का जन्म हुआ है। सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से सभी इन्द्र पृथ्वी तल पर आये और भगवान का जन्म कल्याणक मनाया। पाण्डुक-शिला पर भगवान का जन्माभिषेक किया गया। सौधर्म इन्द्र ने शची के साथ सभी इन्द्रों सहित नृत्य-गान करके जन्म की खुशियाँ मनाईं और भगवान का 'वर्धमान' नाम रखकर सभी वापस स्वर्ग को चले गये। भगवान जन्म से ही तीन ज्ञान – मति, श्रुत, अवधि के धारक थे। उन्हें विद्याध्ययन की विशेष आवश्यकता नहीं थी। बाल्यकाल में अनेक घटनाएँ हुईं जिनके कारण उनका नाम वीर, महावीर, अतिवीर और सन्मति रखा गया। उस समय भारतवर्ष की जो सामाजिक परिस्थितियाँ थीं उनका महावीर ने बहुत बारीकी से अध्ययन/चिंतवन किया और निर्णय किया कि मैं अपना जीवन जनता के उद्धार में ही लगाऊँगा। फलस्वरूप उन्होंने विवाह नहीं किया और राज्य भार संभालने से भी इंकार कर दिया।

महावीर ने तीस वर्ष की आयु में मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी को जिनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली, उसी समय मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। सर्वप्रथम उनका आहार राजा 'कूल' के यहाँ हुआ। पश्चात् बारह वर्ष तक आत्म-साधना में लीन हो गये। वैसाख शुक्ला दशमी को केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई, अब वे महावीर से भगवान महावीर हो गये। उसी समय सौधर्म की आज्ञा से कुबेर ने समवशरण (धर्मसभा) की रचना की। गणधर का अभाव होने के कारण ६६ दिन तक दिव्यध्वनि प्रगट नहीं हुई। निमित्त पाकर इन्द्रभूति गौतम भगवान महावीर के प्रथम गणधर हुए। इस प्रकार ६६ दिन बाद श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को भगवान का प्रथम धर्मोपदेश हुआ। तीस वर्ष तक वे निरन्तर पृथ्वीतल पर विहार करते रहे और समाज को सभी प्रकार की हिंसा का तर्क-संगत विरोध करने का उपदेश दिया। उन्होंने तर्क दिया कि संसार में प्रत्येक प्राणी (जीवमात्र) स्वतंत्र है, उसे भी जीने का उतना ही अधिकार है जितना हमें है। भगवान महावीर ने एक बहुत बड़ा मूल मंत्र दिया 'जिओ और जीने दो'। इस मंत्र के माध्यम से अहिंसा की पुन: स्थापना हुई। इसके सार को जन-जन तक पहुँचाया गया, परिणाम यह हुआ कि उस समय व्याप्त धर्मान्धता दूर हुई। महावीर की सोच अत्यन्त व्यापक थी। उनके उपदेश वाणी तक ही सीमित नहीं थे, उन्होंने पहले स्वयं के जीवन में उतारा, अनुभव किया तत्पश्चात् उपदेश दिया। परिणाम स्वरूप अहिंसक समाज का निर्माण हुआ। भगवान ने आचरण की शुद्धि पर विशेष बल दिया।

उन्होंने कहा – 'जब तक मनुष्य का आचरण शुद्ध नहीं होता, उस समय तक आत्मिक उत्थान होना संभव नहीं है।' इसके लिए महावीर ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – ये पाँच नियम (व्रत) आवश्यक बताये। गृहस्थ के लिए अणुव्रत और मुनि के लिए महाव्रत के रूप में पालन करने को कहा।

❐ अमृत कलश, १५७ श्रीजी नगर,
दुर्गापुरा, जयपुर ३०२०१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर के विचार : विश्वशान्ति के व्यवहार

❑ डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'

२४वें तीर्थंकर भगवान महावीर का जन्म ५९९ वर्ष ईसा पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को वैशाली के निकटस्थ कुण्डग्राम में वहाँ के नृपति सिद्धार्थ के यहाँ उनकी रानी प्रियकारिणी त्रिशला के गर्भ से हुआ था। जन्म के साथ उनका नाम वर्द्धमान रखा गया, क्योंकि उनके जन्म से संपूर्ण प्रकृति एवं मानव समाज में हर स्तर पर वृद्धि देखी और अनुभव की गई। कालांतर में वे वीर, अतिवीर, सन्मति और महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुये। वे सामान्य से असाधारण व्यक्तित्व को प्राप्त होकर महान बने। उनके सिद्धान्त और उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षाओं ने जन सामान्य को प्रभावित और लाभान्वित किया। अत: आज भी पूज्य हैं और उनके विचार आज भी प्रासंगिक हैं। मैं उनके २६०६वें जन्म दिवस चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के अवसर पर सभी को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ प्रेषित करते हुए कहना चाहता हूँ कि हम सभी उसी मार्ग का अनुसरण करें, जिसे भगवान महावीर ने बताया और प्रशस्त किया था।

व्यक्ति विकास करना चाहता है – देह से लेकर आत्मा तक। हम जिस परवेश में होंगे वहाँ यदि अनुकूलता होगी तो विकास के अवसर होंगे और यदि प्रतिकूलता होगी तो विकास की गति रुकेगी। भगवान महावीर की दृष्टि में हमारी आत्मा ही सर्वोपरि साध्य और मनुष्य शरीर ही सर्वोतम साधन है। भगवान महावीर के विचार नैतिकता, शरणागत वात्सल्य, समभाव, सौहार्द्र और सर्वोत्कर्ष की भावना से युक्त हैं। भगवान महावीर स्वामी ने स्वात्मबल से विपरीत परिस्थितियाँ होने पर भी उस युग में सर्व प्रथम पराधीनता, शोषण, नरबलि, पशुबलि, यज्ञकर्म में हिंसा, नारी परतंत्रता आदि दुष्प्रवृत्तियों का विरोध किया और प्राणी-प्राणी में एकात्म रूप समानता मानकर अमीर-गरीब और ऊँच-नीच की दूरी समाप्त करने के लिए प्राणी हितार्थ अहिंसक एवं अपरिग्रही क्रान्ति का सूत्रपात किया। उनकी यह क्रान्ति न एक के लिए थी, न अनेक के लिए थी; बल्कि सबके लिए थी। यह वर्गोदय के विपरीत सर्वोदय की सार्थक पहल थी। उनका मानना था कि मनुष्य जन्म से न दुराचारी होता है न सदाचारी; बल्कि उसके कुकर्म ही उसे दुराचारी और सुकर्म ही सदाचारी बनाते हैं। उन्होंने जातिमूलक और दैवमूलक व्यवस्था के विपरीत पुरुषार्थवादी कर्ममूलक व्यवस्था को उचित मानते हुए उद्घोष किया कि मनुष्य जन्म से नहीं अपितु कर्म से महान बनता है। अत: महान बनने के लिए ऐसे विचार एवं कार्य किये जायें जिनसे किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। यही कारण है कि उन्होंने शारीरिक (कायिक) हिंसा के साथ-साथ वैचारिक हिंसा के त्याग पर बल दिया। यह सत्य है कि मन के विचार ही वाणी में प्रस्फुटित होते हैं और कालान्तर में हिंसा का मार्ग पकड़कर शारीरिक क्षति या कायिक हिंसा में बदल जाते हैं। अत: सबसे पहले हमें मन को पवित्र बनाना चाहिए। मन की पवित्रता पवित्र भावों से ही आ सकती है। इसलिए कहा गया है कि –

जं इच्छसि अप्पणतो जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्सवि य एत्ति एगं जिणसासणं ।।

अर्थात् जैसे तुम अपने प्रति चाहते हो और जैसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम अपने प्रति नहीं चाहते हो; दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो। जिनशासन का सार सिर्फ इतना ही है।

'भगवती आराधना' में आचार्य शिवार्य ने लिखा है कि –

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिं पि जाण जीवाणं।
एवं णच्चा अप्पोव मिवो जीवेसु होदि सदा॥

अर्थात् जिस प्रकार तुम्हें दु:ख प्रिय नहीं है वैसे ही अन्य जीवों को भी दु:ख प्रिय नहीं है; ऐसा ज्ञात कर सर्व जीवों को आत्मा के समान समझकर दु:ख से निवृत्त हो।

भगवान महावीर ने कहा कि धर्म वही है जिसमें विश्व बंधुत्व की भावना हो; जिसका आदर्श स्वयं जिओ और दूसरों का जीने दो का हो। जहाँ प्राणी का हित नहीं वहाँ धर्म कदापि संभव नहीं है। अत: ''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' की भावना को जीवन में चरितार्थ करना आवश्यक है। वैसे ही संसार में जितने जीव हैं वे एक-दूसरे का उपकार करके ही जीवित रह सकते हैं। अपकार करने वाला न तो जी सकता है और न सुख-शान्ति को प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति एक जैसे कार्यों के लिए अपना पारिश्रमिक नहीं लेते थे अपितु एक-दूसरे के विचारों, कार्यों, श्रम एवं वस्तु का विनिमय करते थे। इन कारणों से उस समय का मानव आर्थिक संकटों से पीड़ित नहीं था, किन्तु धर्माचरण के लिए व्यक्ति धर्मान्धों और पाखण्डियों के चक्कर में इतना फँसा हुआ था कि स्वविवेक का प्रयोग न कर मात्र पशु-नरबलि रूप घोर निंद्य पापाचरण को ही धर्माचरण मान बैठा था। ऐसे समय आवश्यकता थी उनका स्वविवेक जगाने की, उनके पुरुषार्थ के उद्घाटन की और यह कार्य किया भगवान महावीर ने अपने सर्वोदय तीर्थ के माध्यम से। यह सर्वोदय तीर्थ आज भी जयवन्त है, जरूरी है।

भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित सर्वोदय का तात्पर्य था – मनुष्य के अन्तर में विद्यमान सद्गुणों का उदय। सद्गुणों के द्वारा ही मनुष्य अपने विकारों पर विजय प्राप्त कर सकता है। विकारों पर पूर्ण विजय रूप लक्ष्य से परम लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। वास्तव में सर्वोदय का सिद्धान्त ऐसी आध्यात्मिक भित्तियों पर स्थित है जो व्यक्ति को अकर्मण्य से कर्मण्य और कर्तव्य परायण बनने की प्रेरणा देता है; साथ ही पर से निज की ओर और निज से पर की ओर का संकेत भी; अत: पहले स्वयं का आचरण निर्मल बनायें बाद में अपने जैसा चारित्रवान बनने की दूसरों को प्रेरणा दें।

''सर्वजन हिताय-सर्वजन सुखाय'' अमृतरूपी जिनवाणी के उपदेष्टा भगवान महावीर स्वामी के इस धर्मतीर्थ को विक्रम की चतुर्थ शताब्दी में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने ''सर्वोदय तीर्थ'' की संज्ञा देते हुए कहा है कि –

सर्वान्तवद् तदगुण मुख्य कल्पं,
सर्वान्त शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्॥
सर्वापदामन्तकरं निरन्तम्,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

अर्थात् हे भगवान महावीर ! आपका सर्वोदय तीर्थ सापेक्ष होने से सभी धर्मों को लिए हुए है। इसमें मुख्य और गौण की विवक्षा से कथन है। अत: कोई विरोध नहीं आता; किन्तु मिथ्यावादियों के कथन निरपेक्ष होने से संपूर्णत: वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करने में असमर्थ हैं। आपका शासन/तत्त्वोपदेश सर्व आपदाओं का अन्त करने और समस्त संसार के प्राणियों को संसार-सागर से पार करने में समर्थ है, अत: वह सर्वोदय तीर्थ है।

भगवान महावीर ने कहा कि एक दूसरे के विचारों का आदर करो, भले ही वे तुम्हें इष्ट हों या न हों। उन्होंने अहिंसा मूलक आचार व्यवस्था और अनेकान्त मूलक विचार व्यवस्था का प्रतिपादन किया। जब दृष्टि आचारोन्मुख होती है तो वह अहिंसा से युक्त हो जाती है और जब यह विचारोन्मुखी होती है तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्त से युक्त हो जाती है। अनेकान्त बताता है कि वस्तु के अनेक पक्ष होते हैं। जिनका एक साथ व्यवहार या कथन संभव नहीं है, अत: मुख्य और गौण की विवक्षा लेकर कथन करना चाहिए। आज जो राष्ट्र एक-दूसरे के विचारों का आदर करते हुए संवाद के लिए तैयार होते हैं, संवाद करते हैं वे अपनी समस्याओं को भी सुलझा लेते हैं और अपने आप को आत्मनिर्भरता की ओर भी ले जाने में समर्थ हो जाते हैं। वैचारिक संवाद का ही परिणाम है कि आज विश्व शीत युद्ध के भय को पीछे छोड़ चुका है। भगवान महावीर का यह अनेकान्तात्मक विचार वैचारिक हिंसा से तो बचाता ही है, वह दैहिक हिंसा को भी वर्जित करता है।

पश्चिमी देशों में यह माना जाता है कि बहुसंख्यक लोगों का सुख, उनका अभ्युदय बढ़ाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। सुख का अर्थ वे मात्र शारीरिक या आर्थिक मानते हैं, आत्मिक नहीं। वे यदि बहुतों को सुख मिलता है तो कुछ लोगों को पीड़ा पहुँचाने के लिए भी बुरा नहीं मानते; जबकि भगवान महावीर द्वारा निर्दिष्ट सर्वोदय न तो अल्पसंख्यक है, न ही बहुसंख्यावादी। उसका उद्देश्य १०० में से ५१ या १०० में से ९९ का उदय नहीं; बल्कि १०० में १०० का उदय है, इसलिए वर्तमान के उपयोगितावादियों के अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख का सिद्धान्त उनके विचारों से मेल नहीं खाता।

भगवान महावीर स्वामी ने जीवन के विकास हेतु अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य; ये पाँच सूत्र बताये; जिनसे व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। वास्तव में सामाजिक उत्थान करने के लिए एक यह आदर्श व्यवस्था है। यह सिद्धान्त सामाजिक जीवन का इस प्रकार संगठन व संवर्द्धन करना चाहते हैं कि प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति अपना पूर्ण विकास कर सके। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह दूसरे के विकास के लिए साधन उपलब्ध कराये।

भगवान महावीर के विचार एक वैचारिक क्रान्ति हैं जिनका हिंसा में नहीं अहिंसा में अटूट विश्वास है। इन विचारों का पालक सत्याचरण में आस्था रखता है। अचौर्य उसकी साधना है और अपरिग्रह उसका लक्ष्य है। वह आवश्यकता से अधिक धन का संचय नहीं बल्कि त्याग करता है और वह भी स्वेच्छा से। वह जोड़ने से अधिक छोड़ने में विश्वास करता है। तभी उसे ब्रह्मचर्य रूप साध्य की प्राप्ति होती है। आज जीवन में सत्य की साधना कठिन हो गयी है, जबकि इसके बिना सामाजिक समरसता, शुचिता और सर्वोदय की भावना नहीं बन सकती है। सच्चाई के रास्ते पर चलने वाला व्यक्ति ही सामाजिक होता है जिसका लक्ष्य है – "भूमा वै सुखं, नाल्पे सुखमस्ति" अर्थात् समष्टि के सुख में ही मानव का सच्चा सुख निहित है, अल्प के सुख में सुख नहीं है।

भगवान महावीर ने कहा कि कामनाओं को जीतो; क्योंकि कामनाओं का कोई अन्त नहीं है। कामनायें असीम हैं और व्यक्ति भी अनेक हैं। हम सोचें कि हम किसको क्या दे सकते हैं? दाता का भाव रखना समष्टि हित के लिए जरूरी है। दूसरे या समष्टि के उत्थान की चाह सर्वोदय की सक्रियता की हार्दिक भावना का प्रतीक है।

आज हम जिस आतंकवाद को देख रहे हैं उसके मूल में कहीं न कहीं अधिकतम भूमि, अधिकतम राज्य और अधिकतम संसाधनों पर अपना कब्जा करना है। भगवान महावीर की दृष्टि में यह सोच ही गलत है। वे कहते हैं कि प्रकृति के पास इतना है कि वह तुम्हारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है; लेकिन तुम्हारी इच्छाओं की नहीं, क्योंकि इच्छायें असीम होती हैं जिनकी पूर्ति न इच्छा करने वाला कर सकता है और न ही कोई शासक या राजा। अत: सर्वप्रथम अपनी इच्छाओं को संयमित करो और जो संसाधन तुम्हें प्राप्त हैं उनका बेहतर उपयोग करते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीना सीखो। जो व्यक्ति सहअस्तित्व में विश्वास करता है, दूसरे के विचारों का आदर करता है वह कभी भी किसी की हिंसा नहीं कर सकता। जरूरी है कि हम व्यक्ति के मन में सद्विचार और अहिंसक भावनाओं को प्रतिष्ठित करें। उसे संयम से जीना सिखायें।

भगवान महावीर ने कर चोरी को राष्ट्रदोह मानते हुए इसे असत्य आचारण माना है। जो राष्ट्र के विकास के लिए आर्थिक विषमता दूर करना चाहते है उन्हें शोषण और शोषणकारियों से बचना चाहिए। आर्थिक विषमता के कारण सामाजिक शोषण भी होता है। यह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष चोरी से उत्पन्न होता है। इससे बचने के लिए भगवान महावीर ने कहा कि श्रम करो, श्रम का आदर करना सीखो। वे सच्चे अर्थों में श्रमण थे। उन्होंने अस्तेय/अचौर्य को परिभाषित करते हुये कहा कि 'अदत्तादानमस्तेयं' अर्थात् बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करना चोरी है। कल, बल, छल या दूसरे तरीकों से जिस पर अपना अधिकार नहीं है उन वस्तुओं का स्वयं ग्रहण करना, दूसरों को दे देना चोरी है। इससे बचना चाहिए। जो व्यक्ति अस्तेय भावना को अपना लेता है वह राष्ट्र की संपदा का सबसे बड़ा संरक्षक होता है।

भगवान महावीर ने बताया कि संसार के सभी प्राणियों में एक जैसी आत्मा है। भले ही उनके शरीर उनकी गतियों के अनुरूप हो सकते हैं। इस भेद के आधार पर किसी का हनन नहीं करना चाहिए। जिओ और जीने दो का सिद्धान्त यही बताता है।

उन्होंने कहा कि –

सव्वे पाणा पियाउआ सुहसाया दुक्खपडिकूला।
अपियवहा पियजीविणो जिविउ कामा।।

सव्वेसिं जीवियं पियं

अर्थात् सभी प्राणियों को आयु प्रिय है। सभी सुख चाहते हैं, दुःख से घबड़ाते हैं। वध नहीं चाहते हैं, जीने की इच्छा करते हैं, सबको अपना जीवन प्यारा है। यदि हमें अपने अस्तित्व को बचाये रखना है तो हमें दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए। सही सहिष्णुता है और सही सहअस्तित्व की भावना है।

समाज के कमजोर वर्ग के उत्थान के लिए अपनी संपदा का स्वेच्छा से विजर्सन करना अपरिग्रह है। समाज में संग्रह की प्रवृत्ति उथल-पुथल मचाती है। यदि इसका उचित समाधान नहीं किया गया तो जनसंघर्ष या वर्ग संघर्ष की स्थिति बनती है। अतः न तो अधिक धन का प्रदर्शन करना चाहिए और न ही आवश्यकता से अधिक धन का संचय करना चाहिए। तभी हम शांति से जीवन-यापन कर सकते हैं। सुख, शांति त्याग में है, संचय में नहीं।

भगवान महावीर ने नारियों का सम्मान सुरक्षित करना पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्य माना, क्योंकि नारी समाज की महत्वपूर्ण इकाई है। चंदना के उद्धार से उन्होंने यह संदेश जन-जन में दिया कि स्त्री भी समाज में पुरुषों की तरह आदर एवं सम्मान की पात्र है। आज तो लोग गर्भ में ही कन्याओं की भ्रूण हत्या कर रहे हैं उन्हें इस पाप से बचना चाहिए। यह राष्ट्र एवं समाज के प्रति द्रोह है जिसकी अनुमति न धर्म देता है और न समाज। संयमी जीवन सुख का संवाहक होता है, इसलिए भगवान महावीर ने स्वस्त्री या स्वपुरुष से ही रमण करने का गृहस्थों को संदेश दिया और साधुओं से कहा कि वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए आत्महित करें। इस नियम का पालन करने पर एड्स जैसी भयंकर बीमारी की उत्पत्ति को रोका जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान महावीर के विचार आज भी प्रासंगिक हैं और यह सभी समस्याओं का समुचित समाधान करने में समर्थ है। हम सब इन्हें अपनाकर अपना जीवन सुखमय बना सकते हैं।

❐ एल-६५, न्यू इन्दिरा नगर, बुरहानपुर (म.प्र.)
फोन नं. २५७६६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर का जीवन घटना प्रधान क्यों नहीं?

❑ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जितने गूढ़, गंभीर व ग्राह्य हैं, उनका वर्तमान जीवन (भव) उतना ही सादा, सरल एवं सपाट है, उसमें विविधताओं को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। उनका वर्तमान जीवन घटना-बहुल नहीं है। घटनाओं में उनके व्यक्तित्व को खोजना भी व्यर्थ है।

घटना समग्र-जीवन के एक खण्ड पर प्रकाश डालती है। घटनाओं में जीवन को देखना उसे बाँटना है। भगवान महावीर का व्यक्तित्व अखण्ड है, अविभाज्य है, उसका विभाजन संभव नहीं है। उनके व्यक्तित्व को घटनाओं में बाँटना, उनके व्यक्तित्व को खण्डित करना है।

अखण्डित दर्पण में बिम्ब अखण्ड और विशाल प्रतिबिम्बित होते हैं, किन्तु कांच के टूट जाने पर प्रतिबिम्ब भी अनेक और क्षुद्र हो जाते हैं। उनकी एकता और विशालता खण्डित हो जाती है। वे अपना वास्तविक अर्थ खो देते हैं।

भगवान महावीर के आकाशवत् विशाल और सागर से गंभीर व्यक्तित्व को बालक वर्द्धमान की बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से जोड़ने पर उनकी गरिमा बढ़ती नहीं, वरन् खण्डित होती है।

'सन्मति' शब्द का कितना भी महान अर्थ क्यों न हो, पर केवलज्ञान की विराटता को वह अपने में नहीं समेट सकता। केवलज्ञानी के लिए सन्मति नाम छोटा ही पड़ेगा, ओछा ही रहेगा। वह केवलज्ञानी की महानता व्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सकता। जिनकी वाणी एवं दर्शन ने अनेकों की शंकाएँ समाप्त की हों, अनेकों को सन्मार्ग दिखाया हो, सत्पथ में लगाया हो, उनकी महानता को किसी एक की शंका को समाप्त करने वाली घटना कुछ विशेष व्यक्त नहीं कर सकती।

बढ़ते तो अपूर्ण हैं, जो पूर्णता को प्राप्त हो चुका हो – उसे 'वर्द्धमान' कहना कहाँ तक सार्थक हो सकता है? इसी प्रकार महावीर की वीरता को सांप और हाथी वाली घटनाओं से नापना कहाँ तक संगत है? यह एक विचारने की बात है।

यद्यपि महावीर के जीवनसंबंधी उक्त घटनाएँ शास्त्रों में वर्णित हैं, तथापि वे बालक वर्द्धमान को वृद्धिंगत बताती हैं, भगवान महावीर को नहीं। सांप से न डरना बालक वर्द्धमान के लिए गौरव की बात हो सकती है, हाथी को वश में करना राजकुमार वर्द्धमान के लिए प्रशंसनीय कार्य हो सकता है, भगवान महावीर के लिए नहीं। आचार्यों ने उन्हें यथास्थान ही इंगित किया है। वन-विहारी पूर्ण अभय को प्राप्त महावीर एवं पूर्ण वीतरागी सर्वस्वातंत्र्य के उद्घोषक तीर्थंकर भगवान महावीर के लिए साँप से न डरना, हाथी को काबू में रखना क्या महत्व रखते हैं?

तीर्थंकर महावीर के विराट व्यक्तित्व को समझने के लिए हमें उन्हें विरागी-वीतरागी दृष्टिकोण से देखना होगा। वे धर्म क्षेत्र के वीर, अतिवीर और महावीर थे, युद्धक्षेत्र में पर को जीता जाता है और धर्मक्षेत्र में स्वयं को। युद्धक्षेत्र में पर को मारा जाता है और धर्मक्षेत्र में अपने विकारों को।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर की वीरता में दौड़-धूप नहीं, उछल-कूद नहीं, मारकाट नहीं, हाहाकार नहीं, अनन्त शांति है। उनके व्यक्तित्व में वैभव की नहीं, वीतराग-विज्ञान की विराटता है।

जब-जब यह कहा जाता है कि महावीर का जीवन घटना-प्रधान नहीं है, तब उसका आशय यही होता है कि दुर्घटना-प्रधान नहीं, क्योंकि तीर्थंकर के जीवन में आवश्यक शुभ घटनायें तो पंचकल्याणक ही हैं। वे तो महावीर के जीवन में घटी ही थीं। दुर्घटनाएँ घटना कोई अच्छी बात तो है नहीं कि जिनके घटे बिना जीवन, जीवन ही न रहे और एक बात यह भी तो है कि दुर्घटनाएँ या तो पाप के उदय से घटती है या पापभाव के कारण।

जिसके जीवन में न पाप का उदय हो और न पापभाव हो, तो फिर दुर्घटनाएँ कैसे घटेंगी, क्यों घटेंगी? अनिष्ट संयोग पाप के उदय के बिना संभव नहीं हैं तथा वैभव और भोगों में उलझाव पापभाव के बिना असम्भव है।

भोग के भावरूप पापभाव के सद्भाव में घटनेवाली घटनाओं में शादी एक ऐसी दुर्घटना है, जिसके घट जाने पर दुर्घटनाओं का कभी न समाप्त होनेवाला सिलसिला आरम्भ हो जाता है। सौभाग्य से महावीर के जीवन में यह दुर्घटना न घट सकी। एक कारण यह भी है कि उनका जीवन घटना-प्रधान नहीं है।

लोग कहते हैं कि बचपन में किसके साथ क्या नहीं घटता, किसके घुटने नहीं फूटते, किसके दांत नहीं टूटते? महावीर के साथ भी निश्चितरूप से यह सब कुछ घटा ही होगा, भले ही आचार्यों ने न लिखा हो।

पर भाई साहब ! दुर्घनाएँ बचपन से नहीं, बचपने से घटती हैं, महावीर के बचपन तो आया था, पर बचपना उनमें नहीं था, अत: घुटने फूटने और दांत टूटने का सवाल ही नहीं उठता। वे तो बचपन से ही सरल, शांत एवं चिंतनशील व्यक्तित्व के धनी थे। उपद्रव करना उनके स्वभाव में ही न था और बिना उपद्रव के दांत टूटना, घुटने फूटना संभव नहीं।

कुछ लोगों का कहना यह भी है कि न सही बचपन में, पर जवानी तो घटनाओं का ही काल है। जवानी में तो कुछ न कुछ घटा ही होगा।

पर बन्धुवर ! जवानी में दुर्घटनाएँ उनके साथ घटती हैं, जिन पर जवानी चढ़ती है महावीर तो जवानी पर चढ़े थे, जवानी उन पर नहीं। जवानी चढ़ने का अर्थ है – यौवन संबंधी विकृतियाँ उत्पन्न होना और जवानी पर चढ़ने का तात्पर्य शारीरिक सौष्ठव का पूर्णता को प्राप्त होना है।

उन्होंने द्रोह का अभाव किया था, अत: उन्हें अद्रोही ही कहा जा सकता है, विद्रोही नहीं। द्रोह, द्रोह को उत्पन्न करता है, द्रोह से अद्रोह का जन्म नहीं हो सकता। उन्होंने किसी के प्रति विद्रोह करके घर नहीं छोड़ा था। उनका त्याग विद्रोहमूलक न था। उनके त्याग और संयम के कारणों को दूसरों में खोजना उनके साथ अन्याय है। वे 'न काहू से दोस्ती न काहू से बैर' के रास्ते पर चले थे।

वैराग्य या विराग राग के अभाव का नाम है, विद्रोह का नाम नहीं। वे वैरागी राग के अभाव के कारण बने थे, न कि विद्रोह के कारण। महावीर वैरागी राजकुमार थे, न कि विद्रोही। महावीर जैसे अद्रोही महामानव में विद्रोह खोज लेना अभूतपूर्व खोजबुद्धि का परिणाम है, बालू में तेल निकालने जैसा यत्न है, बन्ध्या के पुत्र के विवाह-वर्णनवत् कल्पना की उड़ाने हैं, जिनका न ओर है न छोर।

घर में जो कुछ घटता है, अपनी ओर से घटता है, पर वन में तो बाहर से बहुत कुछ घट जाने के प्रसंग रहते हैं, क्योंकि घर में बाहर के आक्रमण से सुरक्षा का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रबंध प्राय: रहता है। यदि कोई उत्पात हो तो अन्तर के विकारों के कारण ही होता देखा जाता है, पर वन में बाहर से सुरक्षा-प्रबंध का अभाव होने से घटनाएँ घटने की सम्भावना अधिक रहती हैं। माना कि महावीर का अन्तर विशुद्ध था, अत: घर में कुछ न घटा, पर वन में तो घटा ही होगा?

हाँ ! हाँ अवश्व घटा था, पर लोक जैसे घटने को घटना मानता है, वैसा कुछ नहीं घटा था। राग-द्वेष घट गये थे, तब तो वे वन को गये ही थे। क्या राग-द्वेष का घटना कोई घटना नहीं है? पर बहिर्मुखी दृष्टिवाले को राग-द्वेष घटने में कुछ घटना सा नहीं लगता। यदि तिजोरी में से लाख दो लाख रुपया घट जायें, शरीर में से कुछ खून घट जाये, आँख, नाक, कान घट जाय, कट जाय तो इसे बहुत बड़ी घटना लगती है, पर राग-द्वेष घट जाय तो इसे घटना ही नहीं लगता।

वन में ही तो महावीर रागी से वीतरागी बने थे, अल्पज्ञानी से पूर्णज्ञानी बने थे। सर्वज्ञता और तीर्थंकरत्व वन में ही तो पाया था। क्या ये घटनाएँ छोटी हैं? क्या कम हैं? इनसे बड़ी भी कोई घटना हो सकती है? मानव से भगवान बन जाना कोई छोटी घटना है? पर जगत् को तो इसमें कोई घटना सी ही नहीं लगती। तोड़-फोड़ की रुचिवाले जगत् को तोड़-फोड़ में ही घटना नजर आती है। अन्तर में शान्ति से चाहे जो कुछ घट जाय, उसे वह घटना सा ही नहीं लगता। अन्तर में जो कुछ प्रतिपल घट रहा है, वह तो उसे दिखाई नहीं देता, बाहर में कुछ हलचल हो, तभी कुछ घटा सा लगता है।

महावीर के साथ वन में क्या घटा था ? वन में जाने से पूर्व ही महावीर बहुत कुछ तो वीतरागी हो ही गये थे, रहा-सहा राग भी तोड़, पूर्ण वीतरागी बनने, नग्न दिगम्बर हो, वन को चल पड़े थे। उनके लिए वन और नगर में कोई भेद नहीं रहा था। सब कुछ छूट गया था, वे सब से टूट गये थे। उन्होंने सब कुछ छोड़ा था; कुछ ओढ़ा न था। वे साधु बने नहीं, हो गये थे।

साधु बनने में वेष पलटना पड़ता है, साधु होने में स्वयं पलट जाता है। स्वयं के बदल जाने पर वेष भी सहज ही बदल जाता है। वेष बदल क्या जाता है, सहज वेष हो जाता है, यथाजात वेष हो जाता है; जैसा पैदा हुआ था वही रह जाता है, बाकी सब कुछ छूट जाता है।

वस्तुत: साधु की कोई ड्रेस नहीं है, सब ड्रेसों का त्याग ही साधु का वेष है। ड्रेस बदलने से साधुता नहीं आती, साधुता आने पर ड्रेस छूट जाती है। यथाजातरूप (नग्न) ही सहज वेष है। और सब वेष तो श्रमसाध्य हैं, धारण करनेरूप हैं। वे साधु के वेष नहीं हो सकते; क्योंकि उनमें गांठ है, उनमें गांठ बांधना अनिवार्य है। साधुता बंधन नहीं है, उसमें सर्वबन्धनों की अस्वीकृति है। साधु का कोई वेष नहीं होता, नग्नता कोई वेष नहीं। वेष साज-संभार है, साधु को सजने-संवरने की फुर्सत ही कहाँ है ? उसका सजने का भाव ही चला गया है। सजने में 'मैं दूसरों को कैसा लगता हूँ ?' का भाव प्रमुख रहता है। साधु को दूसरों से प्रयोजन ही नहीं है, वह जैसा है, वैसा ही है। वह अपने में ऐसा मग्न है कि दूसरों के बारे में सोचने का काम ही नहीं। दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं, इसकी उसे परवाह ही नहीं। सर्व वेष शृंगार के सूचक हैं, साधु को शृंगार की आवश्यकता ही नहीं। अत: उसका कोई वेष नहीं होता।

दिगम्बर कोई वेष नहीं है, संप्रदाय नहीं है; वस्तु का स्वरूप है। पर हम वेषों को देखने के आदी हो गये हैं कि वेष के बिना सोच ही नहीं सकते। हमारी भाषा वेषों की भाषा हो गई है। अत: हमारे लिए दिगम्बर भी वेष हो गया है। हो क्या गया – कहा जाने लगा है। सब वेषों में कुछ उतारना पड़ता है और कुछ पहिनना होता है, पर इसमें छोड़ना ही छोड़ना है, ओढ़ना कुछ भी नहीं। छोड़ना भी क्या, उघड़ना है, छूटना है। अन्दर से सब कुछ छूट गया है, देह भी छूट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गयी है, पर बाहर से अभी वस्त्र ही छूटे हैं, देह छूटने में अभी कुछ समय लग सकता है, पर वह भी छूटनी है; क्योंकि उसके प्रति भी जो राग था, वह टूट चुका है। देह रह गयी है तो रह गयी है, जब छूटेगी तब छूट जायेगी; पर परवाह उसकी भी छूट गयी है।

मुनिराज वर्द्धमान नगर छोड़ वन में चले गये। पर वे वन में भी गए कहाँ हैं ? वे तो अपने में चले गये हैं, उनका वन में भी अपनत्व कहाँ है ? उन्हें वनवासी कहना भी उपचार है, वे वन में भी कहाँ रहे ? वे तो आत्मवासी हैं। न उन्हें नगर से लगाव है, न वन से; वे तो दोनों से अलग हो गये हैं, उनका तो पर से अलगाव ही अलगाव है।

रागी वन में जायेगा तो कुटिया बनायेगा, वहाँ भी घर बसायेगा, ग्राम और नगर बसायेगा; भले ही उसका नाम कुछ भी हो, है तो घर ही। रागी वन में भी मंदिर के नाम पर महल बसायेगा, महलों में भी उपवन बसायेगा। वह वन में रहकर भी महलों को छोड़ेगा नहीं, महल में रहकर भी वन को छोड़ेगा नहीं।

नहाना-धोना सब कुछ छूट गया था। वे स्नान और दंत-धोवन के विकल्प से भी परे थे। शत्रु और मित्र में समभाव रखनेवाले मुनिराज वर्द्धमान गिरि कन्दराओं में वास करते थे।

वस्तुत: न उनका कोई शत्रु ही रहा था और न कोई मित्र। मित्र और शत्रु राग-द्वेष की उपज हैं। जब उनके राग-द्वेष ही समाप्तप्राय: थे, तब शत्रु-मित्रों के रहने का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया था। मित्र रागियों के होते हैं और शत्रु द्वेषियों के – वीतरागियों का कौन मित्र और कौन शत्रु। कोई उनसे शत्रुता करो तो करो, मित्रता करो तो करो; उन पर उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है। शत्रु-मित्र के प्रति समभाव का अर्थ ही शत्रु-मित्र का अभाव है। उनके लिए उनका न कोई शत्रु था और न कोई मित्र। अन्य लोग उन्हें अपना शत्रु मानो तो मानो, अपना मित्र मानो तो मानो; अब वे किसी के कुछ भी न रह गये थे। किसी का कुछ रहने में कुछ लगाव होता है, उन्हें जगत् से कोई लगाव ही न रहा था।

एक अघट घटना महावीर के जीवन में अवश्य घटी थी। आज से २५३३ वर्ष पहले दीपावली के दिन जब वे घट (देह) से अलग हो गये थे, घट-पट के वासी होकर भी घटवासी न रहे थे, गृहवासी और वनवासी तो बहुत दूर की बात है, अन्तिम घट (देह) को भी त्याग मुक्त हो गये थे।

इससे अभूतपूर्व घटना किसी के जीवन में कोई अन्य नहीं हो सकती, पर यह जगत इसको घटना माने तब न ?

इसप्रकार सर्वथा अलिप्त, सम्पूर्णत: आत्मनिष्ठ महावीर के जीवन को समझने के लिए उनके अन्तर में झांकना होगा कि उनके अन्तर में क्या कुछ घटा ? उन्हें बाहरी घटनाओं से नापना, बाहरी घटनाओं में बांधना संभव नहीं है।

यदि हमने उनके ऊपर अघट-घटनाओं को थोपने की कोशिश की तो वास्तविक महावीर तिरोहित हो जावेंगे, वे हमारी पकड़ से बाहर हो जावेंगे और जो महावीर हमारे हाथ लगेंगे, वे वास्तविक महावीर न होंगे, तेरी-मेरी कल्पना के महावीर होंगे।

यदि हमें वास्तविक महावीर चाहिए तो उन्हें कल्पनाओं के घेरों में न घेरिये, उन्हें समझने का यत्न कीजिए, अपनी विकृत कल्पनाओं को उन पर थोपने की अनधिकार चेष्टा मत कीजिए।

❐

– श्री टोडरमल स्मारक भवन,
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर की साधना

❑ डॉ. दयानन्द भार्गव विपुल

भगवान महावीर का एक ऐसा भी जीवन-वृत्त उपलब्ध है जो किसी प्रकार के अतिमानवीय (सुपर ह्युमन) तथा अतिप्राकृतिक (सुपर नेचुरल) अंश से सर्वथा मुक्त है, किन्तु जिसमें उनका महामानव रूप पूरी तरह उभरकर आता है। आज के बुद्धिवादी युग में ऐसे जीवन-वृत्त का महत्व और भी अधिक है – यह कहने की आवश्यकता नहीं। यह जीवन-वृत्त आँखों देखा हाल जैसा विश्वसनीय है। गवेषणात्मक दृष्टि से यह जीवन-वृत्त आचारांग में दिया गया है। अत: इसे भगवान महावीर का प्राचीनतम उल्लेख भी माना जा सकता है। महावीर जयन्ती के अवसर पर इसी जीवन-वृत्त का सार संक्षेप नीचे दिया जा रहा है। आचारांग का अधिकांश भाग गद्यात्मक है, किन्तु यह जीवन-वृत्त पद्यात्मक है। प्राचीनकाल में मनुष्य के लिए गद्य की अपेक्षा पद्य रचना अधिक सहज थी। अत: इस जीवन-वृत्त का पद्यात्मक होना इसकी अर्वाचीनता की अपेक्षा प्राचीनता ही सिद्ध करता है।

इस जीवन-वृत्त के कहने वाले हैं भगवान महावीर के साक्षात् शिष्य सुधर्मा स्वामी और सुनने वाले हैं जम्बू स्वामी। जीवन-वृत्त यहाँ से प्रारम्भ होता है कि जब भगवान महावीर ने यथार्थ को जानकर संन्यास ग्रहण किया, तब हेमन्त ऋतु थी। उस हेमन्त ऋतु में भी उन्होंने शरीर को वस्त्र से आच्छादित नहीं करने का निर्णय किया। उनके शरीर पर प्रारम्भ में सुगन्धित द्रव्यों का लेप था, जिससे आकृष्ट होकर भौंरें उनके शरीर पर आते और डंक मारते, किन्तु वे उस कष्ट को अविचलित भाव से सहन करते।

वे लम्बे समय तक त्राटक करते। स्त्रियाँ उन्हें लुभाने का प्रयत्न करतीं, किन्तु वे विचलित नहीं होते थे। वे न सम्मान करने वालों पर कोई अनुग्रह करते थे, न पीड़ा देने वालों का निग्रह। वे इन्द्रियों तथा मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति पर संयम रखते थे। वे न हिंसा करते थे, न किसी से करवाते थे। न वे स्वयं पात्र रखते थे, न किसी दूसरे के पात्र उपयोग करते थे, वे करपात्री थे।

वे मात्रानुसार ही खाते-पीते थे, रसीला भोजन नहीं करते थे। वे इस प्रकार चलते थे कि किसी को कष्ट न हो। वे निर्वस्त्र तो थे ही, शिशिर में भी हाथों को शरीर से चिपका कर सर्दी से बचने का प्रयत्न नहीं करते। लोग उनका परिचय पूछते तो वे चुप रहते। इस पर लोग उन पर क्रुद्ध होते, पर वे शान्त रहते। कोई उनके कहीं रहने पर आपत्ति करता तो वे उस स्थान को छोड़ देते। वे कम खाते थे। रोग होने पर औषधि नहीं लेते थे। तैल-मर्दन तो दूर वे दन्त प्रक्षालन से भी बचते। शिशिर में वे धूप में रहते। वे अत्यन्त रूखा-सूखा भोजन करते। वे लम्बे समय तक निराहार तथा निर्जल रहते थे। उनका मन समाधि में लगा था। वे पाप न करते, न करवाते, न अनुमोदन करते। उन्होंने क्रोध, मान, माया तथा लोभ को शान्त कर दिया। वे शब्द और रूप के प्रति पूर्णत: अनासक्त रहे। उन्होंने कभी प्रमाद नहीं किया। उनके मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति पूर्णत: संयत थी। वे पूरे साधना काल में इसी प्रकार अप्रमत्त रहे।

तो ऐसा है भगवान महावीर की चर्या का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीनतम उल्लेख। न कहीं देवी-देवताओं जैसी अलौकिक शक्तियों का दखल, न नरक-स्वर्ग जैसी परोक्ष अवधारणाओं का उल्लेख, न कहीं भगवान महावीर की किसी ऐसी शक्ति का उल्लेख जो सहसा अविश्वसनीय हो। सम्पूर्ण जीवन-वृत्त ऐसा है मानों स्वयं भगवान महावीर ने अपने मुख से ही सुधर्मा स्वामी को सुनाया हो। भगवान महावीर की उपरोक्त जीवनचर्या एक ऐसे पुरुषार्थमय जीवन की गाथा है जो हमें भी पुरुषार्थ के लिए प्रेरित करती है। वह न अविश्वसनीय है, न ऐसी कि हम उसका अनुसरण न कर सकें।

महावीर का एक ही लक्ष्य था। उस लक्ष्य को सत्य का साक्षात्कार कहें, आत्म-साक्षात्कार कहें, मुक्ति कहें, कषाय-विजय कहें या और कोई भी नाम दें। उस लक्ष्य के पीछे उन्होंने सुख-सुविधा छोड़ी और प्रतिकूलता स्वेच्छा से ओढ़ी भी। इसे लक्ष्यैकचक्षुष्कता कहें या तप। उन्होंने उपादान को ही महत्व दिया, निमित्तों को नहीं। सतत् जागरुकता उनका एकमात्र ध्येयवाक्य था। प्रमाद को उन्होंने विषधर सर्प की भाँति त्याज्य माना। जिन भोगों के पीछे सामान्य व्यक्ति दौड़ता है, उन भोगों से वे इस तरह दूर रहे जैसे प्रज्वलित दावानल से दूर रहा जाता है।

उन्होंने अहिंसा का इस दृढ़ता से पालन किया कि चाहे स्वयं को कितना भी कष्ट हो किन्तु किसी छोटे से छोटे प्राणी को रंचमात्र भी कष्ट देना उन्हें स्वीकार्य नहीं था। उन्होंने पाया कि अहिंसा और सुख-भोग-सुविधा एक साथ नहीं रह सकते। अत: उन्होंने कष्ट-सहिष्णुता और कठोर तपश्चर्या के द्वारा अहिंसा को साधा, आरामतलबी द्वारा नहीं। वे विलासिता से तो कोसों दूर रहे। उन्होंने अपनी पैनी अन्तर्दृष्टि से पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तक में चेतना को देख लिया। वनस्पति की तो बात ही क्या ? अत: उनकी अहिंसा इतनी व्यापक थी कि वे भूतमात्र के प्रति करुणा से भरे थे।

भगवान महावीर के उपदेशों को आज नए संदर्भों में देखने की आवश्यकता है। हम जहाँ-तहाँ खनिजों की खोज में पृथ्वी को खोद डाल दे रहे हैं, जल को और वायु को प्रदूषित कर रहे हैं। पर्यावरणविद् स्थावरों की इस हिंसा से चिन्तित हैं। विकास के नाम पर विलासिता बढ़ रही है और साथ ही अमीर और गरीब के बीच की खाई भी बढ़ रही है। बड़े कष्टों की कौन कहे, हम तो अहंकार पर छोटी सी चोट पड़ने पर संसार को सिर पर उठा लेते हैं ? पचासों बातें हैं, महावीर जयन्ती पर उनमें से कोई पाँच बातें ही तो ग्रहण करें। ऐसा करके हम अपना कल्याण करेंगे, कोई महावीर स्वामी पर अहसान नहीं करेंगे। ❐

– डी-१४८, जी-१, पैराडाइज अपार्टमेन्ट, दुर्गामार्ग, बनीपार्क, जयपुर

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमस्संति जस्स धम्मे सयामणो।।

– धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है, जो अहिंसा, संयम और तपरूप है।
जिसका मन उस धर्म में संलग्न है, उसे देवता भी प्रणाम करते हैं।
– सूत्रांग-आचारांग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्व शान्ति के प्रेरक भगवान महावीर

❐ श्रीमती चन्द्रकान्ता छाबड़ा

तीर्थंकर की श्रमण परम्परा में तीर्थंकर महावीर चौबीसवें तीर्थंकर हैं। वैशाली गणराज्य में जन्मे महावीर ने जनमानस में अहिंसा, अपरिग्रह, और अनेकान्त के सामाजिक मूल्यों की स्थापना कर प्राणी मात्र के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। विश्व के सामने महावीर ने समता की भूमि पर आरूढ़ होकर पारिवारिक, राजनैतिक तथा साम्प्रदायिक विघटन की मान्यताओं से परे रहने का आह्वान किया तथा अपने उपदेशों में अनेकान्त के मार्ग पर चल कर ही इस विघटन और वैमनस्यों से बचने का मार्ग बताया।

महावीर भगवान के सिद्धान्त किसी पंथ या देश तक ही सीमित नहीं है, समग्र मानव जाति के लिए उपयोगी हैं। विश्व के देशों में हथियारों की होड़ (मानव विनाशकारी अस्त्र) व आर्थिक प्रतिद्वंदता के कारण, जो कटुता (मारो हड़पो) की होड़ मची है, वो सब महावीर के अहिंसा के सिद्धांत के प्रचार-प्रसार से ही कम या हल हो सकती है। भगवान महावीर ने अपने दिव्यज्ञान के आलोक से जिन महान सिद्धांतों का प्रचार किया उनमें सर्वजीव समभाव और सर्व जाति समभाव सबसे मुख्य है और यही तीनों सिद्धांत रामबाण-औषधि है, जो विश्व की समस्याओं को आसानी से हल करके मानव जाति को सुख चैन अमन का मार्ग प्रशस्त कर सकते है। महात्मा गांधी ने भगवान महावीर के अहिंसा के सिद्धान्त के माध्यम से ही भारत को अंग्रेजों से आजाद कराया। भगवान महावीर ने विश्व को यह संदेश दिया कि प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान हैं। धर्म रहित मनुष्य पशु से भी गया-बीता है। महावीर के समोशरण में गाय व सिंह एक साथ बैठकर उनके उपदेश सुनते थे। यह उनकी अहिंसा का ही प्रभाव है। भगवान महावीर ने विश्व के सामने स्याद्वाद व अनेकान्त के द्वारा आपसी विरोधाभास तथा विभिन्न सम्प्रदायों के दृष्टिकोणों को समझना तथा उचित सम्मान देना सिखाया। स्याद्वाद वैयक्तिक व सामूहिक वैमनस्य तथा शत्रुता दूर करके एक-दूसरे के प्रति साम्यभाव स्थापित करने का एक सशक्त माध्यम है। इस प्रकार भगवान महावीर ने सामाजिक विषमता, ऊंच-नीच, असहिष्णुता इत्यादि का संदेश देकर मानव को विश्व बंधुत्व का संदेश दिया।

आज चारों ओर विश्व शान्ति के नारे तो लगाए जाते हैं, किन्तु विश्व शान्ति इन्सान से कोसों दूर है। अगर हमें हिंसादि पापों से विश्व जनमत को बचाना है तो हमें महावीर भगवान के पांच सूत्र १. अहिंसा २. सत्य ३. आचौर्य ४. ब्रह्मचर्य ५. अपरिग्रह आदि के माध्यम से विश्व को बताना होगा।

आज का मानव महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण, ईसा, अल्लाह आदि को तो मानने तैयार है, किन्तु उनकी बात (सिद्धान्त) मानने को तैयार नहीं है। ये महापुरुष हमारे लिए दर्पण की भांति हैं। आज विश्व में अज्ञान का अन्धकार छाया हुआ है, उसे दूर करने के लिए भगवान महावीर के सिद्धान्त उनकी देशना को अपनाना होगा। हमें महावीर बनने के लिए भोग में नहीं योग में जीना होगा। विश्व का नक्शा बदलने के पहले स्वयं का नक्शा बदलना होगा। यह कटु सत्य है कि इन्सान ही भगवान बनता है। भगवान कहीं आसमान से उतरकर नहीं आते हैं। अत: भगवान महावीर का तो प्राणीमात्र को यही आह्वान है कि निरीह पशुओं का कत्ल, दौलत के लिए खूनी जंग, सातों व्यसनों का और पांचों पापों का हमारी मानसिकता पर जड़त्व होना आदि कई बुराईयों को अहिंसा, सत्य, अचोर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के आचरण से दूर कर वसुधैव कुटुम्बकम् को चरितार्थ करें।

❐ ३५/८८, मानसरोवर जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर का सर्वोदय तीर्थ और श्रावकाचरण

❑ प्रवीण चन्द्र छाबड़ा

भगवान महावीर की अनेकान्तिनी धारा और दर्शन की स्वामी समन्तभद्राचार्य ने सर्वोदय-तीर्थ कह कर वन्दना की है। सर्वोदय-तीर्थ में उन्होंने श्रावक धर्म के लिए आचार-संहिता का निर्माण किया, जिससे श्रावक के लिए पाँच अणुव्रत तथा सप्त शिक्षाव्रत व नियमों की अनुपालना के साथ ग्यारह चरणों (प्रतिमा) का निर्धारण किया। इन प्रतिमाओं का धारी होकर श्रावक त्यागी विरागी होता हुआ वीतरागी होने का पथ प्रशस्त करता है। अपनी साधना द्वारा श्रमण होने की तैयारी करता है। श्रावक, श्रमण धर्म की धुरी है, संवाहक है। श्रावक का दर्शन विशुद्ध होता है। गृहस्थ होकर भी वह त्यागी-व्रती होता है। पद व सत्ता उसे विमोहित नहीं करती। वह किसी को बांधता नहीं, बंधता भी नहीं है। वह अपना स्वामी स्वयं होता है। अन्य के लिए भी स्वामी या दास नहीं होता है। वह राष्ट्र और समाज गरिमामय होता है, जिसके नागरिक श्रावक होते हैं। श्रावक अपनी स्वतंत्रता के प्रति जहाँ सावचेत है, वहाँ अन्य की स्वतंत्रता के प्रति संवदेनशील होता है। वह अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करता और करने भी नहीं देता।

श्रावक, अतिचारी, अविचारी, मायाचारी और कपटचारी नहीं होता। वह मिथ्या दोषारोपण नहीं करता, चुगली के लिए नहीं होता, झूंठी शपथ नहीं लेता। मिलावट व बनावट करने तथा चोर-बाजारी के लिए नहीं होता। क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय, राग-द्वेष से अपने को यथा शक्ति बचाये रहता है। श्रावक अपने लिए सीमा और परिधि निश्चित कर जीवन-जगत का व्यवहार करता है। श्रावक व्यापार व व्यवहार के लिए भी अपने से निर्धारित क्षेत्र में ही विहार करता है और उपयोग के लिए अर्जन करता है। भोजन, वस्त्र, अलंकार आदि भोग सामग्री का परिमाण किए रहता है। शारीरिक क्रियाओं में सावधान होता है। नियमित सामयिक, स्वाध्याय व ध्यान द्वारा भाव और भाषा को शुद्ध किए रहता है। अतिथि का सम्मान करता है। अपने शुद्ध अर्जन में से त्यागी, व्रतियों, मुनिराजों आदि को आहार देता है, सेवा करता है। अपने अर्जन का एक भाग दान के लिए रखता है, जो सुपात्र, जन-सेवा तथा लोक-कल्याण के लिए होता है।

श्रावक, गृहस्थ होकर भी लोकैषणा और प्रलोभन से अपने को बचाये रखता है। यह उसकी अनुपम साधना होती है। अपने सौख्य भाव से सबको अपना बनाये रखता है, सब में बाँट कर चलता है। श्रावक व्रती होता है और व्रत साधन के लिए होते हैं। कामना और आकांक्षा को लेकर व्रत वासना होता है, जो मूर्च्छा है, प्रमाद है। वह अपने सदाचरण को धार्मिक और सामाजिक दायित्व मान कर चलता है, उसका व्यापार नहीं करता। आचार, व्रत, नियम, बंधन नहीं होते, उपचार होते हैं। वह इनका दिखावा नहीं करता और इनके लिए सम्मान की अपेक्षा नहीं रखता। उनके लिए रूढ़िगत भी नहीं होता। रूढ़िगत होना जड़ के लिए होना है और दिखावा प्रवंचना है, धोखा है। व्रत अपने को संयमी व साधनामय बनाये रखने तथा अनुशासित किए रहने के लिए होते हैं।

श्रावक सद्नागरिक होता है। राष्ट्र और समाज के लिए होता है। अपनी स्वतंत्रता के साथ अन्य की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वतंत्रता के प्रति उपग्रही होता है, सहयोगी होता है। जनतंत्र की सफलता व राष्ट्र की समृद्धि तथा समाज का गौरव परस्पर सहयोगी होकर रहने तथा पुरुषार्थमय नागरिकों में निहित होता है। सब एक के लिए और एक सब के लिए होने लगते हैं तो जनतंत्र अपने से सार्थक हुआ जाता है। अन्य की कीमत पर सुविधा का भोग अतिक्रमण हैं जो संघर्ष के लिए होता है। वर्ग-वर्ण, जाति, भाषा व सीमाओं का संघर्ष और विरोध अतिक्रमण के कारण ही होता है। जनतंत्र की पहली शर्त है कि हर नागरिक अन्य के प्रति संवेदनशील हो, स्वतंत्रता में हस्तक्षेप नहीं करे। अपनी सीमा और मर्यादा में रहते हुए अपने लिए उपयोगी व उपभोगी रहे। कार फुटपाथ पर चलते नागरिक को धुआँ से भरती है, प्रदूषण का निर्माण करती है, चोट पहुँचाती है तो वह अतिक्रमण है। छड़ी रखने का अधिकार है, लेकिन घुमाते हुए किसी को आहत करने का नहीं है। जनतंत्र की पहली शर्त जन को सम्मान और स्वतंत्रता देना है। धन का प्रदर्शन अन्य को दयनीय बनाता है तो वह जन के प्रति द्रोह है। चोरी और जारी का चलना और इससे समाज को विद्रूप बना कर स्वेच्छाचारी होते जाना समाज को पतन की ओर ले जाना है। किसी भी व्यक्ति, परिवार या समाज को व्यवहार और आचार में स्वेच्छाचारी होने को अधिकार नहीं दिया जा सकता। साम्राज्यी व्यवस्था में प्रदर्शन और शान-शक्ति के लिए अवसर रहे हों, लेकिन जनतंत्र में इनको चलने देना अन्य सबको पराभूत करना है।

सर्वोदय तीर्थ में श्रावक समता के लिए होता है। वह समाज के प्रति अपने कर्तव्य बोध के साथ दायित्व के लिए होता है। अपने अधिकारों के लिए जागरुक होता है और अन्य के अधिकारों के प्रति सजग रहता है। वह अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन और संपदा के लिए आकृष्ट नहीं होता और बादल की तरह दिये रहने में होता है। करों की चोरी को अपराध मानता है। करों की चोरी वृत्ति होकर व्यवहार हो जाती है। तो ऐसा धन समाज में विषमता पैदा करता है। चोरी का यह धन अनाचार है और यह उछाल भी इसी तरह लेता है। श्रावक किसी भी स्थिति में अन्य की भावना को ठेस पहुँचाता नहीं है। अपने वैभव का प्रदर्शन वह नहीं करता। उसका वैभव धन नहीं, चरित्र होता है और वह अपने से व्यक्त होता है। श्रावक का जीवन-व्यवहार, विधि-विधान के अनुरूप होता है। वह निषेधात्मक नहीं होता। व्यसनों से बचना, रात्रि भोजन नहीं करना, मांस-मधु, कंदमूल आदि का सेवन नहीं करना भी उसका विधानी आचरण है। यह सब उसके चरित्र के साथ है। वह अपव्ययी नहीं होता। अपनी दैनिक-चर्या में भी जल, वायु, अग्नि आदि का अपव्यय नहीं करता। एक बूंद पानी भी अनावश्यक बिखरती है तो उसके लिए प्रायश्चित का कारण बनती है। वह उपभोग करता है सावचेत होते हुए। श्रावक जानता है कि हर वस्तु व पदार्थ उपयोग के लिए है। इनका उपभोग सहयोग के साथ है। वस्तु या पदार्थ की सीमा है और इन पर अधिकार और दुरुपयोग किए रहना अन्य को वंचित करना है। अनेकान्तिक धारा श्रावक की चिन्तन धारा होती है और वह कभी आग्रही होकर नहीं रहता, आग्रह राग है, मोह है जो बन्धन है।

सर्वोदय-तीर्थ में श्रावक सबके उदय व मंगल के लिए होता है। वीरम् जयतु शासनम्, आत्मानुशासन के लिए है, जहाँ स्वाश्रयी होकर पुरुषार्थी होने की प्रेरणा है। सम्यक् श्रवण करने व तदुनसार आचरण करने वाला श्रावक है। कविवर दौलतरामजी के शब्दों में – 'गेही पे गृह में न रचे, ज्यों जल तैं भिन्न कमल है।' श्रावक गृहस्थाश्रम में होकर भी जल में कमल की तरह सहजभावी हुआ रहता है। इसलिए बनारसीदासजी ने श्रावक को इक्कीस गुणों से विभूषित किया है और उन गुणों की वंदना की है। श्रावक होना, अपने को सार्थक करना है, सहज होकर आग्रह मुक्त जीवन जीना है।

❐

– २, न्यू कालोनी, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर-नमन

❐ श्रीमती कोकिला जैन

परम वीर देवाधिदेव-त्रिभुवन पति सम्यक् ज्योतित हो,
जगत्साक्षी शिवमार्ग प्रशासक केवल ज्योति प्रभाकर हो।
मोह महातम नाश हेतु तुम शान्ति विमल सुधाकर हो,
विश्ववंद्य और पतित पावन प्रभु दीन बन्धु दुख भंजक हो।
प्राणी मात्र पर दया और करुणा की पावन सलिला हो,
क्षमा प्रेम सौहार्द्र पूर्ण वात्सल्य की पावन मूर्ति हो।
नष्ट किये चउ घाति कर्म हित मित प्रिय उपदेशक हो,
दिव्यध्वनि देकर कल्याण भविजन के मार्ग दर्शक हो।
दस-अष्ट महाभाषामयी वाणी सर्वांग खिरी लघुभाषक हो,
ध्वनि ओंकार से गूथी गणधर जिनवाणी नायक तुम हो।
समवशरण की सभा बैठे भविजन सत्भव दिग्दर्शक हो,
चार अनन्त चतुष्टय धारी अष्ट प्रातिहार्यों से युत हो।
रत्नत्रय की सीढी चढ़ शिव मराग प्रशस्त कराते हो,
सुगुण छियालीस गुण अनंत अर्हत पद के भासी हो।
अष्ट कर्म अरि नष्ट किये सिद्धालय मे जो तिष्ठे हो,
निर्विकार अविकार निरंजन सिद्ध चक्र के स्वामी हो।
जन्म-जयन्ती आज मनायें त्रिशला सिद्धार्थ के नन्दन हो,
वैशाली कुण्ड ग्राम की मेदिनी के विकसित पावन जलज ही हो।
जीओ और जीने दो सबको नारा शान्तिमय देते हो,
वीतराग निर्ग्रंथ रूप यह निजानन्द रमण के दर्शक हो।
ऐसी शक्ति वरदे प्रभुवर, आचरण आपसा हम पावें,
सम्यक् की प्राप्ति हो सबको, "कोकिल" शत-शत नमन करे॥

❐ २ झ ५ शास्त्री नगर जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय खण्ड : अध्यात्म और सिद्धान्त

1.	मोक्ष पदार्थ	आचार्य श्री सन्मतिसागरजी	1-3
2.	अध्यात्म व अहिंसा	क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी	4-6
3.	अध्यात्म और सिद्धान्त	पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री	7-14
4.	द्रव्य के साधारण गुण	आर्यिका शीतलमतिजी	15-16
5.	निश्चय-व्यवहार	पण्डित शिवचरनलाल जैन	17-22
6.	अन्तरात्मा की अन्तर्मुखता और उसका उद्भव	पण्डित ज्ञानचन्द बिल्टीवाला	23-25
7.	लघुतत्त्वस्फोट के परिप्रेक्ष्य में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के कृतित्व का वैशिष्ट्य	डॉ. श्रेयांस कुमार जैन	26-34
8.	आचार्य अमृतचन्द्र एवं उनका लघुतत्त्वस्फोट	वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल	35-39
9.	देखनेवालेकोदेखनेका उपाय	बाबूलाल जैन, इंजीनियर	40-45
10.	जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त	डॉ. प्रेमचन्द रांवका	46-50
11.	तत्त्व बोध	आचार्य महाप्रज्ञ	50
12.	कर्म सिद्धान्त एवं समाज न्याय व्यवस्था	डॉ. महिमा बासल्ल	51-55
13.	निज आत्मा ही परम ध्येय	महेश चन्द्र चांदवाड़	56-58
14.	जैन दर्शन में लोक की संरचना	लोकेश जैन	59-61
15.	मोक्षमार्ग की द्विविधता	पं. मूलचन्द लुहाड़िया	62-63
16.	जैन दर्शन का पुनरावलोकन	डॉ. नारायणलाल कछारा	64-70
17.	जैन दर्शन में कर्मबंध प्रक्रिया	डॉ. शीतलचन्द जैन	71-72

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष पदार्थ

आत्मा को समझो, उसके स्वभाव और विभाव की पहिचान को और विभाव के कारणों को समझ कर उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ करो, मोक्ष अवश्य प्राप्त होगा।

❐ आचार्य श्री सन्मतिसागरजी

मोक्ष और तत्त्व सामान्यतया समानार्थक हैं तथा जीव तत्त्व का सारभूत पदार्थ मोक्ष है। मोक्ष शब्द का अर्थ छूटना है, अत: मोक्ष शब्द ही बद्धदशा का संकेत है। पहले बद्धदशा होगी तभी तो उससे छूटने रूप मुक्त दशा हो सकेगी। जीव की बद्धदशा अनादिकालीन है। इसका यह मतलब नहीं लगाना चाहिए कि वह कभी नष्ट नहीं होगी। भव्यजीव की बद्धदशा अनादि सान्त है। आगम में कहा भी है–

'कश्चिज्जीव: कृत्स्न कर्मभिर्विप्रमुच्यते बन्ध हेत्वभावनिर्जरावत्त्वात्' अर्थात् कोई जीव समस्त कर्मों से – कर्म प्रदेशों से विप्रमुक्त होता है, क्योंकि वह बंध कारणों के अभाव और निर्जरा से युक्त होता है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी मोक्ष का यही लक्षण कहा है – 'बंध हेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षो मोक्ष:' बंध हेत्वभाव अर्थात् संवर और निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का विशेषेण प्रकर्षेण च– विशेष और प्रकर्षता के साथ छूट जाना मोक्ष है। यह मोक्ष मोहक्षय पूर्वक होता है। पहले मोह का क्षय होने से केवलज्ञान प्राप्त होता है और उसके बाद मोक्ष प्राप्त होता है। नाम के आदि अक्षर से संपूर्ण नाम को बोध प्राप्त होता है। अत: 'मो' से मोह और 'क्ष' से क्षय का बोध होता है। इस प्रकार मो. क्ष. शब्द ही मोहक्षय को सूचित करता है। मोह, बंध का कारण है तो उसका क्षय मोक्ष का कारण अवश्य होगा।

'मलादेर्वैकल्यं हिमण्यादेर्नैर्मल्यं' मल आदि का अभाव होना ही मणि आदि की निर्मलता है। इसी प्रकार भावकर्म और द्रव्यकर्म रूप मल का अभाव होना ही आत्मा की निर्मलता है। आत्मा की निर्मलता कहो या मोक्ष, एक ही बात है। पहले भाव मोक्ष होता है। पीछे द्रव्य मोक्ष। भावों की मलिनता ही इस जीव को परेशान करती है 'पर: ईशानोयस्य स परेशान:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार परेशान का अर्थ परतंत्र होना है, लोक में परेशान का अर्थ कष्टदशापन्न होता है। आत्मा यद्यपि अनंत शक्ति संपन्न है तथापि मोहजनित मलिनता उसकी उस अनंत शक्ति को प्रकट नहीं होने देती। सब जानते हैं कि पानी अग्नि को बुझा देता है आग पर पानी पड़ा और अग्नि बुझी। परन्तु जब पानी और आग के बीच एक सूत मोटी तांबां, पीतल आदि की चद्दर होती है तब वह आग पानी को गर्म करके भाप बना-बनाकर समाप्त कर देती है। इसी प्रकार आत्मा और कर्म के बीच यदि मोहजन्य मलिनता रूपी चद्दर विद्यमान है तो कर्म आत्मा को अत्यंत दुखी कर देते हैं। जो आत्मा कर्मों को नष्ट करने का सामर्थ्य नहीं रखती है वह मोहजन्य मलिनता के सद्भाव में समयप्रबद्ध प्रमाण कर्मों के द्वारा बद्ध हो जाती है।

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बंध:॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांख्य कारिका में कहा है कि धर्म से ऊर्ध्व गमन होता है अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति होती है, अधर्म से नीचे गमन होता है अर्थात् नरक की प्राप्ति होती है, ज्ञान से अपवर्ग – मोक्ष प्राप्त होता है और अज्ञान से बंध होता है।

यदि कर्म बंध से बचना है तो अज्ञान से बचो। यहाँ अज्ञान का अर्थ मोहोदय से दूषित मिथ्याज्ञान है। मोक्षाभिलाषी जीव को उससे दूर रहना चाहिए। यह जीव मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्न तो करता है, परन्तु स्वरूप की ओर लक्ष्य न होने से उसका वह प्रयत्न सफल नहीं हो पाता। एक ओर पत्थरों के ढेर में 'पारसमणि' है यह सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए कोई तैयार हुआ। 'पारसमणि' के घिसने से लोहा स्वर्णमय हो जाता है, यह सुनकर पत्थरों के ढेर से एक पत्थर उठाता और लोहे पर घिस कर झट से जलाशय में फैंक देता। यह करते-करते एक बार पारसमणि उसके हाथ में आया, संस्कार वश उसने उसे लोहे पर घिसा और पानी में फैंक दिया। पानी में फैंक देने के बाद जब लोहा देखता है तो वह सुवर्णमय दिखता है। परन्तु पारसमणि को तो वह संस्कार वश पानी में फैंक चुका था। अब उसकी पुन: प्राप्ति दूभर हो गई। इसी प्रकार संस्कार वश यह जीव शरीराश्रित क्रियाएँ तो बहुत करता है, परन्तु स्वभाव की ओर लक्ष्य नहीं देता। क्रियाओं के करने का निषेध नहीं है अपने पद के अनुरूप क्रियाओं को करना आवश्यक है। परन्तु उन क्रियाओं को करते हुए अपने वीतराग स्वभाव की ओर लक्ष्य भी तो रक्खो। उसके बिना केवल क्रियाओं से क्या होने जाने वाला है ?

अमृतचंद्रसूरि ने कहा है –

सिद्धान्तोऽयमुदात्त चित्त
चरितैर्मोक्षार्थिभि: सेव्यतां,
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं
ज्योति: सदैवास्म्यहं।
एते ये तु समुलसन्ति
विविधा भावा: प्रथग्लक्षणा-
स्तेहं नास्मि यतोऽत्रते मम
परद्रव्यं समग्रा अपि।

मोक्षाभिलाषियों जीवों को अपने चित्त की प्रवृत्ति को उदात्त बनाकर निरंतर इस सिद्धांत की उपासना करना चाहिए कि मैं तो एक शुद्ध चैतन्य ज्योति:स्वरूप ही हूँ। ये जो नाना प्रकार के विकारी भाव समुल्लसित हो रहे हैं वे सबके सब परद्रव्य हैं, मेरे नहीं हैं।

इतना पुरुषार्थ तो प्रत्येक जीव को करना चाहिए कि वह स्वभाव-विभाव को समझ सके। गोताखोर मनुष्य अपने मुँह में तेल भर कर गोता लगाता है। तलहटी में पहुँचने पर वह तेल को मुँह से निकाल देता है जिससे वहाँ की सब वस्तुयें उस को स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं – यह मगर है, यह मच्छ है, यह प्रवाल है, यह मोती है। इसी प्रकार मोक्षार्थी पुरुष भेदविज्ञान के प्रकाश में स्व और पर को अच्छी तरह समझने लगता है। पर को समझकर जो उसका परित्याग करता है और अपने स्वरूप में संवृत रहता है वही बंध से बचता है। कहा है –

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतापराधवान्।
वध्येतानपराधो ना स्वद्रव्ये संवृतो मुनि:॥

परद्रव्य को ग्रहण करने वाला मनुष्य अपराधी कहलाता है और अपराधी होने से बंध को प्राप्त होता है, परन्तु जो मुनि स्वकीय द्रव्य में – अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप में संवृत रहता है वह अपराधी नहीं कहलाता और इसलिए बंध को प्राप्त नहीं होता।

यह जीव शेखचिल्ली के समान अपने आप संकल्पों को उत्पन्न करता है और उनमें निमग्न हो दु:ख उठाता है। एक गाँव में शेखचिल्ली ! नाम का एक आदमी रहता था, गरीब होने से मजदूरी करता था। एक बार एक तेलिन ने उससे कहा – भैया शेखचिल्ली हमारी यह तेल की मटकी (घड़ा) हमारे घर पहुँचा दो, दो पैसे तुम्हें दूंगी। दो पैसे मिलने की आशा से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शेखचिल्ली ने तेल की मटकी अपने सिर पर रख ली। चलते-चलते वह सोचता है कि दो पैसों से अमुक चीज लाकर बाजार में बेचूंगा तो दो आने हो जावेंगे और दो आने की अमुक चीज लाकर बेचूंगा तो दो रुपये हो जावेंगे। धीरे-धीरे मैं बड़ा आदमी हो जाऊंगा एक मकान बनवा लूगा, घर में स्त्री आ जाएगी, बाल-बच्चे हो जावेंगे, दोपहर के समय बच्चे आकर कहेंगे – दादा रोटी हो गई, भोजन कर लो। तब मैं अकड़कर कहूँगा कि कर लूँगा, अभी क्या जल्दी है ? इसी धुन में उसने सिर हिलाया, जिससे तेल की मटकी नीचे गिरकर फूट गई, तेल बह गया। तेलिन कहती है – यह तूने क्या किया ? हमारी मटकी फोड़ दी, तेल बेकार कर दिया। शेखचिल्ली ने कहा कि तेरी तो मटकी ही फूटी है, पर मेरी तो गृहस्थी चौपट हो गई। वास्तव यही दशा संसार के प्राणियों की हो रही है।

करिष्यामि करिष्यामि करिष्यमीतिचिन्तया।
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतं॥

करने-करने की चिन्ता में यह जीव मरने की बात भूल जाता है। अपनी इच्छाओं को निरंतर बढ़ाता ही रहता है। पर उनकी पूर्ति नहीं कर पाता। एक कवि ने कहा है –

निःस्वो निष्कशतं शती
दशशतं लक्षं सहस्राधिपो,
लक्षेशः क्षितिपालितां
क्षितिपतिश्चक्रेशतां वांछति।
चक्रेशः पुनरिंद्रतां सुरपति
ब्राह्मं पदं वांछति,
ब्रह्माविष्णुपदं हरिहरपदं
ह्याशावधिं को गतः॥

जिसके पास कुछ नहीं है वह सौ मुहरें चाहता है, सौ मुहरें वाला हजार चाहता है, हजार वाला लाख चाहता है, राजा चक्रवर्ती होना चाहता है, ब्रह्मा-विष्णु पद की इच्छा रखता है और विष्णु शंकर बनना चाहता है। वास्तव में आशा की सीमा को कौन प्राप्त हुआ है? अर्थात् कोई नहीं।

विस्तार बहुत हो गया, योग, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य, वेदांती आदि मोक्ष का स्वरूप कैसा मानते हैं, उस स्वरूप में कहाँ क्या कमी है? इसकी चर्चा जरूरी थी। यह भी बताना था कि किस -किस गुणस्थान में किन-किन कर्म प्रकृतियों का क्षय होकर अंत में मोक्ष प्राप्त होता है। परन्तु इसकी आवश्यकता नहीं समझ कर गौण कर दिया है।

शुद्धनय से आत्मा का जो स्वभाव कहा है, उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिए।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं विजाणाहि॥

जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और पर के संयोग से रहित देखता है, उसे शुद्धनय जानो। यही भाव अमृतचंद्रस्वामी ने 'आत्मस्वभावं परभावभिन्नं' तथा 'एकत्वं नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः' आदि कलश काव्यों में कहा है।

आजकल वक्ता लोग श्रोताओं को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए इधर-उधर की चर्चा करके भगवान महावीर के आत्मतत्त्व के सिद्धान्त को अछूता छोड़ देते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि उसके छोड़ देने से न श्रोताओं को लाभ होगा और न वक्ताओं का वक्तापन सफल होगा। कहा है –

विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्ड वाग्डम्बराः,
शृंगारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यान मातन्वते।
एते च प्रतिसद्म संति बहवो व्यामोह विस्तारिणो,
येभ्यस्तत्परमात्म तत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः॥

अपने को विद्वान मानने वाले तथा सभा में उद्दण्ड वचनों का आडंबर करने वाले वक्ता शृंगारादि रसों से आनंद जनक व्याख्यान करते हैं, सो व्यामोह को विस्तृत करने वाले ऐसे वक्ता घर-घर में विद्यमान हैं परन्तु जिनसे परमात्म तत्त्व विषयक ज्ञान प्राप्त होता है वे वक्ता दुर्लभ हैं। ❐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्म व अहिंसा

❑ क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी

आज यह देखकर बड़ा हर्ष हो रहा है कि आपके हृदय में जहाँ अहिंसा के प्रति प्रेम हैं, वहाँ अध्यात्म के प्रति भी कुछ कम आस्था नहीं है। विश्व जैन मिशन के मंच पर अहिंसा सम्मेलन के साथ-साथ अध्यात्म सम्मेलन को भी स्थान मिलना इस बात का साक्षी है।

यद्यपि 'अध्यात्म' शब्द अपने विषय की सूक्ष्मता व गहनता के कारण कुछ जटिल सा प्रतीत होता है तथा इसका विषय भी साधारणतया कुछ शुष्क सा प्रतीत हुआ करता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इसके विषय में शुष्कता की प्रतीति का कारण केवल विद्वज्जनों की कथन-पद्धति है। जो जटिल से जटिलतर बनाकर उपस्थित की जाती है। वास्तव में अध्यात्म शब्द का अर्थ स्वभाव है। गीता में अध्यात्म का लक्षण करते हुए बताया गया है कि अक्षर ब्रह्म अर्थात् आत्मा का परम स्वभाव अध्यात्म कहलाता है और स्वभाव क्योंकि नित्य ही अनुभव व प्रतीति में आने वाला नित्य है। अत: प्रत्यक्ष है और इसलिए सरल।

अपना स्वभाव प्रत्येक व्यक्ति जानता है, इसलिए उसमें बैठे हुए दु:ख व सुख से, चिन्ताओं व निश्चिन्तताओं व निराकुलताओं से, अशान्ति या शान्ति से, हिंसा या अहिंसा से, अकर्तव्य व कर्तव्यों से अपरिचित रहना असम्भव है। अध्यात्म अपना जीवन है, अपने जीवन का सार है, जिसको हर व्यक्ति पढ़ सकता है। अत: छिपा नहीं रह सकता और इसलिए इसे गुप्त नहीं कहा जा सकता। आज तक उसे हौआ समझा जाता रहा, पर अब ऐसा समझना योग्य नहीं।

अपने जीवन में नित्य ही निवास करने वाली तथा इस जीवन को अत्यन्त अन्धकारमय बना देने वाली प्रतिदिन की चिन्ताओं, व्याकुलताओं व कलकलाहटों से भला कौन व्यक्ति अपरिचित है तथा कौन इन कुटिल चिन्ताओं से मुक्त होना नहीं चाहता। सबके हृदय की एक ही आवाज है तथा एक ही समस्या है और वह यह कि किस प्रकार जीवन कुछ हल्का बन पाये। आज का जीवन सर पर एक भार बन कर रह गया है। किस प्रकार इसे वास्तविक जीवन बनाया जाये। एक व्यक्ति के प्रति दूसरे व्यक्ति का तथा एक देश के प्रति दूसरे देश का संकुचित दृष्टि से देखना जीवन में बैठे हुए भय का परिचय देता है। इसका कारण क्या है तथा इस भय को किस प्रकार मिटाया जा सकता है ?

यद्यपि आज का विश्व भी इसी समस्या को सुलझाने के प्रति प्रयत्नशील बना हुआ है। वैज्ञानिक उन्नति के इस युग में बराबर आगे बढ़ता चला जा रहा है। यह आशा करता हुआ कि सम्भवत: वह इस समस्या को सुलझा सके और मानव जीवन को सुन्दर व निश्चिन्त बना सके। पर फल क्या निकल रहा है सो अदृष्ट नहीं है। चिन्ता व भय घटने की बजाय बराबर बढ़ते जा रहे हैं। मानव सृष्टि आज जीवन व मृत्यु के हिंडोले में झूल रही है। न जाने कब ये अणुबम विस्फुटित होकर जगत में प्रलय मचा दें और यह आज का भौतिक विज्ञान सर्व विश्व को विनाश की गोद में सुलाकर स्वयं भी वहीं विश्राम पा ले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भो ! बुद्धिशाली मानव ! क्या विचारा है कि आज की यह बाहरी उन्नति आन्तरिक जीवन की उन्नति है या अवनति ! वास्तव में जीवन की उन्नति इस विज्ञान में नहीं बल्कि अध्यात्म-विज्ञान में निहित है। बाहर के वैज्ञानिक आकर्षणों से अन्धा हुआ मानव आज अपने आन्तरिक विज्ञान से आँखें मोड़ बैठा है। यही कारण है जीवन की चिन्ताओं का तथा संशय व भय का। अध्यात्म दो-चार योगियों का ही कर्त्तव्य हो और शेष मानव समाज का नहीं ऐसा नहीं है। अध्यात्म मानव जीवन का सार है। चाहे वह गृहस्थ में रहता हुआ मानव जीवन का अंश बना हुआ हो और चाहे योगी के रूप में स्वतन्त्र जीवन बिता रहा हो।

योगी की बात छोड़िये। देखना यह है कि सामाजिक व्यवस्था में अध्यात्म किस रूप में सहायक हो सकता है तथा अहिंसा-सम्मेलन में बताई गयी अनेकों बातों की पूर्ति इस अकेले अध्यात्म के द्वारा कैसे हो जाती है ? अध्यात्म वास्तव में वह महान तत्त्व है जो जीवन की हर दिशा में उपयोगी है, क्योंकि वह स्वयं जीवन है। अध्यात्म अन्तर्शुद्धि (Moral) का निर्माता है और इसलिये मानव को दानवता से हटाकर मानवता के दर्शन कराता है। यदि ऐसा है तो विचारिये कि क्या अहिंसा तथा सामाजिक व राजकीय व्यवस्था हमसे अछूती रह सकेगी। जहाँ अध्यात्म है वहाँ ही सच्ची व स्वाभाविक अहिंसा और सामाजिकता है। जहाँ अध्यात्म नहीं, वहाँ वह भी नहीं। क्योंकि अध्यात्म के अभाव में अपनायी जानेवाली अहिंसा व सामाजिकता कृत्रिम है स्वाभाविक नहीं, और कृत्रिमता कभी स्थायी नहीं हुआ करती। यही कारण है कि महात्मा गांधी के नाम की दुहाई देनेवाली आज की भारत समाज मांस प्रचार के प्रति और पंचशील को स्वीकार कर लेने वाले अनेकों देश युद्ध व संहार के प्रति बढ़े चले जा रहे हैं। समस्या का कोई सच्चा हल हो सकता है तो वह अध्यात्म ही है।

अध्यात्म हमको जिस एक छोटे से सिद्धान्त का दर्शन कराता है वह केवल इतना है कि यह अन्तर से उठने वाली जो "मैं" है वह ही वास्तव में जीवन है। वह चैतन्यमूर्ति है व अमूर्तिक है, वह इन्द्रिय से अगोचर है, वह ज्ञानात्मक है। दुःख व सुख, चिन्ता व शान्ति सब वहाँ ही उत्पन्न होते हैं, तथा वह ही उनका उपभोग करने में समर्थ है। यह बाहर में दृष्ट शरीर मैं रूप नहीं है। यह भौतिक है अचेतन है। दुःख या सुख, चिन्ता या शान्ति इसकी उपज नहीं है और न ही वह इसका उपभोग कर सकता है। यह पहिला मैं तत्त्व नित्य व अविनाशी है और यह शरीर बाह्य व अनित्य, अर्थात् चिता में रखकर जला दिया जाने वाला। उस "मैं" तत्त्व को ही आत्मा कहते हैं, जो अन्तर हृदय में ज्ञान द्वारा प्रवेश पाकर ही देखा जाना व महसूस किया जाना सम्भव है। न नेत्रों के द्वारा देखा जा सकता है और न ही शरीर द्वारा महसूस किया जा सकता है।

बस इतना सा ही अध्यात्म का मूल विषय है जो यद्यपि छोटा दिखता है पर अपनी गहनता के कारण अनन्त विस्तार युक्त है। यह हमें हमारे उस वर्तमान जीवन-प्रवाह की भूल को दर्शाता है जो केवल शरीर को जीवन मानकर बहता हुआ जीवन से अत्यन्त दूर हुआ जा रहा है। यदि मैं यह समझ जाऊँ कि मैं तो अन्तर्विलास रूप चैतन्य तत्त्व हूँ। मेरी शान्ति व अशान्ति का मूल वह ही है। इस शरीर से वास्तव में मेरा कोई नाता नहीं, तो मेरी प्रवृत्ति में अवश्य अन्तर पड़ जाये। वही काम मेरे लिये कर्तव्य हो जाये, जिसके द्वारा कि अन्तर्शान्ति का निर्माण हो या उसको कुछ सहायता मिले। हर वह कार्य जो जीवन में कल्पनायें, विकल्प व चिन्तायें उत्पन्न करे, मेरे लिये अकर्तव्य हो जाये। कर्तव्य से अकर्तव्य की कसौटी लौकिक न्याय नहीं बल्कि अन्तरंग शान्ति हो जाये, वर्तमान का स्वार्थ टल जाये। यदि कोई कार्य भविष्य में जाकर भी अशान्ति का कारण बन जाये तो वह भी मेरे लिये अकर्तव्य हो जाये।

शान्ति का इतना बहुमान प्रकट हो गया है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसके जीवन में, वह क्या दूसरे की शान्ति को किसी भी प्रकार से बाधित करने का प्रयत्न करेगा। क्या वह कोई भी कार्य ऐसा करेगा, क्या कोई भी विचार ऐसा मन में लायेगा, क्या कोई भी वचन ऐसा कहेगा, जिसके द्वारा कि किसी भी छोटे या बड़े प्राणी को कीड़े को या मनुष्य को, गाय को या सुअर को किसी भी प्रकार की मानसिक या शारीरिक पीड़ा हो जाए ? कदापि नहीं करेगा। जो काम स्वयं उसे अपने लिए रुचता नहीं वह दूसरे के लिए भी प्रयोग करना उसके लिए अकर्तव्य हो जायेगा। प्राण से मार देने का तो प्रश्न नहीं। झूठ, चोरी, व्यभिचार, जुआ, मनोरंजन व विलास आदि के द्वारा भी वह किसी को कष्ट नहीं पहुँचा सकता। यह कार्य उसके जीवन में कृत्रिम रूप से नहीं, बल्कि स्वाभाविक रूप से ही होने लगता है। इसमें किसी अन्य की प्रेरणा की उसे प्रतीक्षा नहीं होती वह स्वयं उसके जीवन की अन्तर्प्रेरणा है।

इतना ही नहीं विश्व की सबसे बड़ी माँग जो आज साम्यवाद (Communism) के रूप में सामने आ रही है, उसके जीवन का स्वाभाविक कर्तव्य बन जाता है। राज्य नियम के कारण से नहीं, बल्कि स्वयं अन्तर की पुकार की प्रेरणा पाते रहने के कारण ही उसका आचरण अहिंसामयी हो जाता है, क्योंकि दूसरों की आवश्यकता का भी वह उतना ही सम्मान करने लग जाता है जितना कि अपनी आवश्यकता का। अपनी आवश्यकताओं की होली में दूसरों की आवश्यकताओं को स्वाहा कर देने की बजाय दूसरों की आवश्यकताओं की वेदी पर ही अपनी आवश्यकताओं की बलि चढ़ा देने में ही उसे शान्ति व हर्ष की प्रतीति होती है। जिसको कार्यान्वित रूप देने के लिये वह अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर लेता है।

इन बातों के अतिरिक्त और अहिंसा है ही क्या? अध्यात्म, अहिंसा का अत्यन्त व्यापक रूप है इस एक में ही स्वत: प्राण-हनन, असत्य, चोरी, व्यभिचार, संचय आदि सर्व बातों का निषेध हो जाता है। इसीलिये अहिंसा वास्तव में अध्यात्म की पुत्री है और जिस समाज में अहिंसा के सब अंगों की प्रवृत्ति हो वहाँ भय और संशय का काम क्या ? इस प्रकार अध्यात्म ही वास्तविक अहिंसा और सामाजिक धर्म है। ❐

कोऽहं कस्त्वं कुत: आयात: का मे जननी को मे तात:।
इति परिभावय सर्वमसारं विश्वं त्यक्त्वा स्वप्न विचारम्॥

– मैं कौन हूँ, तू कौन है, कहाँ से आया है, कौन मेरी माता है, कौन मेरा पिता है ? यह सब असार है – ऐसा चिन्तवन कर। यह विश्व स्वप्न के समान है। इसे छोड़कर आत्म-चिन्तन कर।

– वैराग्य शतक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्म और सिद्धान्त

❑ स्व. सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री

प्रारम्भ में जिनवाणी बारह अंगों और चौदह पूर्वों में विभक्त थी। अंगों और पूर्वों का लोप हो जाने पर आचार्यों ने जो ग्रन्थ रचना की है, वह उत्तरकाल में चार अनुयोगों में विभक्त हुई। उनका नाम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग है। जिसमें एक पुरुष से सम्बद्ध कथा होती है उसे चरित कहते हैं और जिसमें त्रेसठ शलाका पुरुषों के जीवन से सम्बद्ध कथा होती है उसे पुराण कहते हैं। ये चरित और पुराण दोनों प्रथमानुयोग कहे जाते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने इस अनुयोग को पुण्यवर्धक तथा बोधि और समाधि का निधान कहा है। अर्थात् जहाँ एक ओर इसमें उपयोग लगाने से पुण्यबन्ध होता है, वहीं दूसरी ओर रत्नत्रय की तथा उत्तम ध्यान की प्राप्ति भी इससे होती है। इस अनुयोग को प्रथम स्थान दिया गया है तथा उसे नाम भी प्रथमानुयाग दिया है। जैसे सबसे पहली कक्षा और परीक्षा का नाम प्रथमा है; क्योंकि प्राथमिकों के लिये, जो उसमें प्रवेश करना चाहते हैं, वही उपयोगी है, उसी तरह जिनवाणी में प्रवेश करने वाले प्राथमिकों के लिये प्रथमानुयोग का स्वाध्याय उपयोगी होता है। कथाओं में रुचि होने से पाठक का मन उसमें रम जाता है और फिर धीरे-धीरे वह उसमें वर्णित रहस्य को जानने के लिये उत्सुक हो उठता है। स्व. बाबा भागीरथजी वर्णी कहा करते थे कि पद्मपुराण की कथा सुनकर मैंने पढ़ना सीखा और मैं जैनधर्म स्वीकार करके वर्णी बन गया। अत: इस अनुयोग की महत्ता किसी भी अन्य अनुयोग से कम नहीं है।

२. दूसरे अनुयोग का नाम करणानुयोग है। करण का अर्थ परिणाम भी है और गणित के सूत्रों को भी कहते हैं। इसीसे श्वेताम्बर परम्परा में इसे गणितानुयोग भी कहते हैं। इसमें लोक और अलोक का विभाग, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों का विभाग, तथा गति, इन्द्रिय आदि मार्गणाओं का कथन होता है। एक तरह से यह अनुयोग समस्त जिनशासन का प्राणभूत है। इसके अध्ययन से संसार में भटकते हुए संसारी जीव को अपनी वर्तमान दशा का, उसके कारणों का तथा उससे निकलने के मार्ग का सम्यक्बोध होता है। करणानुयोग जीव की आन्तरिक दशा को तोलने के लिये तुला जैसा है। करणानुयोग के अनुसार जो सम्यग्दृष्टि होता है, वही सच्चा सम्यग्दृष्टि होता है, वही संसार-सागर को पार करने में समर्थ होता है।

३. तीसरे अनुयोग का नाम चरणानुयोग है। इसमें गृहस्थों और मुनियों के चारित्र का, उनकी उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के उपायों का कथन रहता है। इस अनुयोग का चलन सदा विशेष रहा है – इसी के कारण आज भी जैनी-जैनी कहे जाते हैं।

४. अन्तिम चतुर्थ अनुयोग द्रव्यानुयोग है। इसमें जीव-अजीव, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि पदार्थों और तत्त्वों का कथन रहता है। प्रसिद्ध मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) तथा समयसार इसी अनुयोग में गर्भित हैं।

दिगम्बर परम्परा में जो साहित्य आज उपलब्ध है, उसमें सबसे प्राचीन कषायपाहुड़ और षट्खण्डागम हैं। कषायपाहुड़ की रचना आचार्य गुणधर ने और षट्खण्डागम की रचना भूतबली-पुष्पदन्त ने की थी। दोनों ही सिद्धान्तग्रन्थ पूर्वों से सम्बद्ध हैं तथा उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मसिद्धान्त है। भूतबली-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुष्पदन्त के गुरू आचार्य धरसेन महाकर्म प्रकृति प्राभृत के ज्ञाता थे, वही उन्होंने भूतबली-पुष्पदन्त को पढ़ाया था और उसी के आधार पर भूतबली-पुष्पदन्त ने षट्खण्डागम की रचना की थी। इसी प्रकार कषायपाहुड़ पर चूर्णिसूत्रों के रचयिता आचार्य यतिवृषभ भी आर्य नागहस्ति और आर्यमंक्षु के शिष्य थे। और नागहस्ति तथा आर्यमंक्षु भी कर्मप्रकृति प्राभृत के ज्ञाता थे। श्रुतावतार कर्ता आचार्य इन्द्रनन्दि के अनुसार आचार्य पद्मनन्दि ने कुण्डकुन्दपुर में गुरुपरिपाटी से दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों को जाना तथा षट्खण्डागम के आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा। यथा –

एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्।
गुरुपरिपाट्यां ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे॥१६०॥
श्री पद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादश सहस्रपरिमाणः।
ग्रन्थ परिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्ड्स्य॥१६१॥

आचार्य कुन्दकुन्द ने परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा था, इस पर हमने कुन्दकुन्द-प्राभृत-संग्रह की प्रस्तावना में विस्तार से विचार किया है और धवला टीका में प्राप्त उद्धरणों के आधार पर इन्द्रनन्दि के उक्त कथन का समर्थन किया है।

कुन्दकुन्द-प्राभृत-संग्रह का संकलन इसी दृष्टि से किया गया है कि पाठकों को यह ज्ञात हो जाये कि कुन्दकुन्द ने किस-किस विषय पर क्या कहा है, क्योंकि परम्परा से हम शास्त्र के प्रारम्भ मे यह श्लोक पढ़ते हैं–

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

इसमें भगवान महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् ही आचार्य कुन्दकुन्द को मङ्गलं-स्वरूप कहा है। और उनके पश्चात् जैनधर्म को मंगलस्वरूप कहा है।

उक्त श्लोक कब किसने रचा यह ज्ञात नहीं है। किन्तु इससे जिनशासन में आचार्य कुन्दकुन्द का कितना महत्व है यह स्पष्ट हो जाता है। उत्तरकाल में भट्टारक परम्परा का प्रवर्तन होने पर भी सबने अपने को कुन्दकुन्दाम्नायी ही स्वीकार किया है। प्रतिष्ठित मूर्तियों पर प्रायः मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख अंकित पाया जाता है।

इन आचार्य कुन्दकुन्द को अध्यात्म का प्रणेता या प्रमुख प्रवक्ता माना जाता है। इन्होंने जहाँ षट्खण्डागम सिद्धान्त पर परिकर्म नामक व्याख्या रची, वहाँ इन्होंने समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार जैसे ग्रन्थ भी रचे। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द सिद्धान्त और अध्यात्म दोनों के ही प्रवक्ता थे।

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रथम टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र जी के टीकाग्रन्थों ने अध्यात्मरूपी प्रासाद पर कलशारोहण का कार्य किया। इसी में समयसार की टीका से आगत पद्यों के संकलनकर्ता ने उसे समयसार-कलश नाम दिया। इन्हीं कलशों को लेकर कविवर बनारसीदास ने हिन्दी में नाटक-समयसार रचा, जिसे सुनकर हृदय के फाटक खुल जाते हैं। किन्तु अमृतचन्द्र जी ने केवल समयसारादि पर टीकाएँ ही नहीं लिखीं, तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर तत्त्वार्थसार जैसा ग्रन्थ भी रचा तथा जैन श्रावकाचार पर पुरुषार्थसिद्धयुपाय जैसा ग्रन्थ रचा और उनका एक अमूल्य ग्रन्थरत्न तो अभी ही प्रकाश में आया, जिसमें २५-२५ श्लोकों के २५ प्रकरण हैं। यह स्तुतिरूप ग्रन्थरत्न एक अलौकिक कृति जैसा है। अत्यन्त क्लिष्ट है, शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से अति गम्भीर है। विद्वत्परिषद् में मंत्री पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य ने बड़े श्रम से श्लोकों का अभिप्राय स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उसी के आधार पर अंग्रेजी अनुवाद के साथ यह ग्रन्थरत्न सेठ दलपतभाई, लालभाई जैन विद्या संस्थान अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। उससे व्यवहार और निश्चय दृष्टि पर विशेष प्रकाश पड़ने की पूर्ण संभावना है।

यह सब लिखने का मेरा प्रयोजन यह है कि आज जो सिद्धांत और अध्यात्म या व्यवहार और निश्चय के मध्य में भेद की दीवार जैसी खड़ी की जा रही है, उसकी ओर से सम्बुद्ध पाठकों और विद्वानों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को सावधान करूँ। सबसे प्रथम हमें यह देखना होगा कि सिद्धान्त की क्या परिभाषा है और अध्यात्म की क्या परिभाषा है। षट्खण्डागम सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। जयधवला की प्रशस्ति में टीकाकार जिनसेनाचार्य ने लिखा है – **'सिद्धानां कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्तः प्रसिद्धिभाक्।'** अर्थात् सिद्धों का वर्णन अन्त में होने से, जो सिद्धान्त नाम से प्रसिद्ध है। इसका आशय यह है कि **संसारी जीव का वर्णन प्रारंभ करके उसके सिद्ध पद तक पहुँचने की प्रक्रिया का जिसमें वर्णन होता है, उसे सिद्धान्त कहते हैं।** जैसे तत्त्वार्थसूत्र में संसारी जीव के स्वरूप का वर्णन प्रारंभ करके अन्तिम दसवें अध्याय के अन्त में सिद्धों का वर्णन है। इसी प्रकार जीवकाण्ड में गुणस्थानों और मार्गणाओं के द्वारा जीव का वर्णन करके अन्त में कहा है –

गुणजीवठाणरहिया सण्णा पज्जत्ति पाणपरिहीणा।
सेस णवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति॥७३२॥

अर्थात् सिद्ध जीव गुणस्थान से रहित, जीवस्थान से रहित, संज्ञा-पर्याप्ति-प्राण से रहित और चौदह में से नौ मार्गणाओं से रहित सदा शुद्ध होते हैं। अतः तत्वार्थसूत्र, गोम्मटसार जैसे ग्रन्थ जो षट्खण्डागम सिद्धान्त के आधार पर रचे गये हैं, सिद्धान्त कहे जाते हैं।

एक शुद्ध आत्मा को आधार बनाकर जिसमें कथन होता है उसे अध्यात्म ग्रन्थ कहते हैं। जैसे समयसार के जीवाजीवाधिकार के प्रारम्भ में कहा है कि जीव के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संस्थान, संहनन, वर्ग, वर्गणा, जीवस्थान, बन्धस्थान आदि नहीं हैं। अर्थात् गोम्मट्सार में प्रारम्भ से ही जिन बातों को आधार बनाकर संसारी जीव का वर्णन किया गया है, समयसार के प्रारम्भ में ही शुद्ध जीव का स्वरूप बतलाने की दृष्टि से उन सबका निषेध किया है। इससे पाठक भ्रम में पड़ जाता है और वह अपनी दृष्टि से एक को गलत और दूसरे को ठीक मान बैठता है। इसी से विवाद पैदा होता है। जिसने पहले गोम्मटसार पढ़ा है, वह समयसार को पढ़कर विमूढ़ जैसा हो जाता है और जो समयसार पढ़ते हैं वे सिद्धान्त ग्रन्थों से ही विमुख हो जाते हैं, क्योंकि सिद्धान्त ग्रन्थों में उन्हीं का वर्णन है, जिन्हें समयसार में जीव का नहीं कहा। अतः वे केवल शुद्ध जीव का वर्णन सुनकर ही आत्मविभोर हो जाते हैं और अपनी वर्तमान दशा और उसके कारणों को सुनना भी व्यर्थ समझते हैं। फलतः आज समयसार का रसिया शेष जिनवाणी को ही हेय मान बैठता है। उसकी दृष्टि में यदि उपादेय है, तो केवल समयसार है, शेष सब हेय हैं। न उसे चरणानुयोग रुचिकर है ओर न करणानुयोग रुचिकर है। ऐसे लोगों के लिये ही अमृतचन्द्र जी ने पञ्चास्तिकाय की अपनी टीका के अन्त में एक गाथा उद्धृत की है–

णिच्चयमालंबंता णिच्चयदो णिच्चयं अजाणंता।
णासंति चरणकरणं बाहिरचरणालसा केई॥

अर्थात् निश्चय का आलम्बन लेनेवाले, किन्तु निश्चय से निश्चय को न जानने वाले कुछ जीव बाह्य आचरण में आलसी होकर चरणरूप परिणाम का विनाश करते हैं।

इसी प्रकार जो प्रारम्भ से ही व्यवहारासक्त हैं और उसे ही एक मात्र मोक्ष का कारण मानकर निश्चय से इसलिए विरक्त हैं कि पूर्व में उन्होंने कभी निश्चय की चर्चा नहीं सुनी। **अतः प्रायः ऐसे लोग, जिनमें विद्वान और त्यागी व्रती भी हैं, समयसार की चर्चा से या आत्मा की चर्चा से भड़क उठते हैं। उसे वे सुनना भी पसन्द नहीं करते। कोई-कोई तो समयसार के रचयिता होने के कारण आचार्य कुन्दकुन्द से भी विमुख जैसे हो गये हैं और क्रियाकाण्ड को ही मोक्ष का मार्ग मानकर उसी में आसक्त रहते हैं।** ऐसे व्यवहारवादियों को भी लक्ष्य करके अमृतचन्द्रजी ने पंचास्तिकाय की अपनी टीका में एक गाथा उद्धृत की है –

चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावाहा।
चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जो चारित्र-परिणाम प्रधान हैं अर्थात् शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, अनुष्ठान रूप निश्चय मोक्षमार्ग से उदासीन रहकर या उसकी उपेक्षा करके केवल शुभानुष्ठानरूप व्यवहारमार्ग को ही मोक्षमार्ग मानते हैं और स्व-समयरूप परमार्थ में व्यापार रहित हैं, वे चारित्र परिणाम का सार जो निश्चय शुद्ध आत्मा है, उसे नहीं जानते। इसी से समयसार की गाथा १२ की टीका में अमृतचन्द्रजी ने एक गाथा उद्धृत की है–

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं, अण्णेण पुण तच्चं॥

अर्थात् यदि जैनमत का प्रवर्तन चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों को मत छोड़ो, क्योंकि एक व्यवहारनय बिना तो तीर्थ का नाश हो जायेगा और दूसरे निश्चय के बिना तत्त्व (वस्तु स्वरूप) का विनाश हो जायेगा।

इसके पश्चात् ही अमृतचन्द्रजी ने नीचे लिखा स्वर्ण कलश कहा है –

उभयनयविरोधध्वंसिनी स्यात्पदाङ्के
जिन वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥

निश्चय और व्यवहार में परस्पर विरोध है, क्योंकि एक शुद्ध द्रव्य का निरूपक है और दूसरा अशुद्ध द्रव्य का। उस विरोध को दूर करनेवाले भगवान जिनेन्द्र के स्यात्पद से अंकित वचन हैं अर्थात् स्याद्वाद नय गर्भित द्वादशांग वाणी है। जो उसमें रमण करते हैं, प्रीतिपूर्वक उसका अभ्यास करते हैं, वे स्वयं मिथ्यात्व का वमन करके परमस्वरूप, अतिशय प्रकाशमान उस शुद्ध आत्मा का अवलोकन करते हैं, जो नया नहीं है तथा एकान्त नय के पक्ष से अखण्डित है।

सिद्धान्त और अध्यात्म दोनों का ही चरम लक्ष्य यही है, भिन्न नहीं है। किन्तु दोनों की कथन शैली में अन्तर है। जहाँ तक हम जान सके, सिद्धान्त और अध्यात्म के इस अन्तर को ब्रह्मदेवजी ने अपनी द्रव्यसंग्रह टीका में स्पष्ट किया है। गाथा १३ में संसारी जीव के अशुद्धनय से चौदह मार्गणा और गुणस्थानों की अपेक्षा चौदह भेद कहे हैं। और शुद्धनय से सब जीवों को शुद्ध कहा है। इसकी टीका में कहा है कि 'गुणजीवापज्जत्ती' आदि गाथा में जो बीस प्ररूपणा कही है, वह धवल, जयधवल और महाधवल नामक तीन सिद्धान्त ग्रन्थों के बीजपदभूत हैं। और गाथा के चतुर्थ पाद में जो 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' कहा है, जो कि शुद्ध आत्म-तत्त्व का प्रकाशक है, वह पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार नामक प्राभृतों का बीजपदभूत है। इसी के आगे कहा है कि अध्यात्म ग्रन्थ का बीजपदभूत, जो शुद्ध आत्म-स्वरूप कहा है, वही उपादेय है।

इस तरह सिद्धान्त संसारी जीव की वर्तमान दशा का चित्रण करता है, जो शुद्ध जीव का स्वरूप न होने से व्यवहारनय का विषय है तथा हेय है। अध्यात्म शुद्ध आत्मतत्त्व का प्रकाशक है, जो निश्चय नय का विषय है तथा उपादेय है।

हेय और उपादेय

जो संसारी जीव आत्महित करना चाहता है, उसे सबसे प्रथम हेय और उपादेय का बोध होना आवश्यक है। यदि कदाचित् उसने हेय को उपादेय और उपादेय को हेय मान लिया, तो वह आत्महित नहीं कर सकता। इसी से आगम में तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। अतः मुमुक्षु को तत्त्वार्थ का विचार करके उसकी श्रद्धा करनी चाहिए। इस विषय में आगम या सिद्धान्त और अध्यात्म में भेद नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। समयसार में भूतार्थनय से जाने गये तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। मूल तत्त्व तो दो ही हैं – जीव और अजीव। इन्हीं के मिलन के फलस्वरूप आस्रव और बन्ध तत्त्व की निष्पत्ति हुई। वे ही दो संसार के कारण हैं। और संसार से छूटने के उपाय संवर, निर्जरा हैं, उनका फल मोक्ष है। इनमें पुण्य और पाप को मिलाने से नौ पदार्थ हो जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थवार्तिक आदि में यह स्पष्ट किया है कि पुण्य और पाप का अन्तर्भाव आस्रव और बन्ध तत्त्व में होता है। इसलिए इन्हें पृथक् तत्त्व नहीं माना है। अत: आस्रव और बन्ध तत्त्व संसार के कारण होने से हेय हैं, तब उनमें गर्भित पुण्य और पाप कर्म उपादेय कैसे हो सकते हैं और उनमें उपादेय बुद्धि रखने वाला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?

यह ठीक है कि शास्त्रकारों ने पुण्यकार्य करने की प्रेरणा दी है, क्योंकि जीव को पाप कार्यों से बचाना है। अत: पुण्यकर्म की उपयोगिता पाप से बचने मात्र में है। किन्तु इससे पुण्य उपादेय नहीं हो जाता। सम्यग्दृष्टि भी पुण्य कार्य करता है, किन्तु पुण्यास्रव या पुण्यबन्ध को उपादेय नहीं मानता। इसी से किन्हीं ग्रन्थकार ने सम्यग्दृष्टि के पुण्य को परम्परा से मोक्ष का कारण कह दिया है।

भावसंग्रह में आचार्य देवसेन ने इस विषय में जो कुछ कहा है, वह पठनीय है। वह कहते हैं कि जब तक गृह-व्यापार नहीं छूटता, तब तक गृह-व्यापार में होने वाला पाप भी नहीं छूटता। और जब तक पाप कर्मों का परिहार न हो, तब तक पुण्य बन्धक कार्यों को मत छोड़ो, अन्यथा दुर्गति में जाना होगा। जिसने गृह-व्यापार से विरक्त होकर जिनमुद्रा धारण की है और प्रमादी नहीं है, उसे पुण्य बन्ध के कारणों का त्याग करना चाहिए। **पुण्यबन्ध बुरा नहीं है, पुण्यबन्ध की चाह बुरी है।** स्वामी कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा ४१० आदि) में कहा है – जो पुण्य की भी इच्छा करता है, वह संसार की इच्छा करता है, क्योंकि पुण्यबन्ध सुगति का कारण है और मोक्ष पुण्य के क्षय से प्राप्त होता है। पुण्य की चाह से पुण्यबन्ध नहीं होता। किन्तु जो पुण्य को नहीं चाहते, उनके ही सातिशय पुण्यबन्ध होता है। मन्द कषाय से पुण्यबन्ध होता है। अत: पुण्य का हेतु मन्द कषाय है और मन्दकषाय सम्यग्दृष्टि के ही होती है। क्योंकि वह पुण्य से प्राप्त होने वाले सांसारिक सुख को पाप का बीज मानता है। इसलिए वह न ऐसे सुख की वांछा करता है और न ऐसे सुख के कारण पुण्यबन्ध की भावना करता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में अरहन्त अवस्था के समय जिस पुण्य उदय की चर्चा की है, वह पुण्य ऐसा ही होता है, जो नहीं चाहते हुए भी बंधता है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक तो जिनपूजन प्रारंभ करते हुए भावना भाता है –

अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ
पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि।

मैं इस प्रज्वलित निर्मल केवलज्ञानरूप अग्नि में एकाग्रमन होकर समग्र पुण्य की आहुति देता हूँ। इस प्रकार जो पुण्यकार्य करते हुए पुण्य की आहुति देते हैं, उनकी भावना परम्परा से मोक्ष का कारण होती है।

अत: उक्त तत्त्वों में उपादेय जो एक जीव तत्त्व ही है, उसी की यथार्थ श्रद्धा से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इसमें कोई मतभेद नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र में जीव के पाँच भाव कहे हैं – औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक एवं पारिणामिक। इन पाँचों भावों में से किस भाव से मोक्ष होता है – इसका खुलासा आगम और अध्यात्म दोनों से किया गया है।

धवला और जयधवला (पु. १, पृ. ५) टीका से एक गाथा उद्धृत है –

ओदइया बंधयरा उवसमखयमिस्सया हु मोक्खयरा।
भावो हु पारिणामिओ करणोभयवज्जिओ होइ॥

समयसार की टीका में जयसेनाचार्य ने आगम और अध्यात्म का समन्वय करते हुए लिखा है– औदयिक भाव बन्धकारक हैं। औपशमिक, क्षायिक, मिश्रभाव मोक्षकारक हैं। किन्तु पारिणामिकभाव बन्ध का भी कारण नहीं है और मोक्ष का भी कारण नहीं है। औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक भाव पर्याय रूप हैं। शुद्ध पारिणामिक द्रव्यरूप है। और परस्पर सापेक्ष द्रव्यपर्यायरूप आत्मद्रव्य है। उनमें से जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व इन तीन पारिणामिक भावों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में से शक्तिरूप शुद्धजीवत्व-पारिणामिक भाव शुद्धद्रव्यार्थिकनय से निरावरण है। उसकी संज्ञा शुद्धपारिणामिक है। वह बन्ध और मोक्ष पर्यायरूप परिणति से रहित है। और जो दस प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व हैं, वे पर्यायार्थिक नयाश्रित होने से अशुद्ध पारिणामिक भाव कहलाते हैं। इन तीनों में से भव्यत्व पारिणामिक भाव को ढाँकनेवाला पर्यायार्थिकनय से जीव के सम्यक्त्व आदि गुणों का घातक मोहादि कर्म हैं। जब कालादि लब्धिवश भव्यत्व शक्ति की व्यक्ति होती है, तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षणवाले निज परमात्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् अनुरण रूप पर्याय से परिणमन करता है। इस परिणमन को आगम की भाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव कहते हैं और अध्यात्म की भाषा में शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम या शुद्धोपयोग आदि कहते हैं।

इस तरह आगम और अध्यात्म में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का क्रमादि भिन्न नहीं है। जिसे करणानुयोग, चरणानुयोग में औपशमिक आदि नामों से कहते हैं, उसे ही अध्यात्म में शुद्धोपयोग शब्द से कहते हैं। अत: अध्यात्म में अविरत सम्यग्दृष्टि को भी शुद्धोपयोगी कहा है। शुद्धोपयोग शब्द का भी एक ही अर्थ नहीं है। शुद्ध-उपयोग तो यथार्थ में ऊपर के गुणस्थानों में होता है। किन्तु शुद्ध के लिये उपयोग और शुद्ध का उपयोग नीचे के गुणस्थानों में भी होता है। इसी से शुद्धात्मा के प्रति अभिमुख परिणाम को भी शुद्धोपयोग कहा है। उसके बिना आगे के गुणस्थानों में शुद्ध-उपयोग होना संभव नहीं है।

किसी भी अनुयोग में सम्यग्दर्शन का महत्व निर्विवाद है। सम्यग्दर्शन के बिना न ज्ञान सम्यक् होता है और न चारित्र। सम्यग्दर्शन के अभाव में दिगम्बर मुनि भी मुनि नहीं है, यह आगम का विधान है। सम्यग्दर्शन के होने पर ही अनन्त संसार सान्त होता है। छहढाला में जो कहा है –

मुनिव्रतधार अनन्तवार ग्रैवेयक उपजायो।
पे निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

यह सम्यग्दर्शन विहीन मुनिव्रत के लिये ही कहा है, क्योंकि द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि भी नौग्रैवेयक तक जा सकता है। अत: सम्यग्दर्शन विहीन चारित्र से भी स्वर्गसुख मिल सकता है, किन्तु मोक्षलाभ नहीं हो सकता। जो सांसारिक सुख की कामना से धर्माचरण करते हैं, वे धर्मात्मा कहलाने के पात्र नहीं हैं। किन्तु जो मोक्ष सुख की कामना से धर्म करते हैं, व सच्चे धर्मात्मा होते हैं और यथार्थ धर्म वही है जिससे कर्म कटते हैं।

शुभोपयोग का धर्म के साथ सम्बन्ध

तब प्रश्न होता है कि शुभोपयोग रूप धर्म है या नहीं है? और उसे करना चाहिये या नहीं?

प्रवचनसार गाथा ११ में कहा है जब यह धर्मपरिणत स्वभाव आत्मा शुद्धोपयोग रूप परिणमन करता है, तब निर्वाण सुख पाता है और यदि शुभोपयोगरूप परिणमन करता है, तब स्वर्गसुख प्राप्त करता है अर्थात् उसके पुण्यबन्ध होता है।

यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि धर्मपरिणत आत्मा ही शुभोपयोगी होता है, अत: उसे अधर्मात्मा तो नहीं कह सकते। आचार्य अमृतचन्द्रजी ने इसकी उत्थानिका में शुद्धपरिणाम की तरह शुभपरिणाम का सम्बन्ध चारित्रपरिणाम के साथ बतलाया है –

"अथ चारित्रपरिणाम सम्पर्कसम्भववतो: शुद्धशुभपरिणामयो:।" किन्तु शुभोपयोगी के चारित्र को कथंचिद् विरुद्ध कार्यकारी कहा है। अत: जैसे शुद्धोपयोग की तुलना में शुभोपयोग हेय है उसी प्रकार अशुभपयोग की तुलना में शुभोपयोग हेय नहीं है। अत: उसे अशुभोपयोग की तरह सर्वथा हेय कहना उचित नहीं है और न सर्वथा उपादेय कहना ही उचित है; क्योंकि शुभोपयोग के रहते हुये निर्वाण लाभ सम्भव नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसार में ही गाथा २४५ में श्रमणों के दो भेद किये हैं – शुद्धोपयोगी अनास्रव होते हैं और शुभोपयोगी सास्रव होते हैं।

इसकी टीका में अमृतचन्द्रजी ने यह प्रश्न उठाया है कि जो मुनिपद धारण करके भी कषाय का लेश जीवित होने से शुद्धोपयोग की भूमिका पर चढ़ने में असमर्थ हैं, वे क्या श्रमण नहीं हो सकते? उत्तर में प्रवचनसार की प्रारम्भ की गाथा ११ का प्रमाण देकर अमृतचन्द्रजी ने जोर देकर कहा है कि शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थसमवाय है अर्थात् धर्म और शुभोपयोग एक साथ रह सकते हैं, इसलिये धर्म का सद्भाव होने से श्रमण शुभोपयोगी भी होते हैं, किन्तु वे शुद्धोपयोगी श्रमणों के तुल्य नहीं होते।

आगे गाथा२५४ की टीका में अमृतचन्द्रजी ने कहा है कि श्रमणों के शुभोपयोग की मुख्यता नहीं रहती, गौणता रहती है, क्योंकि वे महाव्रती होते हैं और महाव्रत या समस्त विरति शुद्धात्मा की प्रकाशक है, किन्तु गृहस्थों के तो समस्तविरति नहीं होती, अतः उनके शुद्धात्मा के प्रकाशन का अभाव होने से तथा कषाय का सद्भाव होने से शुभोपयोग की मुख्यता है। तथा जैसे स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य की किरणों का संयोग पाकर ईधन जल उठता है, उसी प्रकार गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होने से वह शुभोपयोग क्रम से परमनिर्वाण सुख का कारण होने से मुख्य है।

इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्रजी ने श्रावक के शुभोपयोग की मुख्यता स्वीकार की है। सिद्धान्त तो यह स्वीकार करता ही है। किन्तु वह शुभोपयोग शुद्धोपयोग सापेक्ष होना चाहिये। निज शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकार की रुचि शुभोपयोगी को होती है, तभी वह शुभोपयोग, शुभोपयोग कहलाता है।

अपने पुरुषार्थसिद्धयुपाय के अन्त में आचार्य अमृतचन्द्रजी ने कहा है कि एकदेश रत्नत्रय का पालन करनेवालों के जो कर्मबन्ध होता है, उसका कारण एकदेश रत्नत्रय नहीं है किन्तु उसके साथ में जो शुभरागरूप शुभोपयोग रहता है, वह उस कर्म का कारण है। वह श्लोक इस प्रकार है –

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥

इसका अन्वयार्थ इसप्रकार है – (असमग्रं) एकदेश (रत्नत्रयं) रत्नत्रय को (भावयतः) पालन करने वाले के (यःकर्मबन्धोऽस्ति) जो कर्मबन्ध होता है, (स अवश्यं) वह अवश्य ही (विपक्षकृतः) विपक्ष रागादिकृत है।

यह तीन चरणों का अर्थ है। अन्तिम चरण स्वतन्त्र है, वह उक्त कथन के समर्थन में युक्ति है कि वह बन्ध रत्नत्रयकृत क्यों नहीं है, रागकृत क्यों है? क्योंकि (मोक्षोपायः) जो मोक्ष का कारण होता है वह (बन्धनोपायो न) बन्ध का कारण नहीं होता। आगे अमृतचन्द्रजी ने अपने इसी कथन की पुष्टि की है कि जितने अंश में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है उतने अंश में बन्ध नहीं है, जितने अंश में राग है उतने अंश में बन्ध होता है।

किन्तु इतने स्पष्ट कथन के होते हुए भी कुछ विद्वान् उक्त श्लोक के चतुर्थ चरण को भी पहले के चरणों के साथ मिलाकर ऐसा अर्थ करते हैं कि वह विपक्षकृत बन्ध अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बन्धन का उपाय नहीं है। किसी भी सिद्धान्त ग्रन्थ में कर्मबन्ध को, भले ही वह पुण्यबन्ध हो, मोक्ष का अवश्य उपाय नहीं कहा है। फिर अमृतचन्द्रजी तो आगे ही लिखते हैं –

'आस्रवति यस्तु पुण्यं शुभोपयोगस्य सोऽयमपराधः।'

'जो पुण्य का आस्रव होता है, वह तो शुभोपयोग का अपराध है।' जो ग्रन्थकार पुण्यास्रव को शुभोपयोग का अपराध कहता है, वह उस अपराध को मोक्ष का उपाय कैसे कह सकता है?

इस प्रकार मुझे तो सिद्धान्त और अध्यात्म में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई विरोध प्रतीत नहीं होता। विरोध तो सिद्धान्त और अध्यात्म का पक्ष लेने वालों में है और वह तब तक दूरी नहीं हो सकता, जब तक वे अमृतचन्द्रजी के शब्दों में अपने मोह को स्वयं वमन करके सिद्धान्त-अध्यात्म रूप जिनवचन में रमण नहीं करते। पक्षव्यामोह को त्यागे बिना जिनवाणी का रहस्य उद्घाटित नहीं होता, जिनवाणी स्याद्वादनयगर्भित है। जितने वचन के मार्ग हैं, उतने ही नयवाद हैं, अत: नयदृष्टि के बिना जिनागम के वचनों का समन्वय नहीं हो सकता। इसी से आचार्य देवसेन ने नयचक्र में कहा –

जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थुसरूवउवलद्धी।
वत्थुसरूवविहीणा सम्मादिट्ठी कहं होंति॥

'जिनके नयरूपी दृष्टि नहीं है, उन्हें वस्तु स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती, और वस्तु-स्वरूप की उपलब्धि के बिना सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?'

किन्तु आज तो सम्यक्त्व के लिये वस्तुस्वरूप की उपलब्धि को आवश्यक नहीं माना जाता। आज तो चारित्र धारण कर लेने मात्र से ही सब समस्या हल हो जाती है। आगम और अध्यात्म में प्रतिपादित धर्म सम्यक्त्व से प्रारम्भ होता है। किन्तु आज के लोकाचार का धर्म सम्यक्त्व से नहीं, चारित्र से प्रारम्भ होता है। इस उल्टी गंगा के बहने से न व्यक्ति ही लाभान्वित होता है और न समाज ही। इस स्थिति पर सभी को शान्ति से विचार करना चाहिये। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार जिनेन्द्र शासन में कोई विरोध नहीं है, विरोध हममें हैं।

❐

– श्री आदिनाथ जिनेन्द्र बिम्बप्रतिष्ठा एवं गजरथ
महोत्सव मदनगंज-किशनगढ़ (राज.)
सन् १९७९, स्मारिका से साभार

अप्रादुर्भाव: खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप:॥

पुरुषार्थसिद्धयुपाय ४४

निश्चय से राग-द्वेषादि भावों का प्रकट न होना ही अहिंसा है और उन राग-द्वेषादि भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है। यही जैन सिद्धान्त का सार है।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थान नेत्रमिव गोपी॥

पुरुषार्थसिद्धयुपाय २२५

दही की मथानी की रस्सी को खेंचने वाली ग्वालिनी की तरह जिनेन्द्र देव की स्याद्वाद नीति अथवा निश्चय-व्यवहाररूप नीति वस्तु के स्वरूप को एक सम्यग्दर्शन से अपनी ओर खेंचती है तो दूसरे से – सम्यग्ज्ञान से शिथिल करती है और अन्त में सम्यक्चारित्र से सिद्धरूप कार्य को उत्पन्न करने से जैन सिद्धान्त को जीतती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य के साधारण गुण

❑ आर्यिका शीतलमतिजी
संघस्थ : आ. सन्मतिसागरजी महाराज

आत्मकल्याण के लिए सबसे आवश्यक अंग सम्यग्दर्शन है। संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, सुख की उपलब्धि मोक्ष में होती है अत: उसकी ओर ही ज्ञानी जीव का पुरुषार्थ होता है। उसके पुरुषार्थ का पहला कदम सम्यग्दर्शन है। समन्तभद्र स्वामी ने यथार्थ देव-शास्त्र-गुरू का तीन मूढ़ताओं तथा आठ मदों से रहित एवं आठ अंगों से सहित श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहा है। उमास्वामी ने तत्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बताया है और कुंद-कुंद स्वामी ने अबद्धस्पष्ट तथा असंयुक्त आदि विशेषणों से युक्त आत्मा के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। सम्यग्दर्शन के सब लक्षण इसी लक्षण के साधक हैं। सीधे साधे शब्दों में कहा जाय तो पदार्थ का सही-सही रूप अपनी बुद्धि में अंकित हो जाय, यही सम्यग्दर्शन है। पदार्थ के सही स्वरूप को समझने के लिए उसके असाधरण-विशिष्ट गुणों पर तो दृष्टि दी ही जाती है पर अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व – इन छह साधारण गुणों पर भी दृष्टि देना आवश्यक है। इसके बिना वस्तु की पूर्णता नहीं होती। यहाँ संक्षेप से इन गुणों के स्वरूप पर विचार करना है।

१. प्रथम अस्तित्व गुण का अर्थ सत्ता अर्थात् मौजूदगी है। मौजूदगी ही पदार्थ का पहला लक्षण है। पंचाध्यायीकार ने कहा है।

तत्त्वंसल्लाक्षणिकंसन्मात्रं वा यत: स्वत: सिद्धं।
तस्मादनादिनिधनंस्वसहायंनिर्विकल्प च॥

तत्त्व अर्थात् पदार्थ सत् लक्षण वाला है। अथवा गुण गुणी के अभेद कथन की अपेक्षा सत् रूप ही है, स्वत: सिद्ध है – किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा बनाया हुआ नहीं है, अनादि निधन है, स्वसहाय है और निर्विकल्प है। सीधा अर्थ यह है कि संसार के अंदर ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है, जो अस्तित्त्व गुण से रहित हो।

२. दूसरा वस्तुत्त्व गुण का अर्थ है – अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुत्वं अर्थात् अर्थ क्रियाकारी होना ही वस्तु का वस्तुत्त्व है। तृषा निवारण, वस्त्र प्रक्षालन, तथा स्नान आदि पानी के कार्य हैं, इन कार्यों से पानी की यथार्थता जानी जाती है। मृगतृष्णा में यह सब नहीं होते इसलिए वह पानी नहीं है किन्तु भ्रममात्र है।

३. तीसरा गुण द्रव्यत्व है वह परिणमन-शीलता लक्षण वाला द्रव्यत्व गुण कहलाता है। द्रव्य की यह परिणमनशीलता स्वप्रत्यय और स्व-पर प्रत्यय के भेद से दो प्रकार की होती है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनकी परिणमन शीलता स्वप्रत्यय है। यद्यपि इन में भी काल द्रव्य की अपेक्षा स्व पर प्रत्ययपना आता है। पर उसकी यहाँ विवक्षा नहीं की गई है। जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्यों की परिणमन-शीलता स्व-प्रत्यय और स्व-पर प्रत्यय दोनों प्रकार की होती है। प्रत्यय का अर्थ कारण है अर्थात् निमित्त कारण है। यद्यपि निमित्त कारण स्वयं कार्यरूप परिणमन नहीं करता है तथापि वह कार्य की सिद्धि में आवश्यक है। उपादान स्वयं कार्यरूप परिणत है अत: उपादानोपादेयभाव एक द्रव्य में बनता है। कर्तृकर्मभाव का निरूपण भी आचार्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने एक ही द्रव्य में किया है। निमित्त-नैमित्तिक भाव दो द्रव्यों में बनता है। इस विषय में कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जीव के परिणाम-रागादि भावरूप हेतु को पाकर पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणमन करते हैं और पुद्गल कर्म को निमित्त पाकर जीव भी रागादिरूप परिणमन करता है। जीव का विभाव परिणमन अनिमित्तक नहीं हैं। यथा –

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।

पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ॥

४. चौथा प्रमेयत्व गुण है जो प्रमाण का विषय है अर्थात् किसी न किसी के ज्ञान का विषय है वह प्रमेय कहलाता है। संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो किसी के ज्ञान का विषय न हो।

५. पाँचवाँ अगुरुलघुत्व गुण है इसका अर्थ है – एक द्रव्य का दूसरे द्रव्यरूप नहीं परिणमना। जीव कभी पुद्गलरूप नहीं होता और पुद्गल कभी जीवरूप नहीं होता। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यंताभाव रहता है। अत्यंताभाव का अर्थ है जो त्रिकाल में भी उसरूप न हो सके।

६. छटवाँ प्रदेशत्व गुण का अर्थ प्रदेशों से सहित होना। जीव, धर्म और अधर्म ये तीनों द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं, काल द्रव्य एक प्रदेशी है, आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी है और पुद्गल संख्यात, असंख्यात तथा अनंतप्रदेशी है। पुद्गल का परमाणु एक प्रदेशी ही है परन्तु स्कन्ध में संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं। इस प्रदेशत्व गुण के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य होता है। आकार के बिना वस्तु खरविषाणवत् होती है अर्थात् अस्तित्व से रहित होती है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानकर उसकी दृढ़ प्रतीति करता है। सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्गी कहलाता है। उसकी परिणति ही बदल जाती है; मिथ्यादृष्टि जीव संकल्प और विकल्प में फँसा रहता है पर सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उभरने लगता है। **विकल्प उतना हानिकारक नहीं होता जितना कि संकल्प। विकल्प तो श्रुतज्ञान का अंश है परन्तु संकल्प मोहजनित इच्छाओं का जाल है।** सम्यग्दृष्टि की इच्छाओं का जाल आगे-आगे कम होता जाता है। प्रथम गुणस्थान से लेकर तृतीय गुणस्थान तक के जीव की इच्छाएँ दर्शनमोह के साथ रहती हैं परन्तु चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती जीव की इच्छाएँ मात्र चारित्रमोह जनित होती हैं, अत: उनका रूप ही दूसरा होता है। सम्यग्दृष्टि भोजन तो करता है परन्तु भोजन में अमुक वस्तु ही होना चाहिए, ऐसा भाव उसका नहीं होता। सम्यग्दृष्टि कपड़ा तो पहनता है परन्तु ऐसा ही कपड़ा होना चाहिए यह उसका अभिप्राय नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य की शक्ति नियम से होती है, अत: इन शक्तियों के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है।

समयसार के आत्मख्यातिकार लिखते हैं – स्व-पर समाना, समान समाना, समान त्रिविधभाव धारणात्मिका, साधारणासाधारण साधारणासाधारण धर्मस्वशक्ति अर्थात् स्व-पर के समान, असमान और समानासमान ये तीन भेदरूप भावों को धारणा स्वरूप साधारण, असाधारण और साधारणासाधारण धर्मत्व शक्ति है।

इसके विपरीत स्वरूप समझने पर क्या होता है इस बात को श्लोकवार्तिकाकार ने बताया है – सपक्षेविपक्षे च भवेत् साधारणस्तु स:। प्रस्तूभयस्याद्वधावृत्त: स त्व सः साधारणोमत: अर्थात् व्यभिचारी हेत्वाभास तीन प्रकार का है – साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी। उसमें जो हेतु सपक्ष व विपक्ष दोनों में रह जाता है वह साधारण है और जो हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों में नहीं ठहरता वह असाधारण है।

❐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय-व्यवहार

❑ पं. शिवचरनलाल जैन

आत्मस्वरूप को सुखमय बनाने के लिए उसके परिज्ञान की महती आवश्यकता है। ज्ञान प्रमाण और नयों से होता है। ज्ञान की समीचीनता का नाम ही प्रमाण है। कहा भी है – 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'। प्रमाण के अंशों को नय कहते हैं। 'प्रमाणांशा: नया: उक्ता:'। सारांश में कह सकते हैं कि ज्ञान की समीचीनता, चाहे वह समग्र रूप में हो अथवा आंशिक रूप में, आत्मस्वरूप को समझने का उपाय है। 'नयतीति नय:' अर्थात् जो किसी एक लक्ष्य पर पहुँचता है, ले जाता है, वह नय है। यदि लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है तो नयों की आवश्यकता है। नयों के दो काम इस प्रकार ज्ञात होते हैं – एक तो ज्ञान में सहायक होना, दूसरा अग्रसर कराना। अन्य शब्दों में क्रिया या गतिशीलता के सम्मुख ज्ञान के साधनों को नय कहा जा सकता है।

अनेकान्त जैन दर्शन का मूल है। वस्तु अनन्त धर्म वाली है। उन धर्मों को विभिन्न दृष्टियों से ही जाना जा सकता है, इन्हीं दृष्टियों को नय कहते हैं। पदार्थ की यथात्मकता के सफल अवबोधक होने से सभी नय सार्थक हैं। आगम और अध्यात्म इन दो रूपों में श्रुतज्ञान को विभक्त किया जाता है, अलग-अलग दो श्रुतज्ञान निरपेक्ष नहीं हैं। दोनों का हर काल में सहयोगी निरूपण है। इसीलिए आगमिक नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा आध्यात्मिक नय निश्चय और व्यवहार ३६ में अंक ३ और ६ के समान विपरीत दिशोन्मुख न होकर ६३ में परस्पर सहयोगाकांक्षी के रूप में अवस्थित हैं। किसी अपेक्षा से आगम में वर्णित द्रव्यार्थिक नय को निश्चयनय और पर्यायार्थिक नय को व्यवहारनय कह सकते हैं। आचार्यों ने अध्यात्म में स्थान-स्थान पर निश्चय और व्यवहार इन दो नयों का नाम लेकर प्रयोग किया है। अपेक्षा को स्पष्ट करना उनकी दृष्टि में सर्वत्र उपयोगी रहा है ताकि पाठक को भ्रम अथवा छल न हो।

परिभाषाएँ –

१. निश्चिनोति निश्चीयते अनेन वा इति निश्चय: –
जो तत्त्व परिचय कराता है अथवा जिससे अर्थावधारण किया जाता है या निश्चित किया जाता है, वह निश्चय है।

२. निश्चयनय एवम्भूत: –
निश्चयनय एवम्भूत है। (श्लोकवार्तिक १-७)

३. परमार्थस्य विशेषेण संशयादिरहितत्वेन निश्चय: –
परमार्थ के विशेषण से संशयादि की रहितता होने से निश्चय है।(प्रवचनसार, ता.वृ.-९३)

४. अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चय: –
जो अभेद और अनुपचार से वस्तु का निश्चय कराता है, वह निश्चय है। (आलापपद्धति ९)

५. जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं। अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणी हि। (स.प्रा.)
जो आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष (सामान्य) और असंयुक्त देखता है, वह निश्चय (शुद्ध निश्चनय) जानना चाहिए।

६. आत्माश्रितो निश्चयोनय: – (स.सा.आ.-२७२)
आत्मा ही जिसका आश्रय है, वह निश्चय है।

७. अभिन्नकर्तृ कर्मादि विषयो निश्चयो नय: – कर्ता, कर्म आदि को अभिन्न विषय करने वाला निश्चय नय है। (तत्त्वानुशासन/५९, अनगार धर्मामृत/१/१०२)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार नय –

१. पडिख्वं पुण वयणत्थणिच्छ्यो तस्स ववहारो – वस्तु के प्रत्येक भेद के प्रति शब्द का निश्चय करना व्यवहार नय है। (धवला १/१)

२. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधि पूर्वकमवहरणं व्यवहार: – संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहार है। (सर्वार्थसिद्धि १/३३)

३. भेदोपचराभ्यां व्यवहरतीति व्यवहार: – जो भेद और उपचार से व्यवहार करता है, वह व्यवहार है।

४. जो सियभेदुवयारं धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स। सो ववहारो भणियो.....।

एक अभेद वस्तु में जो धर्मों का अर्थात् गुण-पर्यायों का भेदरूप उपचार करता है, वह व्यवहार नय कहा जाता है।

५. पराश्रितो व्यवहार: – परपदार्थ के आश्रित कथन करना व्यवहार है। (स.प्रा. आत्मख्याति २७२)

६. व्यवहरणं व्यवहार: स्यादिति शब्दार्थो न परमार्थ: – स यथा गुणगुणिनो सदभेदे भेदकरणं स्यात्।

विधिपूर्वक भेद करने का नाम व्यवहार है। यह इस निरुक्ति द्वारा किया गया शब्दार्थ है, परमार्थ नहीं। जैसा कि यहाँ पर गुण और गुणी में सत् रूप से अभेद होने पर भी भेद करता है, वह व्यवहार नय है।

(पंचाध्यायी/पू./५२२)

७. व्यवहारनयो भिन्न कर्तृकर्मादिगोचर: – व्यवहार नय भिन्न कर्ता-कर्मादि विषयक है।

८. जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो। (छहढाला)

उपरोक्त परिभाषाएँ निश्चय और व्यवहार के स्वरूप को समझने में उपयोगी हैं। इन नयों की परिभाषाएँ अध्यात्म में बहुत मिलती हैं। सब सापेक्ष हैं। यहाँ दोनों का पृथक्-पृथक् एवं समन्वित वर्णन किया जाता है।

निश्चय नय – जिससे मूल पदार्थ का निश्चय किया जाता है, वह निश्चय नय है। यह नय वस्तु के मूल तत्त्व को देखता है। यद्यपि परपदार्थों की संगति भी वास्तविक है तथापि यह उसको दृष्टिगत नहीं करता है। जैसे आत्मा और पुद्गल संसार में मिले हुए द्रव्य हैं। ऐसी स्थिति में भी शरीरादि परद्रव्यों को पृथक् ही मानते हुए केवल आत्मद्रव्य को ही ग्रहण करता है। पर्यायों पर भी दृष्टि नहीं डालता है। आगम भाषा का द्रव्यार्थिक नय अपेक्षा दृष्टि से निश्चय नय माना जा सकता है किन्तु पूर्णतया दोनों का स्वरूप एक नहीं है क्योंकि वहाँ व्यवहार को भी द्रव्यार्थिक माना गया है।

स्वाश्रितो व्यवहार: – इस लक्षण के अनुसार इस नय का प्रयोजन स्वद्रव्य है। निश्चय नय दो प्रकार का है। १. शुद्ध निश्चय नय, २. अशुद्ध निश्चय नय। शुद्ध द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह शुद्ध निश्चय नय है। इसे आगम भाषा में वर्णित परमभावग्राही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कह सकते हैं। अशुद्ध द्रव्य जिसका प्रयोजन है, वह अशुद्ध निश्चय नय कहलाता है। आगम भाषा में जिसे कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कह सकते हैं।

वृहद्द्रव्यसंग्रह में उपरोक्त दो नयों का प्रयोग देखिये –

पुग्गल कम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्ध भावाणं ॥८॥

यहाँ अशुद्ध निश्चय नय से आत्मा को चेतन परिणाम (भावकर्म राग-द्वेष आदि) का कर्त्ता बताया है तथा शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध भावों का कर्त्ता बताया है। यद्यपि यहाँ स्पष्ट रूप से अशुद्ध निश्चय नय का उल्लेख नहीं किया गया है, तथापि शुद्ध नय से अन्य निश्चय नय निरूपित किया गया है, वह अशुद्ध निश्चय नय ही है।

समयसार कलश १० में शुद्ध नय का लक्षण देखिये–

आत्मस्वभावं परभावभिन्नं आपूर्ण माद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥

आत्म स्वभाव को परभावों से भिन्न, आपूर्ण, आदि अन्त रहित, एकरूप तथा संकल्प विकल्प जाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से रहित प्रकाशित करता हुआ शुद्ध नय (शुद्ध निश्चय) उदय को प्राप्त होता है।

आचार्य अमृतचन्दजी ने निश्चय नय से अपने भावरूप परिणमन करने वाले को कर्त्ता कहा है –

य: परिणमति स कर्त्ता य: परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणति: क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥

जीव राग-द्वेष भाव का भी कर्त्ता है तथा शुद्धभाव (वीतराग भाव) का भी। दोनों प्रकार के भावों का कर्त्ता एक नय से नहीं हो सकता। दो नय चाहिए। वे दोनों ही निश्चय नय हैं। दोनों के विषय विरुद्ध हैं। अत: वे शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय ही हो सकते हैं।

चूँकि जीव का परिणमन शुद्ध रूप से एवं अशुद्ध रूप से, दोनों से होता है, अत: आचार्य श्री की दृष्टि में दोनों को निश्चय रूप से मान्यता प्राप्त है। परमार्थ दृष्टि से अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार ही है।

व्यवहार नय – ऊपर कह आये हैं कि जो भेद और उपचार से व्यवहार करता है, वह व्यवहार नय है। इसका विषय अनुपचार भी है, जैसा कि इसके भेद-प्रभेदों से प्रकट है। गुण और गुणी में भेद करना इसका कार्य है तथा भेद में भी अभेद की सिद्धि करना भी (उपचार) इसका कार्य है। जैसे जीव और पुद्गल में भेद है किन्तु यह इनको एक कहता है। जैसे –

"ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।" (समयसार गाथा २७)

व्यवहार नय देह और जीव को एक कहता है।

"पराश्रितो व्यवहार:" – इस वचन के अनुसार यह नय पर के आश्रय से प्रवृत्ति करता है। परद्रव्यों द्रव्यकर्म, शरीर-परिग्रहादि नोकर्म को तथा उनके सम्बन्ध से होने वाले कार्यों को जीव का मानता है। जीव कर्म करता है, जन्म-मरण करता है, संसारी है, मूर्तिक है, पौद्गलिक कर्मों का भोक्ता है, बद्ध और स्पृष्ट है, आदि का वर्णन करता है। इस नय को आगम भाषा में पेक्ष या पर्यायार्थिक नय कहते हैं। यह द्रव्य को नहीं देखता, पर्याय को ही विषय करता है। इस नय को भी दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है।

१. स्वभाव व्यंजन पर्यायार्थिक नय,
२. विभाव व्यंजन पर्यायार्थिक नय।

अन्य दृष्टि से व्यवहार के निम्न चार भेद हैं –

१. अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय – जैस जीव के केवलज्ञान आदि गुण हैं।

२. उपचरित सद्भूत व्यवहार नय – जैसे जीव के मतिज्ञान आदि विभाव गुण हैं।

३. अनुचरित असद्भूत व्यवहार नय – संश्लेष सहित शरीरादि पदार्थ जीव के हैं।

४. उपचरित असद्भूत व्यवहार नय – जिनका संश्लेष सम्बन्ध नहीं है – ऐसे पुत्र, मित्र, गृहादि जीव के हैं।

उपरोक्त प्रकार दोनों नयों का संक्षेप से स्वरूप वर्णन किया।

जीवादिक पदार्थों के परिज्ञान के लिए प्रमाण और नयों की उपयोगिता है। जिसप्रकार हम किसी वस्तु को हर पहलू से घुमा फिराकर देखते हैं, उसीप्रकार विभिन्न नयों (Points of view) या दृष्टिकोणों से समन्वित रूप से हमें जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानना आवश्यक है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अत: किसी एक ही नय द्वारा उसका सर्वांगीण ज्ञान अशक्य है। हाँ, "अर्पितानर्पित सिद्धे:" – इस वचन के अनुसार किसी नय को किसी समय में मुख्य और किसी को गौण करना पड़ता है। नयों को चक्षु की उपमा दी है।

नय योजना – कौन-सा नय किस अवस्था में प्रयोजनीय है, इसे दृष्टि में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की १२वीं गाथा में कहा है –

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे॥१२॥

जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रवान हो गये हैं अर्थात् परमभावदर्शी हैं, उनको तो शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है किन्तु जो अपरमभाव में स्थित हैं, उनके लिए व्यवहार का उपदेश दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार नय को समयसार जैसे शुद्ध अध्यात्म एवं विशुद्ध ध्यान विषयक ग्रन्थों में अभूतार्थ भी कहा गया है, जिसका अर्थ असत्यार्थ भी किया गया है। इसका मतलब यह ही है कि जब योगी शुद्धोपयोग की अवस्था में पहुँचता है, उसकी अपेक्षा यह अप्रयोजनभूत है। इसका आशय यह नहीं है कि यह सर्वथा असत्यार्थ है। अपने विषय की अपेक्षा अथवा प्रमाण की दृष्टि में वह भी उतना ही भूतार्थ है जितना कि निश्चय। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने आत्मख्याति में बतलाया है कि जब कमल को जल सम्पृक्त अवस्था की दृष्टि से देखते हैं तो कमल जल में है, यह व्यवहार कथन भूतार्थ है। जब जल की तरफ दृष्टि न करके मात्र कमल को देखते हैं तो कमल जल से भिन्न है, यह निश्चय कथन भूतार्थ है। वास्तविकता यह है कि कोई नय की सत्यार्थता होती है। प्रयोजन निकल जाने पर वही अभूतार्थ, असत्यार्थ कहलाता है। यदि व्यवहार नय सर्वथा अभूतार्थ होता तो उसे अनेकान्त सम्यक् प्रमाण के भेदों में स्थान कैसे मिलता।

नय चाहे व्यवहार हो या निश्चय, सभी नयवादों को पर समय कहा गया है। देखिये –

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया॥

(द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र)

ऊपर परमार्थ परमभाव की चर्चा की है। परमभाव में स्थित मुनि हैं। इस विषय में स्थान-स्थान पर आचार्यों ने स्पष्टीकरण भी किया है।

समयप्राभृत में देखिये –

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि॥
णिच्छयणयासिदापुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।

निश्चय नय-परक अध्यात्म ग्रन्थों की रचना आचार्य कुन्दकुन्द आदि महर्षियों ने श्रमणों को लक्ष्य में रखकर की है। यथास्थान "मुनेः" आदि सम्बोधन पदों का प्रयोग भी किया है। इस शैली के पात्र वस्तुतः संसार, शरीर और भोगों से अन्तःकरण से एवं बाह्य रूप से विरक्त साधु ही हैं। इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि इन ग्रन्थों को गृहस्थ को पढ़ना ही नहीं चाहिए, अपितु ये ग्रन्थ ऊपर बताये गये भाव को अर्थात् मुनिपरक उपदेशता को ध्यान में रखकर ही अध्येय हैं। इस सावधनी से अध्यात्म का हार्द समझने में चूक न होगी। व्यवहार नय बाहरी फोटो के समान पदार्थ का चित्रण करता है, निश्चय नय एक्सरे के फोटो के समान अन्तरंग एवं निर्लिप्त चित्रण करता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है कि जिसप्रकार अनार्य भाषा के बिना म्लेच्छ को समझाना अशक्य है, उसीप्रकार बिना व्यवहार के निश्चय का उपदेश अशक्य है। जिसप्रकार अक्षर के भेद-प्रभेद रूप विन्यास के बिना बालक को सर्वप्रथम अक्षरज्ञान नहीं हो सकता, अपितु उसे "अ" के पेट, चूलिका, दण्ड, रेखा (ऽ – ।) अलग-अलग बताने पड़ते हैं तथा उन अवयवों से ही "अ" बनता है, उसीप्रकार व्यवहार नय प्राथमिक जीवों को उपयोगी है एवं व्यवहार भेदों के एकत्रीकरण से ही निश्चय का स्वरूप बनता है।

व्यवहार निश्चय का साधन है – निश्चय साध्य है, व्यवहार साधन है। आचार्य अमृतचन्द्रजी ने भी तत्त्वार्थसार में कहा है –

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनः॥

एक ही मोक्षमार्ग दो प्रकार है – १. निश्चय, २. व्यवहार। निश्चय साध्य है, व्यवहार साधन है। बिना व्यवहार के निश्चय की सिद्धि त्रिकाल में संभव नहीं है। द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र में माइल्लधवल कहते हैं –

णो ववहोरण विणा णिच्छयसिद्धी कया वि णिद्दिट्ठा।
साहणहेऊ जम्हा तम्हा य भणिय सो ववहारो॥

आचार्य अमृतचन्द्रजी ने पंचास्तिकाय की टीका में (गाथा नं. १६७ से १७२ तक) इस साध्य-साधन भाव को दृढ़ता से प्रतिपादित किया है, तीनों रत्नों को (व्यवहार व निश्चय) दोनों रूपों में मान्यता दी है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार को निश्चय का बीज लिखा है। यानि व्यवहार ही निश्चय रूप में परिवर्तित हो जाता है। जो निश्चय और व्यवहार में किसी एक का भी पक्षपात करता है, वह देशना का फल प्राप्त नहीं करता। निष्पक्षता ही फल की उत्पादक है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा भी है –

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एवं फलमविकलं शिष्यः॥

किसी नय की अवहेलना वस्तु तत्त्व की अवहेलना है। नय तो जानने के लिए दो आँखों के समान हैं। समय-समय पर प्रत्येक नय काम में आता है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने गोपिका के उदाहरण से अनेकान्तमय जैनी नीति को प्रस्तुत किया है –

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थान नेत्रमिव गोपी॥
(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २२५)

जैसे गोपिका मक्खन निकालने के लिए मथानी की रस्सी से दोनों छोरों को पकड़े रहती है, गौण मुख्य करती है, उसीप्रकार तत्त्व जिज्ञासु रस्सी स्थानीय प्रमाण के दोनों अंश व्यवहार-निश्चय, इनमें से किसी को छोड़ता नहीं है, यथासमय गौण-मुख्य करता है।

निश्चयाभास – जो शुद्ध अध्यात्म ग्रन्थों का पठन करके निश्चय नय के वास्तविक अर्थ को न जानता हुआ व्यवहार धर्म, शुभ प्रवृत्ति, शुभोपयोग रूप अणुव्रत महाव्रत रूप सराग चारित्र को सर्वथा हेय मानता है, जिसने पाप क्रियाओं को अब तक छोड़ा नहीं है, जिसे गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि विषयक करणानुयोग का ज्ञान नहीं है, जो शुभ को सर्वथा बन्ध का कारण मानता है तथा चारित्र एवं चारित्रधारी मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाओं की उपेक्षा करता है, जीव को सर्वथा कर्म का अकर्त्ता मानता है, वह निश्चयाभासी है। उसका निश्चय आभासमात्र है, वह निश्चयैकान्ती है।

जीव को शुद्ध निश्चय नय से कर्म का अकर्त्ता कहा गया है एवं शुभ भाव को भी हेय कहा गया है। उसी कथन को सम्पूर्ण सत्य मानकर वैसा ही निरूपण करता है। द्रव्य को सर्वथा शुद्ध मानता है परन्तु आप साक्षात् रागी हो रहा है। उस विकार को पर (अन्य) मानकर उससे बचने का उपाय नहीं करता। यद्यपि अशुद्ध है तथापि भ्रम से अपने को शुद्ध मानकर एक उसी शुद्ध आत्मा का चिन्तन करता है। द्रव्य से पर्याय को सर्वथा भिन्न मानकर, अस्पृष्ट मानकर सन्तुष्ट हो जाता है, जबकि द्रव्य से पर्याय तन्मय है। वह रागादिक विकार को पर्याय मात्र में मानता है, विकारों का आधार पर्याय ही मानता है। इस मान्यता का जीव दही, गुण खाकर प्रमादी हुए के समान आत्मस्वरूप से च्युत बहिरात्मा है।

निश्चयैकान्ती एक ज्ञान मात्र को ही वास्तविक मोक्षमार्ग मानता है, तथा चारित्र तो स्वतः हो जायेगा, ऐसा जानकर चारित्र और तप हेतु उत्साही नहीं होता। नियतिवाद, क्रमबद्ध पर्यायत्व और कूटस्थता के एकान्त ज्वर से पीड़ित रहता है। समयप्राभृतादि अध्यात्म के उपदेश का अनर्थकर, सम्यग्दृष्टि अबन्धक है एवं वह भोगों से निर्जरा को प्राप्त होता है, ऐसा श्रद्धान कर भोग व पाप से विरक्त नहीं होता। शुभोपयोग को किसी भी प्रकार शुद्धोपयोग का साधक नहीं मानता। व्यवहार को निश्चय का साधक नहीं मानता। प्रथम ही निश्चय मोक्षमार्ग तथा बाद में व्यवहार का सद्भाव मानता है। व्यवहार के कथन को अवास्तविक मानता है, कहता है कि यह कहा है, ऐसा है नहीं। विवक्षा को नहीं समझता। शुद्धोपयोग के गीत गाता हुआ अशुभ परिणामों से नरकादि कुगति का पात्र होता है। इसप्रकार निश्चयाभासी स्वयं तो अपनी हानि करता ही है, साथ ही समाज को भी पाप पंक में डुबो देता है।

व्यवहारैकान्त – जिसको निश्चय नय के द्वारा वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं है, मात्र बाहरी क्रियाकाण्ड को धारण करता है, देखादेखी और भाव के बिना अर्थात् बिना निर्धारण के तप संयम अंगीकार करता है, जिसको अपनी भाव-परिणति बिगड़ती रहने का भय नहीं है, अन्तरंग में कषाय की तीव्रता है, जो कषाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को शान्त करने के लिए ज्ञान की उपयोगिता की उपेक्षा करता है, जो बिना मोक्ष लक्ष्य के देवपूजा आदि षट्कर्म तथा बाह्य तपश्चरण आदि को ही साक्षात् मोक्षमार्ग रूप सर्वस्व समझकर अपने को धर्मात्मा मानता है, चारित्र की विशुद्धि में कारण दर्शन-ज्ञान की ओर जिसका लक्ष्य नहीं है, जिसके मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत सात तत्त्वों को जानने का विचार नहीं है, वह व्यवहाराभासी है। यद्यपि ऐसे मनुष्य से समाज को हानि नहीं है, वह व्यवहाराभासी है। तथा पुण्य कार्यों के सम्पादन से लाभ भी है, तथापि व्यवहारभासी मोक्ष का पात्र नहीं है।

उभयाभास – जो व्यवहार और निश्चय दोनों को अलग-अलग मोक्षमार्ग मानता है, वह उभयाभासी है। व्यवहार और निश्चय ये दोनों प्रमाण के अंश हैं। इनका लक्ष्य एक ही पदार्थ होता है, किन्तु उभयाभासी दोनों को स्वतन्त्र रूप से मानकर दो मोक्षमार्ग मानता है। ऐसा उभयाभासी सच्ची प्रतीति से अनभिज्ञ है।

उपरोक्त प्रकार नयों के दुरुपयोग देखने में आता है। समीचीन दृष्टि से देखने वाला व्यक्ति व्यवहार को साधन और निश्चय को साध्य मानता है। वह जानता है कि मोक्षमार्ग एक है, उसके दो पहलू हैं। वे परस्पर विरुद्ध लगने पर भी अविरोधी हैं। समयसार के १५वें कलश में कहा भी है –

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकं समुपास्यताम्॥

जो सिद्धि के इच्छुक हैं उन्हें साध्य-साधन भाव से दो रूपों को धारण करने वाले किन्तु वस्तु रूप से एक आत्मा की सम्यक् उपासना करना चाहिए। मुमुक्षु को न निश्चय का पक्ष है, न व्यवहार का। वह बाह्य धर्मसाधन करते हुए अन्तरंग भाव विशुद्धि पर ध्यान रखता है तथा क्रम को स्वीकार कर पहले पाप को छोड़कर पुण्य का निष्ठावान होकर आचरण करता है। पश्चात् जब शुद्धोपयोग में स्थित हो जाता है तो ऐसी परम मुनिदशा में पुण्य भी अपने आप छूट जाता है, किन्तु पुण्य के विषय में ऐसा नहीं है। पाप और पुण्य में कर्म सामान्य अपेक्षा समानता होने पर भी बड़ा अन्तर है।

आचार्य कुन्दकुन्द बारसाणुवेक्खा में कहते हैं–

वर वय तवेहि संग्गो मा दुक्खं णिरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेदं॥

आचार्य पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक श्लोक ८४ में कहते हैं –

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पद्मात्मनः॥

यहाँ बताया है कि मोक्षार्थी को पाप को छोड़कर व्रतों (पुण्य) को आदर पूर्वक निष्ठापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। परम पद मिलने पर व्रत भी अपने आप छूट जाते हैं। उस स्थिति में संकल्प-विकल्प का अभाव है, अतः त्याग और ग्रहण के लिए भी अवकाश नहीं है। फिर निश्चय व्रत तो कभी नहीं छूटते।

उपरोक्त प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार पूर्वक निश्चय को मानता है। कुछ लोग कहते हैं कि पहले निश्चय होता है, बाद में व्यवहार। सो निश्चय का अर्थ उद्देश्य या इरादे को ध्यान में रखकर ऐसा कथन करते हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि ऐसा इरादा, प्रतीति सो व्यवहार ही है। निश्चय की प्राप्ति होने के बाद व्यवहार की क्या आवश्यकता है ?

इस विषय में पं. टोडरमलजी का पुरुषार्थसिद्धि उपाय में समागत यह छन्द विशेष उपयोगी है –

कोऊ नय निश्चय सों आतमा को शुद्ध मानि,
भये हैं सुछंद न पिछानै निज सुद्धता।
कोऊ व्यवहार जप-तप-दान-शील को ही,
आतम को हित जानि छांड़त न मुद्धता॥
कोऊ व्यवहार नय निश्चय के मारग को,
भिन्न-भिन्न पहचान करें निज उद्धता।
जब जानैं निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण है उपचार मानैं तब बुद्धता॥

❐

– श्याम भवन, बजाना देवी रोड, मैनपुरी (उ.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तरात्मा की अन्तर्मुखता और उसका उद्‌भव

❑ पण्डित ज्ञानचन्द बिल्टीवाला

जीव/आत्मा तीन प्रकार के होते हैं – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा बहिर्मुखी/पराश्रयी होता है, अन्तरात्मा अन्तर्मुखी/स्वाश्रयी होता है तथा परमात्मा निर्विकल्प होता है।

संसार दशा में जीव पर अष्ट कर्मों की कालिख उसके प्रदेश-प्रदेश पर पुती हुई है। कालिख पोतने वाला अन्य कोई नहीं, वह स्वयं है और ऐसा कर वह अपने परमात्मस्वरूप को आवृत्त कर स्वयं को बौना, तुच्छ, विकारग्रस्त बना वैसा ही अनुभव किये जा रहा है। इन्द्रिय द्वारों से जैसा स्वयं को व अन्यों को देखता है, वैसा ही स्वयं को व अन्यों को मानता है, अनुभव करता है और कर्मोदय की वैतरणी में गथपथ करता रहता है। इस वैतरणी के भूख, प्यास, रोग आदि के सापों एवं क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि के मगरमच्छों के दंशों से पीड़ित हो कराहता है। तथा कभी इस वैतरणी के कोमल त्वचा वाली मछलियों के स्पर्श होते हैं और खुशनुमा कागजी फूलों की नकली सुगन्ध इसके नासिका द्वारों से ग्रहण होती है तो खुश हो लेता है और चाहता है कि यह स्पर्श और गन्ध उसे मिलते रहें। इस हेतु भारी दौड़ भाग करता है। उसे पता नहीं कि न तो कराहट/पीड़ा बाहर से आती है और न खुशी/सुख बाहर से आता है। दोनों ही उसके सुख गुण के दो रूप परिणमन हैं। एक बिल्कुल ही विपरीत, बहुत असुहावना तथा दूसरा है तो सुहावना पर है विपरीत मान्यता युक्त और इसलिए उसकी कर्म कालिख को बढ़ाने वाला एवं उसे दुःख में ही धकेलने वाला है।

बाह्य पदार्थों से न दुःख आता है न सुख। दोनों के वे आलम्बन ही होते हैं, उनके आलम्बन से हमारा अपना सुख गुण जिसका परिणमन/वर्तन निरन्तर हमारे चेतन-अवचेतन स्तरों पर हुआ जा रहा है। चेतन स्तर पर हमारी धारणाओं, अभ्यासों के अनुरूप सुख-दुःख रूप अनुभव का, संवेदन का विषय बनता है। अवचेतन स्तर पर तो उसकी सुखरूप ही गंगा निरन्तर बहे जा रही है, पर बहिर्मुखी होने से बहिरात्मा उसका वेदन नहीं कर पाता, निकट प्रकट अपनी अमृत गंगा में निमज्जन से, उसके शीतल स्पर्श से, रोग-शोकहारी उसके आस्वाद से वंचित बना रहता है। सुख की प्यास वह छोड़ नहीं सकता, उसका चाहे स्वच्छ, निर्मल रूप में पान करे अथवा थोथा, मलिन, कुरूप रूप में उसे पिये, उसे पीना ही पड़ेगा। ऐसे ही उसके ज्ञान, वीर्य, अजरता-अमरता आदि गुणों की कथा है। स्वभाव रूप या विकृत रूप, पूरे विशाल रूप में या बौने, विपरीत आदि विभाव रूप में वे उसके अनुभव/संवेदन के विषय बनेंगे ही, एक क्षण को भी वह उनसे रिक्त नहीं हो सकता। अज्ञान ज्ञान का विपरीत रूप है और छद्मस्थता उसका बौना रूप। दुर्बलता उसके आकाश प्रमाण लोहे के गोले को उठाने की सामर्थ्य से भी अनन्त गुणी सामर्थ्य रूप उसके वीर्य गुण का तुच्छ, बौना रूप है और उसके सभी दुःखों का मूल है। वीर्य गुण की महानता न तो बाह्य के आक्रमण रूप तथा न देह के रोग आदि रूप तिरस्कार सहन करती, उसके तेज के आगे सभी उपसर्ग, परीषह निस्तेज हो जाते हैं। वीर्य गुण महान हो और ज्ञान एवं श्रद्धा सम्यक् हुई हो अर्थात् संसार की चतुर्गति रूप कैद से मुक्त हो शाश्वत शान्ति-सुख भोगने की ललक व्यक्ति में परिणमन/वर्तन करने लगी हो, तो वीर्य गुण को संपूर्ण गुणों पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़ी बेड़ियाँ तोड़ने और भुज्यमान आयु की समाप्ति पर तन की कारा से प्रभु आत्मा को मुक्त करने में विलम्ब नहीं होता।

वस्तु के गुणों में परस्पर गुण-गुणी संबंध होता है। यदि ज्ञान में विपर्यय है तो फिर वीर्य, सुख आदि गुण विपरीत दिशा में ही परिणमन करेंगे तथा विपरीत दिशा में परिणमन करते हुए कभी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते, विपरीत दिशा में उनका वर्तन जहर रूप ही होगा और वे चक्रवर्ती को चक्रवर्ती पद में मरण करने पर नरक में ले जायेंगे। इसी प्रकार वीर्याल्पता से ग्रसित व्यक्ति का ज्ञान सम्यक् होते भी आधा अधूरा रहेगा, सर्वज्ञ नहीं बन सकेगा। यही तो कारण है कि आज इस पंचम काल में वीर्याल्पता (हीन संहनन) के कारण सम्यग्दृष्टि ज्ञानी साधुजन अप्रमत्त-विरत सातवें गुणस्थान से ऊपर आरोहण कर क्षपक श्रेणी क्या, उपशम श्रेणी भी नहीं चढ़ पाते, न ही कोष्ठ बुद्धि आदि ऋद्धियों के धारक हो पाते। दूसरी ओर, महान वीर्य के धारी जल में कमल की भाँति अलिप्त रह छह खण्ड के अधिपति भरत चक्रवर्ती पद छोड़ अन्तर्मुहुर्त में केवलज्ञानी परमात्मा बन जाते हैं।

कर्म बादलों के आवरण के पीछे छिपे पूरे तेजस्वी आत्म सूर्य का बहिर्मुखी बहिरात्मा को ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता। वह मिथ्यादृष्टि होता है। उसने अपने अवचेतन स्तर पर निरन्तर वर्तन करते ज्ञान-सुख-वीर्य आदि गुणों के महान ज्ञानाकाश में, महान सुख के समुद्र में झोंककर अपनी महिमा को पहचाना नहीं है, स्वीकार नहीं किया है। पहचानने और स्वीकार कर लेने पर वह अपने को मात्र पानी के बाहर निकले सूंड के अग्रभाग जितना ही नहीं मानता। अब उसे अपने को कीचड़ में फँसा है तो भी, पूरा 'हाथी' होने में सन्देह नहीं होता। उसका अज्ञान जनित विपर्यास मिटा है, संदेह दूर हुआ है और यदि वह अपने को कीचड़ से बाहर, सालम्ब निरालम्ब जैसे भी बने, निकालने का अध्यवसाय/पुरुषार्थ करता है, तो फिर अपने वीर्य/बल के अनुसार वह जितना निकाल सके, निकाल लेता है और उस अन्तरात्मा का, अपने प्रति सही समझ और श्रद्धा से संपन्न उस सम्यग्दृष्टि का वीर्य वृद्धि को प्राप्त करता हुआ शीघ्र ही एक दिन उसे कीचड़ से पूरा बाहर निकाल देता है और वह कृतकृत्य परमात्मा बन जाता है। यदि अपने प्रति सही समझ श्रद्धा हो जाने पर भी कर्म कीचड़ से बाहर निकलने के अध्यवसाय में वह अपनी पूरी सामर्थ्य नहीं झोंकता तो कर्म कीचड़ उसे और जकड़ लेता है, उसे अपनी सही समझ एवं श्रद्धा से हाथ धोना पड़ता है और सूंड के अग्रभाग में भी और छोटापन आ वह और बौना बन जाता है।

अध्यवसायी अन्तरात्मा अन्यों के भी बाह्य में कर्मोदय जनित रूप देख उन्हें उतना ही और वैसा ही मानने का भ्रम नहीं करता/अपनी भाँति उसे उनके भी अवचेतन स्तर पर पूरे 'हाथी' रूप का अहसास हो जाता है। और, वह जानता है कि अन्यों के त्रिकाल सत्य रूप को स्वीकार न कर उन्हें कर्मोदय जनित तुच्छता से ग्रसित ही देख यदि वह उनका निरादर तथा शोषण करेगा तो उसमें स्वयं में भी कर्मोदय जनित तुच्छता एवं विपर्यास का विस्तार होगा। वे अपने यथार्थ स्वरूप को पहचाने, इस हेतु उनकी रुचि हो तो उन्हें उनके सत्य स्वरूप के बोध हेतु उन्हें उपदेश देता है, अन्यथा मौन रहता है, क्योंकि हर व्यक्ति अपना भाग्य विधाता स्वयं है अन्य नहीं, यह वह भले प्रकार जानता है। हाँ, कोई रुचिपूर्वक अपने और जगत के पदार्थों के सत्य स्वरूप का परिचय प्राप्त करना चाहे और वह न बताये, तो उसके श्रद्धा-ज्ञान पर आवरण आयेंगे ही। केवलज्ञानी परमात्मा बनने पर तो यहाँ-वहाँ विहार कर कल्याण की रुचिवाले, संसार के दुःखों से भयभीत जनों को सही मार्ग दिखाने, मिथ्या मार्गों से विरत हो वे स्व-पर कल्याण साधने वाले बनें इस हेतु वीतराग होते ही अनिच्छ ही वचन योग कार्य करता है और सदेही परमात्मा द्वारा जगज्जनों का कल्याण होता है। यदि सदेही परमात्मा के उपकार की यह वर्षा न हो तो आत्म-कल्याण की दिशा का, छद्मस्थ रहते छद्मस्थों के सहारे मात्र से, प्राप्त होना असंभव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा क्यों? क्या छद्मस्थ प्रणीत धर्मों में 'जैसा करो वैसा भरो' का केवली प्रणीत उपदेश उनके ही अपने बल पर नहीं समझ लिया गया है? नहीं। उन्होंने करणी का फल देने वाले के रूप में ईश्वर को किसी न किसी रूप में स्वीकार कर उसकी भक्ति द्वारा अनिष्ट से बचने और इष्ट फल को प्राप्त करने का मानव में विश्वास पैदा किया है। जबकि इस प्रकार का कोई नियन्ता, विधाता प्रत्यक्ष या अनुमान किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। तथा, केवली गम्य कर्मबन्ध और उदय के रूप में वह सत्य सत्यरूप से समझ में आ जाता है एवं अनिष्ट के परिहार तथा इष्ट की प्राप्ति हेतु अन्य किसी शक्ति विशेष के आगे गिड़गिड़ाये बिना अपने भाव जगत में सुधारकर उनके संक्रमण, निर्जरा, उपशमन आदि द्वारों के ज्ञात हो जाने से स्वालम्बन की/व्यक्ति स्वातन्त्र्य की प्रेरणा मिलती है, पराश्रय की दुर्बलता एवं पराधीनता का भी मोहताज नहीं रहता, पुण्योदय ही उसकी छाया बन चारों ओर अनुकूलता उत्पन्न करता है, उसका जयनाद गुँजाता है।

पुनः, क्या आज मनोविज्ञानी, परामनोविज्ञानी ने अपने ही छद्मस्थ ज्ञान के बल से अवचेतन स्तर पर छिपी ज्ञान, बल आदि की गहराईयों को खोज नहीं लिया है, क्या उन्होंने यह नहीं जान लिया है कि चेतन स्तर पर 'पहाड़' की चोटी हमें दिख रही है, पर पहाड़' उतना ही नहीं है, पानी के नीचे पूरा 'पहाड़' है? इतना तो जान लिया है, पर फिर भी वे बहिर्मुखी बहिरात्मा ही बने हुए हैं। चेतन-अवचेतन स्तर का द्वैत मिटकर निर्विकल्प अद्वैत, परमात्म दशा का उनका लक्ष्य न बना होने से, द्वैतरूप भयानक संसार दशा से बाहर निकल उत्तम सुख रूप मुक्त परमात्म दशा को प्राप्त करने की लगन/ललक बिना वे अन्तरात्मा नहीं कहे जा सकते, उन्हें सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं है वे मिथ्यादृष्टि ही हैं। हाँ, वे अन्तरात्मा रूप को प्राप्त करने के निकट अवश्य हो गये हैं, यदि उन्हें केवली के बताये कर्मावरण से घिरे परमात्म सूर्य का परिचय/बोध प्राप्त हो जाये।

आज भौतिकी के क्षेत्र में मोबाइल, इन्टरनेट और कम्प्यूटर की शोध खोज ने, निर्माण ने क्या हमारे मूल स्वरूप को खोज निकाला है, हमारे परमात्म स्वरूप की झलक दिखायी है? नहीं। उसके यंत्रों द्वारा जीवात्मा के देहान्तर गमन के प्रमाणित हो जाने पर भी, नहीं। मोबाईल, कम्प्यूटर आदि में सूचना बाहर से भरी जाती है। अतः या तो नैयायिकों की भाँति देह रहित जीवात्मा को भौतिक विज्ञानी जड़ मानेंगे और ज्ञान को मन, इन्द्रिय मात्र का कार्य अथवा सांख्य मत वालों की भाँति जीवात्मा को मात्र चेतन कहेंगे और पदार्थ ज्ञान को प्रकृति का/जड़ जगत का कार्य बतायेंगे।

अंग्रेज दार्शनिक लॉक ने बच्चे को खाली स्लेट (Tabula rasa) माना तथा कहा वह सब संस्कार बाहर से ग्रहण करता है। यूनानी दार्शनिक सुकरात ने बिना सिखाये बच्चे के स्तन पान के ज्ञान को पूर्वजन्म का संस्कार कहा। वह स्वयं अपने प्रश्नों के हल प्राप्त करने को अपने अन्तर में झाँका करता था और उत्तर प्राप्त कर संतुष्ट होता था, पर देह रहित रूप में जीवात्मा का क्या स्वरूप है, इसका उसे भी अहसास नहीं था। उस अहसास के होने, दृढ़ता से होने हेतु आवश्यक है परमात्म पद को प्राप्त हुए का आगम, उसका दिशा निर्देश। और तब, पूर्वी पश्चिमी दार्शनिकों के चिन्तन, मनोविज्ञान परामनोविज्ञान भौतिक विज्ञान आदि के शोध-खोज आधे-अधूरेपने के, विपर्यास के दोष से मुक्त हो मानव के चतुर्गति भ्रमण की दारुणता से मुक्ति में, स्व-पर कल्याण के ठोस धरातल पर स्थित होने में सहयोगी बन सकते हैं। ऐसा हो जाने पर, केवल पारलौकिक प्रकाश की प्राप्ति से ही मानव गद्‌गद् नहीं होगा, उसका लौकिक पक्ष भी सुहावना, सुन्दर हो जायेगा, जो केवलज्ञानी जनों द्वारा प्रदत्त पारलौकिक प्रकाश के अभाव में परस्पर धार्मिक विद्वेष एवं आरंभ-परिग्रह के पिशाचों की गिरफ्त में नारकीय बन रहा है।

❑ अजबघर के पीछे,
किशनपोल बाजार, जयपुर ३ (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लघुतत्त्वस्फोट के परिप्रेक्ष्य में आ० अमृतचन्द्रसूरि के कृतित्व का वैशिष्ट्य

❑ डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत

अध्यात्म विद्या पारङ्गत आचार्यप्रवर श्री अमृतचन्द्रसूरि दिगम्बर परम्परा के उद्भट मनीषी थे। इन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय की टीका लिखकर उनकी आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टियों का पल्लवन तथा सम्यक् व्याख्यान कर महती कीर्ति अर्जित की। साथ ही पुरुषार्थसिद्धयुपाय नामक श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ, आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर तत्त्वार्थसार और जिनस्तवन के रूप में लघुतत्त्वस्फोट लिखकर जैन वाङ्मय की समृद्धि में महान् योगदान दिया।

लघुतत्त्वस्फोट की प्राप्ति भगवान महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाण महोत्सव काल में हुई अतः इससे पूर्व अमृतचन्द्रसूरि के कृतित्व में इसका उल्लेख भी नहीं मिलता है। इसकी पाण्डुलिपि पण्डित श्री पन्नालाल साहित्याचार्य प्रभृति विद्वानों को उपलब्ध करायी गई, उन्होंने संशोधन और अनुवाद करके महनीय कार्य किया। इसके अनन्तर पण्डित श्री ज्ञानचन्द बिल्टीवाला जयपुर द्वारा भी विशेषार्थ सहित व्याख्या लिखी गई। इन मनीषियों ने यह अद्भुत कृति स्वाध्यायियों के स्वाध्याय का विषय बनायी। यह इनकी महती कृपा है और जिनागम के प्रति विशेष भक्ति का निदर्शन है।

"लघुतत्त्वस्फोट" आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की रचना है क्योंकि उन्होंने इसकी अन्तिम सन्धि में अमृतचन्द्रसूरि का उल्लेख किया है।[1] ग्रन्थ समाप्ति के अनन्तर श्लोक में "अमृतचन्द्र कवीन्द्र" पद का प्रयोग है।[2] आचार्य अमृतचन्द्र के साथ कवीन्द्र विशेषण पूर्ण सार्थक है क्योंकि उन्होंने अपनी आध्यात्मिक और दार्शनिक शैली में समयसार कलश और लघुतत्त्वस्फोट जैसी बेजोड काव्यकृतियों का सृजन किया है। इनमें इनका कवीन्द्रत्व स्पष्ट दिखता है। स्तुति काव्यों में लघुतत्त्वस्फोट से श्रेष्ठ रचना देखने को नहीं मिलती है। यद्यपि वाग्मी आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित स्तोत्र काव्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं तथापि अध्यात्म और सिद्धान्त से परिपूर्ण यह स्तुति काव्य अतुलनीय है। इसका प्रत्येक पद्य काव्य के समस्त गुणों से समलंकृत है। इसकी भाषा प्रौढ है। शैली गम्भीर है। छन्द, अलंकार, रस, गुण, रीति आदि जो काव्य के विशिष्ट तत्त्व होते हैं वे सभी इसमें विद्यमान हैं। समयसार कलश के समान ही रचना है अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह रचना अमृतचन्द्रसूरि की है। आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि कृत ग्रन्थत्रय (समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय) की टीकाएँ अपने आप में परिपूर्ण हैं और पुरुषार्थसिद्धयुपाय, तत्त्वार्थसार, अमृतकलश लोकोत्तर रचनाएँ हैं, फिर भी लघुता प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है कि नाना प्रकार के वर्णों से पद बन गये, पदों से वाक्य बन गये और वाक्यों से यह ग्रन्थ बन गये -- इनमें हमारा कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।[3] इस शक्तिमणित कोश नामक लघुतत्त्वस्फोट में कहीं भी कर्तृत्व का अहंकार नहीं झलकता है। प्रत्येक स्तुति के बाद स्वयं को जिनत्व के प्रति समर्पण के साथ आत्मोपलब्धि की कामना की गई है। सर्वत्र सर्वज्ञ रूप की रचना की है --

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नितान्तमिद्धेन तपो विशेषितं तथा प्रभो मां ज्वलयस्व तेजसा।
यथैव मां त्वां सकलं चराचरं प्रधर्ष्यं विश्वं ज्वलयन् ज्वलाम्यहम्॥२५॥५

हे प्रभो ! मुझे तेज के द्वारा इस प्रकार प्रज्वलित करो जिसप्रकार मैं अपने आपको और समस्त चराचर विश्व को प्रज्वलित करता हुआ सब ओर से प्रज्वलित होने लगूँ॥

विनयभाव और सरलता तो आचार्य अमृतचन्द्र के रोम-रोम में भरी हुई थी यही कारण है छठवीं स्तुति के अन्त में शुद्धचैतन्यत्व की प्राप्ति न होने में स्वयं की जड़ता/अज्ञानता को ही कारण मानते हुए कहते हैं –

प्रसह्य मां भावनयाऽनया भवान् विशन्नयः पिण्डमिवाग्निरुत्कटः।
करोति नाद्यापि यदेकचिन्मयं गुणो निजोऽयं जडिमा ममैव सः॥२५॥६

हे भगवन् ! लोहपिण्ड के भीतर प्रवेश करने वाली प्रचण्ड अग्नि के समान आप इस भावना के द्वारा हठात्/बलपूर्वक मेरे भीतर प्रविष्ट होते हुए मुझे आज भी जो एक चैतन्य रूप नहीं कर रहे हैं यह मेरा ही वह निजी जड़ता/अज्ञानता रूप गुण है।

इसीप्रकार प्रत्येक स्तुति के अन्त में सर्वज्ञत्व की भावना की है, अन्तिम स्तुति के अन्त में कामना करते हुए लिखते हैं –

ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष घटतामत्यन्तमन्तर्बहिः,
प्रारब्धोद्धतसंयमस्य सततं विष्वक् प्रदीपस्य मे।
येनाशेषकषायकिट्टगलनस्पष्टी भवद् वैभवाः,
सम्यक् भान्त्यनुभूतिवर्त्म पतिताः सर्वाः स्वाभावाश्रियः॥

उत्कृष्ट संयम के पालक मेरी ज्ञानरूपी अग्नि में यह पुटपाक घटित हो, जिससे समस्त कषायरूपी अन्तरंग मल के गलने से जिनका वैभव स्पष्ट हो रहा है – ऐसी समस्त स्वभाव रूप लक्ष्मियाँ अनुभूति के मार्ग में पड़कर सम्यक् रूप से सुशोभित हो।

इस स्तुति काव्य में विशेषरूप से अध्यात्म विषयक चर्चा है। इसमें कारण-कार्य संबंध, निश्चय-व्यवहार, क्रम-अक्रमवर्ती पर्याय, द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य व्यवस्था, शुद्धात्मानुभूति, स्याद्वाद-अनेकान्त आदि सभी सैद्धान्तिक विषयों की मीमांसा संक्षिप्त में सारगर्भित रूप से की गई है। स्तुतियाँ दार्शनिक विवेचन से ओतप्रोत होते हुए भी आध्यात्मिक हैं। समन्तभद्र स्वामी की स्तुतियों में दार्शनिकता विद्यमान है। आचार्य अमृतचन्द्र कृत इस स्तुति में आध्यात्मिकता का वैभव है।

इस काव्य की प्रथम स्तुति में चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना की गई है। चौबीस तीर्थंकरों का नाम स्मरणपूर्वक अभेदत्व की चर्चा कर अन्त में लिखते हैं –

ये भावयन्त्यविकलार्थवतीं जिनानां,
नामावलीममृतचन्द्रचिदेकपीताम्।
विश्वं पिबन्ति सकलं किल लीलमैव,
पीयन्त एव न कदाचन ते परेण॥७/२५॥ लघुतत्त्वस्फोट

जो भव्यजीव अमृतचन्द्रसूरि के ज्ञान के द्वारा गृहीत परिपूर्ण अर्थ से युक्त ऋषभादि तीर्थंकरों की नामावली रूप इस स्तुति का चिन्तन करते हैं, वे निश्चय से अनायास ही समस्त विश्व का ग्रहण करते हैं – सर्वज्ञ हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाते हैं और वे किसी भी समय कर्म-नोकर्मरूप परद्रव्य के द्वारा नहीं ग्रहण किये जाते हैं अर्थात् कर्मबन्ध से छूट जाते हैं।

इसमें अध्यात्म की वर्षा हो रही है। व्याजस्तुति स्तुत्य है। द्वितीय स्तुति से पच्चीसवीं स्तुति पर्यन्त सामान्यरूप से स्तुतियाँ की गई हैं, किसी विशेष नाम की विवक्षा नहीं रखी गई और प्रत्येक स्तुति किसी विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए जिनेन्द्र स्तवन रूप में की गई है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि कवि ही नहीं कवीन्द्र थे, अत: भावानुकूल पदों के चयन में उन्हें कठिनाई प्रतीत नहीं होती। उनकी वाग्धारा गङ्गा के प्रवाह के समान अखण्डगति से प्रवाहित हुई है। प्रथम पच्चीसिका में वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन है।

यद्भाति भाति तदिहाथ च (न) भात्यभाति।
नाभाति भाति स च भाति न यो नभाति॥
भाभाति भात्यपि च भाति न भात्यभाति।
सा चाभिनन्दन विभान्त्यभिनन्दति त्वाम॥४/१॥

जो ज्ञान ज्ञानगुण से तन्मय रहने के कारण दैदीप्यमान होने वाले इस आत्मा में सुशोभित रहता है और ज्ञानगुण से अतन्मय होने के कारण दैदीप्यमान न रहने वाले अन्य पदार्थ में सुशोभित नहीं होता। इसीप्रकार जो ज्ञायक अतिशय सुशोभित रहने वाले आत्मा में सुशोभित रहता है। और सुशोभित न रहने वाले अन्य पदार्थ में सुशोभित नहीं होता। इसीप्रकार जो ज्ञानरूप दीप्ति दैदीप्यमान आत्मा में अत्यन्त सुशोभित होता है और अदैदीप्यमान ज्ञान से रहित अन्य पदार्थ में सुशोभित नहीं होता। हे अभिनन्दन जिनेन्द्र ! विशिष्टरूप से सुशोभित होनेवाली वह ज्ञानदीप्ति आपका अभिनन्दन करती है।

यहाँ ज्ञानगुण, ज्ञायकस्वभाव और ज्ञप्तिक्रिया – इन तीन विशेषताओं का अस्ति और नास्ति पक्ष से एक आत्मा में समावेश करते हुए अभिनन्दन जिनेन्द्र की स्तुति की है।

आत्मा के दर्शन-ज्ञान गुण शाश्वत हैं इनमें दर्शन निर्विकल्प घटपटादि के विकल्प से रहित और ज्ञान सविकल्प घटपटादि के विकल्प से सहित माना गया है। ज्ञान और दर्शन क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से दो रूप होता है। क्षायोपशमिक दशा में दर्शन और ज्ञान क्रमवर्ती होने से पूर्ण निर्मल नहीं होते हैं किन्तु क्षायिक दर्शन और ज्ञान केवलदर्शन और केवलज्ञान अक्रमवर्ती होने से पूर्ण विशद हैं। इसी सिद्धान्त को स्तुति करते हुए उपस्थित किया है – हे जिनेन्द्र ! जो मनुष्य विकल्प रहित और विकल्प सहित निर्मल दर्शन और ज्ञान रूप आपके इस तेज की श्रद्धा करते हैं, वे समस्त लोक-अलोक रूप विश्व का स्पर्श करते हुए समस्त विश्व से पृथक् परमात्म अवस्था को प्राप्त अनाद्यनन्त शुद्ध आत्मा को प्राप्त होते हैं।[४]

ग्याहरवीं स्तुति में आत्मा के दर्शन-ज्ञान गुण का वैशिष्ट्य बतलाते हुए जिनेन्द्र स्तवन है। स्तुतिकार आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि हे भगवन् ! मिथ्यात्वरूपी रात्रि को नष्ट करने की सामर्थ्य आप में ही है। जिनेन्द्र भगवान का उपदेश यही है मिथ्यात्वदशा में अज्ञानवश बाँधे हुए अशुभ कर्मों की अनुभागशक्ति, सम्यक्त्व के होते ही क्षीण हो जाती है, शुभ कर्मों की अनुभाग शक्ति बढ़ जाती है और सत्ता स्थित कर्मों की निर्जरा होने लगती है।

एक साथ ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग प्रकट होने पर अनन्त बल तो प्रकट होना ही है साथ में पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख सम्पन्नता होती है। केवली भगवान के ज्ञानावरण और दर्शनावरण का सर्वथा उच्छेद होने से एक साथ उभयोपयोग की प्रकटता है, अत: पूर्ण सुखी हैं जैसा कि ग्याहरवीं स्तुति में लिखा है –

अखण्डदर्शनज्ञान प्राग्लभ्यग्लापिताऽखिल:।
अनाकुल: सदा तिष्ठेन्नेकान्तेन सुखी भवेत्॥१२॥११ लघुतत्त्वस्फोट

पूर्ण दर्शन और ज्ञान की सामर्थ्य से जिन्होंने सबको गृहीत कर दिया है, एक साथ समस्त पदार्थों को जान लिया है इसलिए जो निरन्तर आकुलता से रहित स्थित हैं ऐसे आप नियम से सुख सम्पन्न हैं।

जैन सिद्धान्तों की मीमांसा आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी सहजरूप से करते हुए बढ़ते हैं इसीलिए वे ज्ञानधारा की क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती परिणति का व्याख्यान सरल शब्दों में करते हुए कहते हैं –

अक्रमात्क्रममाक्रम्य कर्षन्त्यपि परात्मनो:।
अनन्ता बोधधारेयं क्रमेण तव कृष्यते॥१२॥७ लघुतत्त्वस्फोट

हे भगवन्! आपकी स्व-पर विषयक यह अनन्त ज्ञानधारा क्रम को उल्लंघन कर अक्रम से खींचती हुई भी क्रम से खींची जा रही है अर्थात् निज-पर को जानने वाली ज्ञान की धारा छद्मस्थ अवस्था में पदार्थों को क्रम से जानती है, किन्तु सर्वज्ञदशा में वह क्रम को छोड़कर अक्रम – एकसाथ जानने लगी है। इसप्रकार वह स्वभाव की अपेक्षा अक्रमवर्ती है तथापि ज्ञेयों की अपेक्षा क्रमवर्ती है।

आत्मा अनेक भवों में पृथक्-पृथक् शरीर धारण करती है, उन पर्यायों की विवक्षा से अनेकरूप है उन पर्यायों में जो ज्ञानादिक गुण साथ-साथ रहे हैं, उन गुणों की अपेक्षा एकरूप है। पर्यायों की अपेक्षा अनेक और गुणों की अपेक्षा एकत्व के निरूपण के साथ क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती विवर्तों (परिणतियों) से सुरक्षित चैतन्यमात्र ही आपका स्वरूप है, ऐसा नहीं समझने वाले अज्ञानीजन इस संसार में व्यर्थ ही दोनों पक्षों के अत्यधिक आग्रह के प्रसार से भ्रमण करते रहते हैं। यह जानकर इस समय हृदय विदीर्ण सा हो रहा है।" यहाँ पण्डित ज्ञानचन्द्र जैन जयपुर ने टिप्पणी दी है – "आत्मा क्रमवर्ती पर्यायों की अनित्यता तथा अक्रमवर्ती गुणों की नित्यता वाला है दोनों में किसी का भी विशेष आग्रह व्यक्ति की दुर्गति का कारण होता है।" यह टिप्पणी विचारणीय है। यहाँ पर्यायों की क्रमवर्तिता और अक्रमवर्तिता न मानना ही चिन्तनीय है।

चैतन्यस्वभाव की महिमा का व्याख्यान लघुतत्त्वस्फोट में विशेष रूप से किया गया है। चैतन्यस्वभाव की प्राप्ति विशिष्ट पुण्यशाली को ही होती है। निकटभव्य चैतन्यस्वभाव की आकांक्षा रखने वाला प्राणी वीतराग सर्वज्ञ की सच्ची श्रद्धा करने वाला होता है और वही स्वानुभव से परिपूर्ण होता है –

त्वमेक एवैक रसस्वभाव: सुनिर्भर: स्वानुभवेन काममम्।
अखण्डचित्पिण्ड विपिण्डित श्री र्विगाहसे सैन्धवखिल्यलीलाम्॥१३॥९ लघुतत्त्वस्फोट

जो एक ज्ञायक स्वभाव से सहित है, जो स्वानुभव से यथेच्छ परिपूर्ण है और जिनकी आभ्यन्तर लक्ष्मी अखण्ड चैतन्य के पिण्ड के सहित है – ऐसे एक आप ही नमक की डली की लीला को प्राप्त हो रहे हैं।

यहाँ आचार्य श्री ने शुद्धात्मा अरिहन्त भगवान के स्तवन के द्वारा शुद्धस्वरूप का प्रतिपादन किया है। आत्मा का प्रत्येक प्रदेश ज्ञायक स्वभाव से परिपूर्ण होता है तभी पूर्ण रूप से शुद्धात्मा का अनुभव संभव है। जहाँ रागभाव है वहाँ शुद्धात्मा का अनुभव असंभव है। यहाँ से यह तात्पर्य ग्रहण किया जा सकता है कि गृहस्थ को या प्रमत्तदशा युक्त साधक को शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता है क्योंकि अनुभव आंशिक नहीं अपितु पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव का कहा गया है अर्थात् जिसप्रकार नमक की डली का एक-एक कण क्षार रस से व्याप्त है, उसीप्रकार शुद्धात्मा का एक-एक प्रदेश ज्ञायक स्वभाव से परिपूर्ण है। जब क्षायोपशमिक ज्ञान-चारित्र मोहजनित राग से सहित होता है, तब वह नाना ज्ञेयों में संलग्न रहता है किन्तु जब वह राग से रहित हो जाता है तब स्वरूप में स्थिर होता है।

राग से रहित पूर्ण वीतरागदशा को प्राप्त क्षायिकज्ञानी ही यथेच्छ स्वानुभव से परिपूर्ण हैं, उनकी स्तुति में जैसा आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रतिपादित किया है –

विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतस्त्वमार्द्रार्द एव स्वरसेन भासि।
प्रालेयपिण्डः परितो विभाति सदार्द्र एवाद्रवता युतोऽपि॥१४॥९ लघुतत्त्वस्फोट

विशुद्ध चैतन्य के पूर में सब ओर से डूबे हुए आप आत्मरस से अत्यन्त आर्द्र ही सुशोभित हो रहे हैं, क्योंकि बर्फ का पिण्ड घनरूपता से युक्त होने पर भी सर्वदा सब ओर से आर्द्र ही प्रतीत होता है अर्थात् जिसप्रकार बर्फ का पिण्ड यद्यपि द्रवता-तरलता से युक्त ही रहता है, उसमें से पानी झरता हुआ मालूम होता है, उसीप्रकार विशुद्ध चैतन्य के पूर से प्लावित रहने वाले शुद्धात्मा के अनुभावक एक मात्र ज्ञायकस्वभाव से परिपूर्ण होते हैं।

अरिहन्त या क्षायिकज्ञान के धारक आत्मा पारदर्शी होते हैं, यदि ऐसा नहीं होता तो वे स्वानुभव से रहित होते तथा चैतन्यरूप वस्तु की महिमा में इच्छा को नहीं छोड़ते अर्थात् इच्छारहित आत्मदर्शी को स्वानुभवकर्ता स्वीकार किया गया है। इसी परम्परा का आश्रय लेकर कहा गया है –

अखण्डितः स्वानुभवस्तवायं समग्रपिण्डीकृत बोधसारः।
ददाति नैवान्तरमुद्धतायाः समन्ततो ज्ञानपरम्परायाः॥१०/१०॥ लघुतत्त्वस्फोट

हे भगवन्! जिसमें ज्ञान का सार सम्पूर्णरूप से एकत्र समाविष्ट किया गया है, ऐसा यह आपका कभी न खण्डित होने वाला स्वानुभव सब ओर से बहुत भारी ज्ञान की परम्परा को अवकाश नहीं देता है। इसका भाव यह है कि ज्ञान का फल स्वानुभूति है। जब स्वानुभव होता है तब विकल्पात्मक ज्ञान की परम्परा स्वयं समाप्त हो जाती है। स्वानुभव काल में ज्ञान और ज्ञेय का विकल्प समाप्त हो जाता है।

इस कथन से स्पष्ट है कि छद्मस्थ को शुद्धात्मा का पूर्ण अनुभव करना शक्य नहीं है। इस काल में छद्मस्थावस्था के धारक ही हैं। अतः मिथ्या प्रलाप न तो करना चाहिए और न सुनना चाहिए कि अविरत सम्यग्दृष्टि, शुद्धात्मा का पूर्ण अनुभव कर सकता है और इस पंचमकाल में भी उसके अनुभव करने वाले हैं, जो पूज्य/आराध्य हैं। पंचमकाल का कोई भी व्यक्ति ज्ञान और ज्ञेय के विकल्प से दूर नहीं रह सकता। अतः वास्तविक रूप से क्षायिकज्ञानी को ही पूर्णज्ञानी और निरन्तर स्वानुभूति कर्ता मानना चाहिए। इसीलिए नवीं स्तुति में कहा गया है –

निषीदस्ते स्वमहिम्न्यनन्ते निरन्तर प्रस्फुरितानुभूतिः।
स्फुटः सदोदेत्ययमेक एव विश्रान्त विश्वोर्मिभरः स्वभावः॥१७॥१० लघुतत्त्वस्फोट

अन्तरहित स्वकीय आत्मा की महिमा में स्थित रहने वाले आपका यह एक ही स्वभाव सदा उदित रहता है, जो निरन्तर प्रकट हुई स्वानुभूति से सहित है, स्पष्ट है और जिसमें समस्त तरंगों का समूह ज्ञानसन्ततियाँ विकल्पों का जाल विश्रान्त हो जाता है, शान्त हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकल्प समाप्त होने पर जैसे ज्ञान-ज्ञेय का अभिन्नपना उत्पन्न होता है, उसीप्रकार दृष्टा और दृश्य का भी अभेद होता है। आत्मा ज्ञान अथवा दर्शन मात्र रूप से सुशोभित होता है जैसा कि स्तुतिकार ने भी कहा है –

स्वस्मै स्वत: स्व: स्वमिहैकभावं स्वस्मिन् स्वयं पश्यति सुप्रसन्न:।
अभिन्नदृग्दृश्यतया स्थितोऽस्मान्न कारकाणीश दृगेव भासि॥९/९॥ लघुतत्त्वस्फोट

हे भगवन्! यहाँ अत्यन्त निर्मलता को प्राप्त हुए आप अपने आपमें, अपने आपके लिए, अपने आपसे, एक अपने आपको, अपने आपके द्वारा देख रहे हैं – निर्विकल्प रूप से जान रहे हैं। इसप्रकार हे नाथ! आप दृष्टा और दृश्य के अभेद से स्थित हैं, इसलिए दृष्टि क्रिया के कारक नहीं है आप दर्शनरूप ही सुशोभित हो रहे हैं। शुद्धात्मा में क्रिया-कारक, काल और देश का विभाग नहीं पाया जाता है। चेतनद्रव्य से ही परिणमन करता है। भाव और भाववान् में अभेद भी होता है। गुण-गुणी में प्रदेश भेद न दिखलाकर स्तुति की है।[५]

वस्तु का स्वभाव विधि और निषेधरूप है। स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु विधिरूप होती है और परचतुष्टय की अपेक्षा निषेधरूप होती है। ज्ञान में ज्ञेय है यह विधिपक्ष है और ज्ञान में ज्ञेय नहीं है यह निषेध पक्ष है। "ज्ञान में ज्ञेय का विकल्प आता है" इस अपेक्षा से विधि पक्ष की सिद्धि होती है और "ज्ञान में ज्ञेय के प्रदेश नहीं आते हैं" इस अपेक्षा से निषेधपक्ष की सिद्धि होती है। जिसप्रकार दर्पण में पड़ा हुआ मयूर का प्रतिबिम्ब दर्पण से भिन्न नहीं है, उसीप्रकार ज्ञान में आया हुआ ज्ञेय का विकल्प ज्ञान से भिन्न नहीं है इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेय में अभेद है किन्तु दर्पण और मयूर का विचार करते हैं तब दर्पण भिन्न और मयूर भिन्न ज्ञात होता है, इसीप्रकार जब ज्ञान और उसमें आने वाले ज्ञेय पदार्थों का विचार किया जाता है तब ज्ञान और ज्ञेय पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। हे भगवन्! आपका ज्ञान अपनी अनन्त सामर्थ्य से समस्त पदार्थों को जानता है अर्थात् वे समस्त पदार्थ विकल्प की अपेक्षा आपके ज्ञान में आते हैं तो भी उनके साथ आपके ज्ञान अथवा गुण-गुणी की अभेद विवक्षा से आपमें संकरभाव प्राप्त नहीं होता। इसका यही तात्पर्य है कि आप पदार्थरूप नहीं होते और पदार्थ आप रूप नहीं होते। आप सदा स्व-पर के विभाग को धारण करते रहते हैं।

द्रव्य में एक-अनेक, नित्यानित्य की व्यवस्था को दर्शाने के लिए ही स्तुति के माध्यम से अपने आराध्य में एकत्व-अनेकत्व नित्यानित्यत्व दर्शाया गया है –

अनेकोऽपि प्रपद्य त्वामेकत्वं प्रतिपद्यते।
एकोऽपि त्वमनेकत्वमनेकं प्राप्य गच्छति॥१८॥११

अर्थात् अनेक भी आपको प्राप्तकर एकपने को प्राप्त होता है और आप एक होकर भी अनेक को प्राप्त कर अनेकपने को प्राप्त हो रहे हैं।

यहाँ स्पष्ट है कि गुण और पर्याय संख्या की अपेक्षा अनेक हैं तथा एक द्रव्य में अवस्थित रहते हैं उसकी अपेक्षा एक है।

साक्षादनित्यमप्येघाति त्वां प्राप्य नित्यताम्।
त्वं तु नित्योऽप्यनित्यत्वमनित्यं प्राप्य गाहसे॥९॥११ लघुतत्त्वस्फोट

यह पर्याय रूप तत्त्व साक्षात् अनित्य होकर भी द्रव्य स्वरूप आपको प्राप्त कर नित्यपने को प्राप्त होता है और आप नित्य होकर भी अनित्यरूप पर्याय को प्राप्तकर अनित्यपने को प्राप्त होते हैं।

यह वास्तविक सिद्धान्त है कि द्रव्य पर्याय से तन्मय होकर रहता है, द्रव्य की त्रैकालिक शुद्धता इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से बाधित होती है। जब पर्याय को गौणकर द्रव्य को प्रधान बनाया जाता है, तब अनित्यत्व तत्त्व नित्यत्व को प्राप्त होता है और जब द्रव्य को गौणकर पर्याय को प्रधानता दी जाती है, तब नित्य तत्त्व अनित्यत्व को प्राप्त होता है।

प्रत्येक पदार्थ तीन रूप में सत् है। अर्थरूप, ज्ञानरूप और शब्दरूप। ज्ञान का विषय चराचर जगत् है किन्तु ज्ञान तदाधीन नहीं है। न ज्ञान ज्ञेय में जाता है और न ज्ञेय ज्ञान में आता है। दोनों स्वतंत्र हैं, फिर पदार्थ चिन्मय भासित होते हैं। इसीप्रकार शब्द सत्ता पुद्गल पर्यायरूप है। तथापि उन शब्दों की वाचक शक्ति आपके ज्ञान के एक कोने में पड़ी रहती है। इसी प्रसंग में बाह्य पदार्थ का अपलाप करने वाले बौद्धों का निराकरण किया गया है।

जिनशासन स्याद्वादमुद्रा[७] से प्रतिष्ठित होने के कारण एकपदार्थ में एक साथ रहने वाले विरोधी धर्मों की अवस्थिति को स्वीकार करता है। आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं –

अवस्थितिः सा तव देव दृष्टेर्विरुद्धधर्मेष्वनवस्थितिर्या।
स्खलन्ति यद्यत्र गिरः स्खलन्तु जातं हि तावन्महदन्तरालम्॥८॥१९ लघुतत्त्वस्फोट

हे देव ! विरुद्ध धर्मों में जो एक के होकर नहीं रहना है, वह आपकी दृष्टि की स्थिरता है – आपके सिद्धान्त की स्थिरता है। यदि इस विषय में वचन स्खलित होते हैं तो स्खलित हों क्योंकि दोनों – आप तथा अन्य की दृष्टि में बहुत अन्तर-भेद सम्पूर्णरूप से सिद्ध हो गया।

जिनेन्द्र भगवान द्वारा ही स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रणयन किया गया है जैसा कि आठवीं स्तुति में आचार्यवर्य ने लिखा भी है –

गिरां बलाधान विधान हेतोः स्याद्वादमुद्रामसृजस्त्वमेव।
तदङ्कितास्ते तदतत्स्वभावं वदन्ति वस्तु स्वयमस्खलन्तः॥२०॥८ लघुतत्त्वस्फोट

हे भगवन् ! शब्दों में दृढ़ता स्थापित करने के लिए आपने ही स्याद्वाद मुद्रा को रचा है, इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। इसलिए उस स्याद्वादमुद्रा से चिन्हित वे शब्द स्खलित न होते हुए अपने आप वस्तु को तत्-अतत् स्वभाव से युक्त कहते हैं।

संसार के पदार्थ विधि और निषेध दोनों रूपों से कहे जाते हैं अर्थात् स्वकीय चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति आदि विधिरूप हैं और परचतुष्टय की अपेक्षा निषेध आदि नास्तिरूप हैं। पदार्थ का कथन करने वाले शब्द अभिधा शक्ति के कारण नियंत्रित होने से दो विरोधी धर्मों में से एक को कहकर क्षीणशक्ति हो जाते हैं दूसरे धर्म को कहने की उनमें सामर्थ्य नहीं रहती। एक अंश के कहने से वस्तु का पूर्णस्वरूप कथन में नहीं आ पाता। इस स्थिति में हे भगवन् ! आपके अनुग्रह से स्याद्वाद का – कथञ्चित्वाद का आविर्भाव हुआ। उसके प्रबल समर्थन से शब्द दोनों स्वभावों से युक्त तत्त्वार्थ का व्याख्यान करने में समर्थ होते हैं। अर्थात् स्याद्वाद का समर्थन प्राप्त कर ही शब्द यह कहने में समर्थ होते हैं कि स्व की अपेक्षा से पदार्थ अस्तिरूप है। पर की अपेक्षा से नास्ति रूप है।[८]

स्याद्वाद और अनेकान्त आचार्य अमृतचन्द्र के प्रिय प्रतिपाद्य हैं, उन्होंने इस स्तुतिकाव्य में तो बाहुल्यरूप से इस जैनदर्शन के प्राणतत्त्व की मीमांसा की है और अपने द्वारा की हुई टीकाओं में अनेकान्त-स्याद्वाद को ही सर्वप्रथम नमन किया। स्मरण किया है।[९]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपने को एक ही वस्तु प्रतिसमय माना गया है उसी को दर्शाते हुए स्तुतिकार ने कहा है –

य एवास्तमुपैषि त्वं स एवोदीयसे स्वयम्।
स एव ध्रुवतां धत्से य एवास्तमितोदितः ॥२०॥११ लघुतत्त्वस्फोट

जो ही आप व्यय को प्राप्त होते हैं, वही आप स्वयं उत्पाद को प्राप्त होते हैं और जो ही आप व्यय होकर उत्पाद को प्राप्त होते हैं, वही ध्रुवपने को धारण करते हैं।

यहाँ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपने से द्रव्य को तन्मय बताया है। आचार्य समन्तभद्र ने घट का व्यय मौलि का उत्पाद और स्वर्ण के ध्रुवरूप सद्भाव के उदाहरण के माध्यम से एक ही वस्तु की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता सिद्ध की है।[१०] तत्त्वार्थसूत्रकार ने द्रव्य के लक्षण को बताते हुए 'उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्' 'सत् द्रव्यलक्षणम्' कहा ही है।

स्तुति के द्वारा संयम और तप का भी माहात्म्य दिखलाया है – हे प्रभो ! निरन्तर ज्ञानरूपी रसायन का पान करते हुए और बहिरंग तथा अन्तरंग संयम का निर्दोष पालन करते हुए निश्चित ही मैं तुम्हारे समान हो जाऊँगा। इसीप्रकार नौवीं स्तुति में संयम और तप को लेकर स्तुति की है – हे भगवन् ! आपने परमार्थ के विचार के सार को अपनाया, निर्भय होकर एकाकी रहने की प्रतिज्ञा की, अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का त्याग किया और प्राणियों पर दया भाव किया। आपका पक्षपात रहित होते हुए भी समस्त प्राणियों में पक्षपात था। आतापन योग करते समय सूर्य की तीक्ष्ण किरणें आपके शरीर को जलाती थीं किन्तु आप कर्मफल के परिपाक की भावना में उन्हें अमृत के कणों के समान मानते थे। रात्रि में शवासन से स्थित रहते हुए शृंगालों ने आपके सूखे शरीर को अपने दाँतों से काटा। बुद्धिमान रोगी जैसे रोग को दूर करने के लिए उपवास करते हैं, वैसे ही आपने अनादि रोग को दूर करने के लिए एकमास, अर्द्धमास के उपवास किये। इसप्रकार सम्पूर्ण आत्मबल से संयम को धारण करके कषाय के क्षय से केवलज्ञानी हुए और मोक्षमार्ग का उपदेश दिया।

आचार्य अमृतचन्द ने ज्ञान के साथ संयम-तप आदि को आवश्यक माना है। समयसार में विशेषरूप से भेदविज्ञान का कथन होने से आचार्य अमृतचन्द्र ने संयम-तप पर जोर नहीं दिया। अतः कुछ स्वाध्यायियों ने तप-संयम को गौणकर व्याख्यान देना शुरु किये और आचार्य अमृतचन्द्र के विषय में भी कहना शुरु किया कि इन्होंने ज्ञान को ही बल दिया है। ज्ञान की मुख्यता में इन्हीं का उल्लेख किया गया। यह दोष एकांगी अध्ययन का फल होता है। किसी भी आचार्य का समग्र साहित्य पढ़कर ही उसके प्रमाण देना उचित होता है। स्तुतिकर्ता ने १९वीं स्तुति में कारण-कार्य सम्बन्ध को दर्शाते हुए अभेदनय की दृष्टि में कर्ता, कर्म और क्रिया तीनों एक ही पदार्थ हैं, भिन्न-भिन्न नहीं हैं, इसलिए आराध्य में उनका भेद नहीं किया।[१०]

बौद्धाभिमत ज्ञानाद्वैत का निराकरण कर जैनसम्मत ज्ञानाद्वैत का वर्णन भी विस्तार से किया है।[११] बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डनकर जिनमत की स्थापना महत्वपूर्ण है।[१२]

सामान्य विशेष की सम्यक् मीमांसा इस स्तुतिकाव्य में श्री अमृतचन्द्रसूरि के द्वारा की गई है –

सामान्यस्योल्लसति महिमा किं बिनासौ विशेषै –
र्निः सामान्या स्वमिह किममी धीरयन्ते विशेषाः।
एकद्रव्यग्लपितविततानन्त पर्याय पुञ्जो,
दृक्संवित्तिस्फुरित सरसस्त्वं हि वस्तुत्वमेषि ॥६॥२२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषों के बिना क्या सामान्य की महिमा उल्लसित होती है अर्थात् नहीं। इस लोक में सामान्य से रहित ये विशेष क्या अपने आपको धारण करते हैं ? अर्थात् नहीं। निश्चय से जिनके एक द्रव्य की विस्तृत अनन्त पर्यायों का समूह बीत चुका है अर्थात् जो नाना पर्यायों के द्वारा विशेष रूप हैं और जो दर्शन-ज्ञान के चमत्कार से सरस हैं अर्थात् दर्शन और ज्ञान की अपेक्षा सामान्य रूप हैं – ऐसे आप वस्तुपने को प्राप्त होते हैं।

यहाँ नैयायिक वैशेषिकों के एकान्तमत का खण्डन हो गया और पदार्थ की सामान्य-विशेषात्मकता सिद्ध की गई है।

केवलज्ञान के माहात्म्य का अलौकिक वर्णन हृदय ग्राह्य बनाना आचार्य अमृतचन्द्र की रचना का वैशिष्ट्य है।[१३] निश्चय-व्यवहार का आश्रय लेकर स्तुतियाँ की हैं। आचार्य स्वयं दसवीं स्तुति करते हुए कहते हैं कि मैं विशुद्ध विज्ञानघन आपकी एकमात्र शुद्धनय की दृष्टि से स्तुति करूँगा। इसका तात्पर्य यह है कि इससे पूर्व व्यवहार दृष्टि रही, क्योंकि बाह्य क्रियाकलापों को लेकर स्तुतियाँ की गई हैं, व्यवहार धर्म के रूप में क्रियायें आवश्यक होती हैं।

इसप्रकार सम्यक् परिशीलन करने पर कहा जा सकता है कि इस स्तुतिकाव्य में सभी सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है। इसका यह विवेचन समयसार आदि ग्रन्थों के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रसूरि द्वारा ही किया जाना संभव है, क्योंकि अमृत कलश से भाषा-भाव आदि सभी विषयों में साम्य है। नि:सन्देह यह रचना स्तुतिकाव्य जगत् में अनुपम एवं महत्त्वपूर्ण है।

❐

फुटनोट –

१. इत्यमृतचन्द्रसूरीणां कृति: शक्तिम (भ) णितकोशो नाम लघुतत्त्वस्फोट: समाप्त:।
२. लघुतत्त्वस्फोट
३. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, स.सा. पंचास्तिकाय, प्रवचनसार
४. लघुतत्त्वस्फोट २/२
५. एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्त्त गुप्तं, चिन्मात्रमेव तव तत्त्वमतर्कयन्त:।
एतज्जगत्युभयतोऽतिरसप्रसारा न्निस्सारमद्य हृदयं जिनदीर्यतीव ॥९/२
६. भावो भवन भासि हि भाव एव चिताभवाश्चिन्मय एव भासि।
भावो न वा भासि चिदेव भासि न वा विभो भास्यसि चिच्चिदेक: ॥२४/१०॥ लघुतत्त्वस्फोट
७. प्रत्यक्षमुत्तिष्ठति निष्ठरेयं स्याद्वादमुद्रा हठकारतस्ते।
अनेकश: शब्दपथोपनीतं संस्कृत्य विश्वंससमस्खलन्ती ॥१८/८॥ लघुतत्त्वस्फोट
८. लघुतत्त्वस्फोट १/१७
९. समयसार कलश-२, पंचास्तिकाय, पुरुषार्थसिद्धयुपाय
१०. घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पत्ति स्थितिष्वयम्।
शोक: प्रमोद माध्यस्थं जनो याति स हेतुकम्॥ आप्त मीमांसा
११. लघुतत्त्वस्फोट १३ से १५/१९
१२. वही, १२ से १५/२०
१३. वही २०वीं स्तुति
१४. वही २४वीं एवं २५वीं स्तुति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आ.अमृतचन्द्र एवं उनका लघुतत्त्वस्फोट

❑ वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल

आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी रचनाओं के द्वारा तत्त्वदर्शन ही नहीं कराया बल्कि जैन समाज एवं जैनागम को एक दिशा प्रदान की है। उन्होंने पाँचों ही पापों को हिंसा में गर्भित किया है, तथा समझाया है कि यह जीव पर की हिंसा के भावों से स्व-हिंसा करता है तथा कर्मबन्ध करके चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है, कर्मबन्ध करके अपने स्व-गुणों को स्वयं ही ढकता है और यह ही इस जीव का सबसे बड़ा अज्ञान है कि वह अपराध करता है, लेकिन यह नहीं समझता कि अपराध करके पर की हानि नहीं करता बल्कि स्वयं की ही हानि करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र सन् ९०५ से ९५५ तक आचार्यपद और मुनिपद पर आसीन थे। आप चोटी के विद्वान, कालिदास और माघ कवि समान कवि एवं ऊँचे दर्जे के तपस्वी थे। आपने घोर तप करते हुए अनेक ग्रन्थों की स्वतन्त्र रचना तथा कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा रचित समयसार की आत्मख्याति, प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका तथा पंचास्तिकाय की समयव्याख्या की। आपकी स्वतन्त्र रचनाओं में तत्त्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्धिउपाय, परमअध्यात्म तरंगिणी तथा लघुतत्त्वस्फोट जैसी रचनाएँ उपलब्ध हैं। लघुतत्त्वस्फोट जैन वाङ्मय का संस्कृत भाषा के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ है इस ग्रन्थ में तीर्थंकरों की स्तुति के माध्यम से तत्त्वज्ञान कराया गया है। लघु शब्द से आचार्यजी ने अपने ज्ञान की लघुता दिखाई है क्योंकि पूर्णज्ञान सिन्धु सर्वज्ञ भगवान ही होते हैं, सर्वज्ञ भगवान की वाणी को गणधर समझते हैं तथा आचार्य गणधरों की वाणी का अनुसरण करते हैं। लघु शब्द लगाने का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि भगवान की वाणी का अनन्तवाँ भाग ही लिखने में आता है। अस्तु ! कुछ भी हो यह ग्रन्थ भगवान की वाणी का ही एक भाग है। इस ग्रन्थ का अनुवाद सर्वप्रथम पद्मानाम जैनी ने केलीफोरनिया में अंग्रेजी भाषा में किया। इसके पश्चात् पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा हिन्दी भाषा में पण्डित कैलाशचन्दजी की विस्तृत भूमिका के साथ प्रकाशित हुआ। श्री ज्ञानचन्द बिल्टीवाला ने इस ग्रन्थ का अनुवाद किया जो अखिल भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद से प्रकाशित करवाया। मैंने (प्रभुदयाल कासलीवाल) भी इस ग्रन्थ का सरलतम हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद किया है जो सरस्वती ग्रन्थमाला की ओर से सन् २००० में प्रकाशित किया गया है।

यह ग्रन्थ अनेक छन्दों में रचा गया है। छन्दों के नाम वसन्ततिलका, वंशस्थ, अनुष्टुप, मन्जुभाषिणी, महर्षिणी, वियोगिनी तथा मंत्रमयूर हैं। प्रथम सर्ग में चौबीस तीर्थंकरों की एक श्लोक में स्तुति करते हुए तत्त्वज्ञान कराया गया है।

प्रथम सर्ग की चतुर्थ स्तुति –

यद्भाति भाति तदिहाथ च (न) भात्यभाति।
नाभाति भाति स च भाति न यो नभाति॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाभाति भात्यपि च भाति न भात्यभाति।
सा चाभिनन्दन विभान्त्यभिनन्दति त्वाम॥४॥१

अर्थात् यहाँ ज्ञानगुण, आत्मा का ज्ञायक स्वभाव और ज्ञप्ति क्रिया का विश्लेषण करते हुए आचार्य कहते हैं कि ज्ञान आत्मा की वस्तु है। अत: आत्मा में रहते हुए शोभा को प्राप्त होता है वह आत्मा के अतिरिक्त अन्य स्थान में न रहता है अत: शोभित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ज्ञप्ति क्रिया भी जहाँ ज्ञान परिणमन होता है वहाँ ही रहती है और इस ज्ञप्ति क्रिया के कारण ही आत्मा ज्ञान गुण का स्वामी या ज्ञायक कहलाता है। हे अभिनन्दन नाथ ! वह ज्ञान दीप्ति आप में रहकर अभिनन्दन करती है।

चौबीसवीं स्तुति में –

आत्मीकृता चलितचित् परिणाम मात्र।
विश्वोदय प्रलय पालन कर्तृकतृ॥
नो कर्तृ बोधृनाथ बोदपि बोध मात्रं।
तद् वर्धमान तव धाम किमद्भुते न॥२४॥१

अर्थात् तुम अविनाशी, तुम चित्स्वरूप ज्योतिर्मय हो। अविचलित चित्त तुम सत्स्वरूप स्वाभाविक हो अरु ज्ञप्ति क्रिया के कर्ता हो। कर्ता भी नहीं, बोद्धा भी नहीं इक उदित ज्ञानमय ज्योति हो। हे वर्धमान ! सद्ज्ञान धाम आश्चर्यकारी अति अद्भुत हो॥

सर्ग ३ में सामायिक के लिये मोहत्याग को आवश्यक बतलाते हुए आचार्य कहते हैं –

हे प्रभु मोह व्यूह छोड़ जो सकल पाप का त्याग करें।
दर्शन ज्ञान की दृढता से निज आत्मा में जो लीन रहें॥
वे निश्चय सामायिक करते सामायिक वे कहलाते।
हे प्रभु आप भी बने सामायिक स्वात्मद्रव्य लीनता से॥२॥३

अर्थात् मोह त्याग से सामायिक और सामायिक से आत्मलीनता होती है, संयम से शुद्धि और शुद्धि से मोह त्याग होता है।

श्रेणी प्रवेश समय में विशिष्ट शुद्ध परिणाम होते हैं –

परिणामों की विशिष्ट शुद्धता श्रेणी प्रवेश समय में थी।
अध:प्रवृत्तकरण तब प्रकटा प्रभु श्रेणी आरूढ हुए॥
प्रबल पराक्रम धारी हे प्रभु मोहशत्रु का ध्वंश किया।
मोहशत्रु के क्रोधादि सैनिकों को भी तुमने भगा दिया॥३॥१२

पदार्थ में पर्यायें क्रमवर्ती तथा गुण अक्रम होते हैं –

पर्यायें क्रमवर्ती गुण अक्रम पदार्थ में होते हैं।
आप प्रभु इन दो भावों को धारण करके रहते हैं॥
अनित्य आप पर्यायों से गुण से अनित्यता नहीं कभी।
हो नित्य आप या नित्य नहीं एकान्तवादिता सत्य नहीं॥४॥१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज टेलीवीजन, मोबाइल, टेलीफोन का युग है – शब्द सन्तति के विषय में आचार्य फरमाते हैं - 'शब्दों की सन्तति चलती है शाब्दिक प्रवाह न मिटने से।४।१३'

सर्ग ५ में आचार्य संसार का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं –

सब ही पदार्थ यहाँ सत्स्वरूप हैं, निज स्वरूप से सब न्यारे।
सत्स्वरूप सादृश्य सभी में महा सत्ता में सब गर्भित रे॥
अनन्त पदार्थ जगत में हैं परिणमन प्रतिक्षण करते हैं।
परिणमन प्रतिक्षण होने से पर्याय अनन्त बदलते हैं॥
पर्याय पुरातन हटती है वह नव स्वरूप पा जाती है।
पर्याय अनन्त पदार्थों की प्रभु ज्ञान में भासित होती हैं॥५

आत्मा में अनन्त चतुष्टय वैभव अविनाशी और अनन्त हैं –

अनन्त चतुष्टय वैभव इस आत्मा में अनादि अनन्त कहा।
परिवर्तन क्रम क्रम से हो ऐसा ही द्रव्य स्वभाव रहा॥
इस ही स्वभाव की सीमा में प्रभु का वैभव भी उदित हुआ।
नित्य और अविनाशी बन अविचल शोभा को प्राप्त हुआ॥

अर्थात् जीव को अपनी स्वभाव की सीमा में रहना पड़ता है। पर्याय और द्रव्य अभिन्न बनकर रहते हैं–

पर्याय द्रव्य को ना छोड़े और द्रव्य नहीं पर्याय बिना।
द्रव्य स्वरूप पर्याययुक्त है पर्याय द्रव्य में निहित सदा॥५॥२०

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर भी पुरुषार्थ करने पर ही कर्मक्षय होकर मुक्ति प्राप्त होती है।

पुरुषार्थ बने सम्यक् जिसका अरु लक्ष्य मुक्ति का निश्चित हो।
क्रम क्रम से शुद्ध बने वह तब ही मुक्ति सम्पदा निश्चित हो॥६॥१०

क्योंकि असाता वेदनीय काल में वीर प्रभु के साथ भी ऐसा ही हुआ –

निकाचित कर्म उदय में आते फल देकर क्षय होते थे।
प्रभु ! अकेले उन्हें भोगते वन खण्डों में तप करते थे॥
धैर्य प्रभु का अद्वितीय था कातर कभी न होते थे।
शुद्धोपयोग में प्रतिक्षण रह आत्मा को शुद्ध बनाते थे॥

इसके फल स्वरूप –

केवलज्ञान सम्पदा पायी वे परिपूर्ण इसी से हैं।
अनन्तवीर्य के धारी हैं वे सदा अजेय इसी से हैं॥
आत्मतत्त्व को पाया प्रभु ने हुए अवस्थित सम्यक् रूप।
नित्यरूप जिनवर का है यह, क्षणिकवाद का खण्डन रूप॥४॥१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब केवलज्ञान होने के बाद –

जिनवर है शुद्धात्म जगत में ज्ञाता-दृष्टा उनका रूप।
ज्ञान तेज लोकोत्तर उनका अतः जानते विश्व स्वरूप॥
वे ज्ञाता हैं पर के निश्चित करें नहीं वे पर स्पर्श।
पृथक् सदा प्रतिभासित होते राग द्वेष का कर के ध्वंस॥४॥२०

इसलिये –

हे प्रभु ! कुशल पुरुषार्थी बने आत्म निज शुद्ध किया।
आत्मतत्त्व की निरमलता से सहज आत्म गुण प्राप्त किया॥

आचार्य अपने आप के प्रतिदृढ निश्चय से कहते हैं –

मैं समवशरण की महिमा गाकर तेरा यश फैलाता हूँ।
मैं अनन्त चतुष्टय प्राप्त करूँगा निश्चय कर गुण गाता हूँ॥४॥२५

भगवान ने सिद्ध पद प्राप्त कर लिया आचार्य कहते हैं –

श्री जिनवर हैं पूर्ण ज्ञान युत तन उनका अब बढे नहीं।
लेकिन प्रभु की महिमा अब लोक शिखर के पार गयी॥
पूर्णमान का क्षय होने से अति विनम्र नमते नाहीं।
पूर्ण आत्म गुण प्रकट हुए वे नमन करें अब निज को ही॥

आचार्य अमृतचन्द्र के मन में स्वयं को शुद्ध बनाकर शुद्ध बने रहने की भारी वैचारिक दृढता है, तथा उनकी धारणा है कि वे शुद्ध हो गये हैं वे निश्चित अर्हत पद प्राप्त कर सकेंगे।

देखिये –

मोह पाश को दूर हटाकर जागृत बन प्रभु शरण हुआ।
हे प्रभु चरण कमल छू तेरे गुणानुवाद में लीन हुआ॥
गुण तेरे पाकर प्रभु अब मैं तुम सम बन जाऊँ हे नाथ !
शुद्ध पूर्ण कर दो हे स्वामी, गोद तुम्हारी पाऊँ नाथ॥१५॥२५

ज्ञान आपका नाथ पूर्ण कला समूह से शोभित है।
वह अद्वितीय अरु निरुपमेय वर्णन शब्दों से असम्भव है॥
जो प्राप्त हुआ है ज्ञान मुझे श्रुतज्ञान की इक चिनगारी है।
वह चिनगारी बनकर ज्ञान सूर्य चमके प्रभु मेरी स्तुति है॥१६॥२५

प्रभु ! अस्तमय भाव विश्व से लिये हुए मैं रहूँ सदा।
रहूँ ज्ञान मैं, बनूँ ज्ञान मैं, और बनूँ कृतकृत्य सदा॥२०॥२५

अनन्त ज्ञान स्वरूपनाथ एकांश ज्ञान तुम्हारे से।
मेरी ज्ञान अग्नि हे जिनवर ! धमनक्रिया दारुणता से॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भस्मक रोगवत् बढे निरन्तर अतः आप वर दो मुझको।
प्रवेश करें मुझ में पदार्थ सब, अन्तर्ज्ञेयता हो मुझको॥२१॥२५

दर्शन ज्ञान चरित सम्यग् का जो आलम्बन ले चलते हैं।
प्रभु ज्ञान सुधारस पीते आत्मशुद्ध कर लेते हैं॥
हे प्रभु मुझ अमृत को वह परमार्थ तत्त्व है प्राप्त हुआ।
सद्ज्ञान क्रिया कर आलम्बन बनूँ शुद्ध व्रत आज लिया॥२३॥२५

प्रभु पमाद से हीन बना कुछ ज्ञान प्राप्त करके मैं भी।
जान सका आनन्द ज्ञान का अतः ज्ञान रस आप्लावित॥
स्नान कर रहा प्रतिक्षण मैं तो ज्ञानानन्दी सागर में।
नमक घुले पानी में जिस विधि, मैं अमृत घुला ज्ञानरस में॥२४॥२५

मैंने इस महान ग्रन्थ का हिन्दी में पद्यानुवाद किया है, मुझ में भी आचार्य प्रभु जैसे भाव उमड़े वे निम्न प्रकार हैं –

जिसको पीकर अज्ञान नशे वह जिनागम अमृत का प्याला है।
मैं नमन करूँ जिनागम को जो अमर बनाने वाला है॥
जिनागम ने ध्यान विधि बतलायी जो चंचल मन का ताला है।
वह ध्यान विधि मैं प्राप्त करूँ का करती ज्ञान उजाला है॥
वह स्वानुभूति को देती है जो निरविकल्प रस वाली है।
उस ही ध्यान से प्रभु दर्श मिले वह अमृत रस का प्याला है॥
प्रभु नमन करे सद्गुरु अमृत को प्रभु दर्श कराने वाला है।
जिससे आत्मा मन शुद्ध बने उस पथ पर ले जाने वाला है॥

❑ ए २८, जनता कालोनी, जयपुर

आत्मा प्रभावनीयः रत्नत्रय तेजसा सततमेव।
दान तपो जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥

रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र) के तेज से निरन्तर अपनी आत्मा को प्रभावना युक्त करना चाहिए और दान, तप, जिन-पूजा, विद्या और अतिशय से जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय॥३०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखने वाले को देखने का उपाय

❐ बाबूलाल जैन, इंजिनियर

डॉ. अलवर्ट आइन्सटाइन ने अपने अन्तिम समय में कहा था कि मैंने इस जीवन में बहुत कुछ जाना देखा, परन्तु देखने वाले को नहीं देखा। मैं उसे अगले भव में देख पाऊँ, यह मेरी अंतिम इच्छा है।

देखने वाले को देखने का मार्ग जिनागम में समयसार, नियमसार ग्रन्थों में बहुत विस्तृत रूप से बताया गया है। मोहनीय कर्म ने आत्मा को देखने जानने की शक्ति का आवरण कर रखा है। वह दो प्रकार का है – १. दर्शन मोहनीय, २. चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के उदय से इस जीव को मिथ्या भ्रान्ति रहती है तथा चारित्र मोहनीय के उदय से इस जीव के निरन्तर क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम होते रहते हैं। इन परिणामों का अभाव होने पर ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो सकती है, तब ही यह जीव शुद्ध आत्मा की अनुभूति कर सकता है।

(१) अत: प्रथम सम्यक् व्यवहार से मिथ्या व्यवहार को नाश करें। व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निरन्तर परिणाम करने से दर्शन मोहनीय प्रकृति का अनुभाग अनन्तगुणा हीन होकर उदीरणा हो जाती है। उससे दर्शन मोहनीय कर्म की फलदान शक्ति बहुत हीन हो जाती है।

(२) निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निवृत्ति होती है।

(३) परम-पारिणामिकभाव– स्वभाव के द्वारा निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निवृत्ति हो जाती है। तब ही यह जीवन नयातीत होकर प्रत्यक्ष शुद्ध आत्मा की अनुभूति करता है।

व्यवहार और निश्चय नय के द्वारा आत्मा की अनुभूति परोक्ष रूप से होती है। केवल शुद्ध आत्मा का समावलोकन होता है मिथ्यात्व कर्म के उदय के अभाव में निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है और चारित्र मोहनीय के उदय के अभाव में सम्यक् चारित्र की वृद्धि होती है। इनके माध्यम से ही सम्यक् ज्ञायक स्वभाव की अनुभूति होती है। वही आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति है, उसी समय यह जीव शुद्ध आत्मा को अर्थात् जानने वाले को जानता है।

आत्मतत्त्व की श्रद्धा उत्पन्न होने पर ही मिथ्यात्व कर्म का विध्वंस करने वाली सच्ची व्यवहारात्मक दृष्टि उत्पन्न होती है। अत: जिनागम में कहे गये छह द्रव्य, सात तत्त्व, देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान होना अनिवार्य है, उसी के बल पर दर्शन मोहनीय कर्म की फलदान शक्ति हीन होकर उदीरणा होती रहती है। उनका अत्यन्त हीन उदय होने पर उस समय यह जीव मतिज्ञान, श्रुतज्ञान को बहिरंग प्रवृत्ति से समेटकर आत्मा के सम्मुख करता है, तब मिथ्यात्व कर्म का उपशम होना प्रारंभ हो जाता है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान में इतनी शक्ति है कि वह अपनी आत्मा को भी अपना ज्ञान का विषय बना लेता है। इसके लिए यह मानना जरूरी है कि भगवान महावीर का कहा गया आगम सर्वज्ञ प्रणीत है। अत: भगवान महावीर सर्वज्ञ थे, यह हम सिद्ध करते हैं।

सर्वज्ञ की सिद्धि –

भगवान महावीर द्वारा कहे गये जिनागम की परीक्षा करना चाहिए। जिनागम परीक्षा प्रधान आगम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। परीक्षा करने पर अगर वह खरी उतरती है तो भगवान महावीर में श्रद्धा उत्पन्न हो जावेगी और इस तरह सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा हो जावेगी और अपनी शुद्ध आत्मा पर श्रद्धा उत्पन्न हो जावेगी, वही श्रद्धा-ज्ञान से यह जीव मिथ्यात्व कर्म का विध्वंस करना प्रारंभ कर देता है और आत्म-तत्त्व को जान लेता है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभू-स्तोत्र में कहा है कि हे भगवान ! आपने वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक देखा है। इससे सिद्ध है कि आप सर्वज्ञ हैं। विश्व में नई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती है और न किसी वस्तु का नाश हो सकता है और सब वस्तुएँ निरन्तर अपनी अवस्था को बदल रही है, पुरानी अवस्था का त्याग नवीन अवस्था की उत्पत्ति और वस्तु वही-वही की रहती है, वह ध्रौव्य है।

(१) मनुष्य पर्याय का व्यय और पशु पर्याय की उत्पत्ति और जीव द्रव्य वही-वही है।

(२) मेरी बचपन की पर्याय का व्यय और युवा वृद्ध पर्याय का उत्पाद और मैं वही-वही हूँ, जो उस पाठशाला में पढ़ता था। मेरा जीव ध्रौव्य है।

(३) मोमबत्ती को जलाने पर उसकी लौ बाहर नहीं निकले तो मोम का व्यय गैस की उत्पत्ति और उसका वजन वही-वही रहता है, वह ध्रौव्य है।

इस सारे विश्व में छह द्रव्य निरन्तर उत्पाद-व्यय कर रहे हैं और सभी द्रव्य वही के वही ही हैं, अनादि अनन्त हैं। यह सिद्धान्त सर्वज्ञ ही देख सकते हैं अन्य नहीं।

(४) जैनागम में समय की व्याख्या की है। एक परमाणु को पास वाले परमाणु को मंदगति से पार करने में जितना समय लगेगा, वह एक समय है। भगवान महावीर ने दोनों परमाणुओं को देखकर गति का निर्धारण किया था।

एक समय सेकण्ड/$१०^{५००}$ है, जबकि वैज्ञानिक अब तक केवल सेकण्ड/$१०^{१०}$ तक ही समय का ज्ञान कर पाये हैं। इससे सिद्ध है कि भगवान महावीर सर्वज्ञ थे, उनका कहा हुआ शास्त्र सत्य है, कसौटी पर खरा उतरता है।

(५) ६ महीने ८ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं और ६०८ जीव ही नित्य निगोद से निकलते हैं। अतीत काल अनादि है, इसलिए वह काल अनन्त है।

इसप्रकार अनन्त जीव मोक्ष को प्राप्त कर सिद्ध शिला पर विराजमान हैं। वे कभी भी अब संसार में नहीं आयेंगे। आने वाला भविष्य काल अतीत काल से भी अनन्त गुना है। जीव केवल अनन्त ही हैं। तो क्या यह संसार जीव रहित हो जायेगा ? कभी नहीं होगा। जिनागम में कहा है कि इस संसार में असंख्यात लोकप्रमाण निगोद शरीर हैं और एक निगोद शरीर में अनन्त निगोद जीव हैं, एक निगोद शरीर के जीव भी अनन्त होने से वे भी समाप्त नहीं होंगे और आगामी भविष्य काल में भी अनन्त जीव मोक्ष जाने पर भी समाप्त नहीं होंगे; क्योंकि जिनागम का सिद्धान्त है अनन्त में से अनन्त घटाओ तो भी अनन्त बचेगा। यह सिद्धान्त आज भी वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। इससे सिद्ध है कि भगवान महावीर सर्वज्ञ थे।

जिनवाणी सर्वज्ञ भगवान की कही हुई है, जो आज भी उपलब्ध है, उसके अनुसार विश्व के छह घटक हैं। जीव, परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य अमूर्तिक हैं व उनमें स्पर्शन, रस, गंध और वर्ण आदि नहीं होने से वे आधुनिक वैज्ञानिक के विषय के बाहर हैं। परमाणु भी एक प्रदेशी है वह भी जिनागम के अनुसार इतना सूक्ष्म है कि उसको भी वैज्ञानिक नहीं देख सकते हैं। परमाणु का जिनागम में विस्तार से वर्णन मिलता है। अनन्त परमाणु के समूह को वर्गणा कहते हैं। २३ वर्गणा रूप कथन धवला पुस्तक १४ में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। उनमें एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणु के समूह भी वैज्ञानिकों के पहुँच के बाहर हैं। वे भी केवल आहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्गणा, तैजस वर्गणा, कार्माण वर्गणा, भाषा वर्गणा और मनोवर्गणा को ही अपना विषय बना सकते हैं, क्योंकि ये वर्गणा अनन्त परमाणु के बंध और विभाजन में बनती हैं। परमाणु में अनन्त गुण हैं – स्पर्श, रस, वर्ण, गंध, ऊर्जा, विद्युत, रूक्षपना, स्निग्ध आदि।

रूक्ष परमाणु का रूक्ष परमाणु के साथ बंध होता है। जिसको वैज्ञानिक इलेक्ट्रान कहते हैं। स्निग्ध परमाणु का बंध स्निग्ध परमाणु के साथ होता है, जिसको वैज्ञानिक प्रोटोन कहते हैं और स्निग्ध परमाणु का रूक्ष परमाणु के साथ जो बंध होता है, उसको वैज्ञानिक न्यूट्रोन कहते हैं। इस तरह का जिनागम में बहुत विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। इससे सिद्ध है कि भगवान महावीर सर्वज्ञ थे। परमाणु में क्रियावती शक्ति है निरन्तर पूर्व अवस्था का त्याग और नवीन अवस्था की प्राप्ति और परमाणु वह का वही रहता है, जो ध्रौव्य है। यह संसार अनन्त सूक्ष्म निगोदिया जीव से बिना किसी आधार के तथा बादर निगोदिया जीवों से वनस्पति, मनुष्य, पशुओं, शरीरों के आधार से भरा हुआ है। वे एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करते हैं। वे मारणान्तिक समुद्घात निरन्तर करते हैं, उससे उनका तैजस-कार्माण शरीर की वर्गणा उनके शरीर को छोड़कर जहाँ वे उत्पन्न होते हैं, वहाँ जाकर वापिस उनके शरीर में प्रवेश करती है, फिर वे मरते हैं। इस तरह यह विश्व तैजस और कार्मण वर्गणा से ठसाठस भरा हुआ है। आधुनिक वैज्ञानिक उनकी वर्गणाओं को पकड़कर उनको ही विश्व का एक मात्र घटक मानते हैं, अन्य किसी की भी सत्ता नहीं मानते हैं।

"वैज्ञानिक के अनुसार विश्व अपृथक्भूत, ऊर्जा, पेटर्नों का गतिशील जाल है, इसके घटक विद्युत चुम्बकीय, विकिरण, बल क्षेत्र स्वतंत्र पृथक व्यक्तिनिष्ठ अधिक है। इसके कार्यकारी बल कणों के गतिशील पेटर्न हैं और विनियमित होते रहते हैं। इससे बल एवं पदार्थ कण एकीकृत रूप में पाये जाते हैं"। यह सब तथ्य केवल तेजस वर्णणा में ही उपलब्ध है। तेजस वर्गणा में विद्युतमय शक्ति चुम्बकीय शक्ति ऊर्जा प्रकाश शीतलता होती है। वे निरन्तर परिवर्तनशील हैं। क्रियावति शक्ति से सहित हैं। वह निगेटिव रूप और पोजेटिव रूप होते हैं। दीपायन मुनि को क्रोध आया था, तब उनके बायें कन्धें से १०० गुणा १०० मील का लम्बा चौड़ा तेजस शरीर का पुतला ऊर्जा रूप प्रकाश रूप निकला था। उसने समस्त द्वारिका को भस्म कर दिया था। अर्थात् तेजस शरीर में अनन्त ऊर्जा प्रकाश होता है।

चारण ऋद्धि धारी मुनि जब मथुरा आये थे वहाँ महामारी दुर्भिक्ष देखकर इतनी करूणा आई कि उनके दाहिने कन्धें से १०० गुणा १०० मील लम्बा-चौड़ा शुक्ल रूप शीतल तेजस शरीर निकला था जिससे समस्त दुर्भिक्ष समाप्त कर, महामारी समाप्त कर पेड़ों में फल फूल पैदा कर, अमृत की वर्षा करके वापिस मुनियों के शरीर में आ गया था। अत: तेजस वर्गणायें शीतल रूप भी होती हैं। अत: आधुनिक विज्ञान केवल तेजस, कार्मण, भाषा वर्गणा, आहारक आदि वर्गणाओं तक ही सीमित हैं। उनको विश्व रूप मानते हैं। वे जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि वे अमूर्तिक होने से उनके विषय के बाहर हैं।

संसारी जीवों के तीन शरीर (१) औदारिक शरीर (२) तेजस शरीर (३) कार्मण शरीर अनादि से है और जब तक सिद्ध अवस्था प्राप्त नहीं करेंगे, तब तक तीनों रहेंगे। जीव जब राग-द्वेष-मोह भाव करता है तो आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है, चुम्बकीय क्षेत्र बनता है और कार्माणवर्गणायें कर्म रूप होकर आत्मा में चिपकती हैं। यह बंध चार प्रकार का है –

(१) प्रकृति बंध :– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय, मोहनीय, नाम, गोत्र आयु रूप प्रकृति बंध हैं। (२) प्रदेश बंध :– एक समयप्रबद्ध कर्म परमाणु जिसमें अनन्त परमाणु होते हैं, वे कार्माण शरीर से बंध जाते हैं। (३) स्थिति बंध :– उन कर्म परमाणु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का आत्मा के साथ बंध के काल को स्थिति कहते हैं उस काल के समाप्त होने पर वे कर्म परमाणु फल देकर खिर जाते हैं। (४) अनुभाग बंध :– फल देने की शक्ति को अनुभाग बंध कहते हैं। जब वे कर्म अपनी स्थिति पूरी कर उदय में आते हैं, तब जीव में राग-द्वेष-मोह भाव की उत्पत्ति करते हैं– ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही भावबंध है, फिर भावबंध – राग-द्वेष-मोह भावों से आत्मा में कम्पन होता है उससे नये कर्म परमाणु आत्मा में बंधते हैं, यह द्रव्यबंध है। फिर द्रव्यबंध परमाणु का उदय आने पर जीव में राग-द्वेष-मोह भाव उत्पन्न होते हैं। यह भावबंध है। इस तरह अनादि काल से इस जीव के द्रव्यबंध से भावबंध और भावबंध से द्रव्यबंध चल रहा है। इसलिए यह जीव अनादिकाल से चौरासी लाख योनियों में जन्म मरण कर रहा है।

इस अनादिकाल सन्तति को छेदने का उपाय केवल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर ही संभव है। सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है और राग, द्वेष की निवृत्ति के लिए सम्यक्चारित्र बलपूर्वक धारण करना पड़ता है। सम्यक्चारित्र में ५ महाव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह हैं। व्रतों को धारण करके मुनि अवस्था धारण कर तप के बल पर आठों कर्मों को नष्ट कर सिद्ध दशा प्राप्त कर सकता है। सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिए १. जीव तत्त्व, २. अजीव तत्त्व, ३. आस्रव तत्त्व, ४. बंध तत्त्व, ५. संवर तत्त्व, ६. निर्जरा तत्त्व, ७. मोक्षतत्त्व – इन सातों तत्त्वों को समझना आवश्यक है।

जीव तत्त्व – जीव तत्त्व में अनन्त गुण हैं। उनमें मुख्य ज्ञान गुण अनन्त शक्ति रूप है, जिसको ज्ञानावरण कर्म ने आवरण कर रखा है।

ज्ञानावरण कर्म – ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने पर केवलज्ञान सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है और तीनों लोकों की तीनों काल की बात युगपद् जानते हैं।

दर्शनावरण कर्म – जीव में तीनों लोकों को देखने की शक्ति है, परन्तु वह दर्शनावरण कर्म के आवरण से छिपी हुई है। उसके क्षय होने पर केवलदर्शन प्रगट हो जाता है।

अन्तराय कर्म – जीव में अनन्त वीर्य शक्ति है, उसको अन्तराय कर्म ने ढक रखा है, उसके क्षय होने पर अनन्तवीर्य उत्पन्न हो जाता है।

मोहनीय कर्म – दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्व श्रद्धान नहीं होता है और शरीर आदि को ही जीव अपना मानता है। चारित्र मोहनीय के उदय से राग-द्वेष निरन्तर करता है।

नाम कर्म – तीनों शरीर की रचना औदारिक, तैजस, कार्मण नामकर्म के उदय से बनती है।

गोत्र कर्म – उच्चता, नीचता इस कर्म के उदय से होती है।

वेदनीय कर्म – आत्मा में अनन्त अव्याबाध सुख है, परन्तु वेदनीय कर्म ने ढक रखा है और इस जीव को निरन्तर सुखी-दुःखी करता रहता है।

आयु कर्म – आत्मा को औदारिक शरीर से बांध रखता है और एक भुज्यमान आयु खत्म होने के पहले ही अगले भव की आयु यह जीव बांध लेता है और वहीं जाकर जन्म लेता है जिसकी आयु बंधी थी।

(२) अजीव तत्त्व – पुद्गल परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये अजीव तत्त्व हैं। इनमें जानने देखने की शक्ति नहीं है।

(३) आस्रव तत्त्व – राग, द्वेष, मोह के द्वारा कर्मों का आत्मा में आना।

(४) बंध तत्त्व – कर्मों का प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग सहित कार्मण शरीर में बंधना।

(५) संवर तत्त्व – राग, द्वेष के अभाव में कर्म का आत्मा में आना रुक जाना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) निर्जरा तत्त्व – तप के बल पर कर्मों का झड़ जाना।

(७) मोक्ष तत्त्व – आठों कर्मों के झड़ने पर आत्मा में आठ गुण होते हैं और एक ही समय में सिद्धशिला पर पहुँच जाते हैं। फिर वहाँ से कभी भी संसार में नहीं आते।

मिथ्यात्व कर्म के उदय से ही यह जीव अनादि से संसार में भटक रहा है। उसका उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। तब सच्चे देव जो सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी मानकर उनका श्रद्धान करने से तथा उनके द्वारा कथित शास्त्रों का अध्ययन करने पर उनके बताये हुए मार्ग पर चलने पर तथा निर्ग्रन्थ मुनियों की शरण लेने पर तथा छह पदार्थ – जीव, परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा उपरोक्त कहे हुए सात तत्त्वों का श्रद्धान करने पर मिथ्यात्व कर्म का अनुभाग तथा उसकी सत्ता अनन्त गुणी हीन रह जाती है। इसका विस्तृत वर्णन समसंसार, प्रवचनसार, लब्धिसार में उपलब्ध है। कषाय की मन्दता के लिए श्रावकों को बारह व्रतों को अभ्यास रूप लेना चाहिए। श्रावकों को कम से कम दो बार एकान्त में सामायिक करना चाहिए। इससे परिणाम विशुद्ध होते हैं। जिनेन्द्र की पूजन करने से मिथ्यात्व आदि कर्म की सत्ता कम रह जाती है और उनके फल देने की शक्ति अनन्तगुणी हीन होकर उदीरणा हो जाती है। धवला पुस्तक छह में तथा लब्धिसार ग्रन्थ में पाँच लब्धियों का स्वरूप निम्नप्रकार बताया है –

(१) क्षायोपशमिक लब्धि – पूर्व संचित कर्मों के मल रूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणा हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किये जाते हैं, उस समय क्षायोपशमिक लब्धि होती है। यहाँ पर यथार्थ उपदेश मिलने पर और उसको धारण चिन्तन करने पर तथा गृहस्थ के षट् आवश्यक – देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, त्याग (दान) से तथा श्रावकों के बारह व्रतों का अभ्यास करने से कषाय की मन्दता होती है और विशुद्ध परिणाम हो जाते हैं, वही क्षायोपशमिक लब्धि है।

(२) विशुद्धि लब्धि – प्रतिसमय अनन्तगुणी हीन कम से उदिरित अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न अज्ञान आदि अशुभ कर्मों के बन्ध का विरोधी जो जीव का परिणाम है, उसे विशुद्ध लब्धि कहते हैं। उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धि लब्धि है।

सातावेदनीय कर्म के बंध के कारण उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में निम्न बताये है :–

भूत, व्रत, अनुकम्पा, दान, सराग संयम, योग क्षांति, शौच तथा संयमासंयम, अकाम निर्जरा, बालतप, अर्हन्त भक्ति और वैयावृत्ति आदि सातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं।

असातावेदनीय बंध के कारण– निज पर तथा दोनों के विषय में दु:ख, शोक, ताप, आक्रन्दन बंध और परिदेवन असातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं। अत: विशुद्धि लब्धि के लिए साता वेदनीय के योग्य एवं असाता वेदनीय के परिहार कारी परिणाम आवश्यक हैं। उससे ही यह विशुद्धि लब्धि प्राप्त होती है।

(३) देशना लब्धि :– छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना लब्धि है, उस देशना से परिणमित आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ को ग्रहण धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशना लब्धि कहते हैं।

(४) प्रायोग्य लब्धि :– सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अंत: कोड़ाकोड़ी स्थिति में और द्वि:स्थानीय अवस्थान में अनुभाग के करने को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं। प्रायोग्य लब्धि में ३४ बंधापसरण होते हैं। उनके ४६ प्रकृति का संवर होता है।

अंतिम ३४वाँ बंधापसरण केवल प्रथम सम्यक्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन प्राप्त करने वाले के ही होता है और वही करण लब्धि में प्रवेश करता है। ३४वें बंधापसरण में अस्थिर, अशुभ, अयशस्कीर्ति, अरति शोक व असाता वेदनीय की बंध व्युच्छित्ति होती है। इन छः प्रकृतियों का प्रमत्त सयंत गुणस्थान में बंध होता है और अप्रमत्त गुणस्थान में इन छः प्रकृतियों का संवर होता है। अतः प्रायोग्य लब्धि के अन्त में यह जीव अप्रमत्तवर्ती शुभ भाव कर लेता है जब ही करण लब्धि में प्रवेश करता है। अतः सम्यक्दर्शन को प्राप्त करने के लिए उपरोक्त परिणाम बल पूर्वक करने पड़ते हैं। श्रावक सामायिक काल में अप्रमत्तवर्ती शुभ भाव कर लेता है ऐसा कथन रत्नकरण्ड श्रावकाचार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, अनगार धर्मामृत तथा महापुराण आदि ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। अतः करणलब्धि में प्रवेश करने के लिए उपरोक्त परिणाम बल पूर्वक करने पड़ते हैं। वही जीव उछलकर करण लब्धि में प्रवेश कर सकता है।

करण लब्धि :- (१) अधःप्रवृत्तकरण में समानवर्ती जीव के परिणाम समान भी होते हैं और असमान भी होते हैं।

(२) अपूर्वकरण लब्धि में जीव के परिणाम अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं। सादृश्य नहीं होते हैं।

(३) अनिवृत्तिकरण लब्धि में समान वर्ती जीव के परिणाम समान होते हैं और असमानवर्ती के असमान ही होते हैं। यहाँ पर चार आवश्यक होते हैं। (१) गुण संक्रमण, (२) गुणश्रेणी निक्षेप (३) स्थिति काण्डक घात (४) अनुभागकाण्डक घात।

पाप प्रकृति का अनुभाग अनन्त गुणा हीन हो जाता है और पुण्य प्रकृति का अनुभाग अनन्त गुणा अधिक हो जाता है। इसका बहुत भाग निकलने पर अन्तरकरण होता है, जिसमें दर्शन मोहनीय प्रकृति का द्रव्य प्रथम स्थिति में तथा दूसरी स्थिति में निक्षेपण कर देता है और अन्तरकरण में दर्शन मोहनीय की सत्ता नहीं रहती। अनिवृत्तिकरण काल समाप्त होने पर दर्शन मोहनीय के तीन टुकड़े हो जाते हैं और वे उपशम हो जाते हैं सम्यक् दर्शन हो जाता है और यह जीव अनादि काल से जिसको प्राप्त नहीं किया था उस सम्यक् दर्शन को प्राप्त कर लेता है। करण लब्धि में परिणाम आत्मा के सम्मुख होते हैं और अनन्त-अनन्त गुणे विशुद्ध होते जाते हैं। उसी के बल पर दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षयोपशम कर लेता है। बाद में केवली भगवान के सानिध्य में क्षायिक सम्यक् दर्शन प्राप्त करके मुनिलिंग धारण करते हैं। तप के बल पर आठों कर्मों का क्षय करके सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। ऐसी सिद्ध अवस्था सब लोग प्राप्त करें – इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

❐ बाबूलाल जैन, छावनी-कोटा

आत्मानंस्नापयेन्नित्यम् ज्ञानवारिणा चारुणा।
येन निर्मलतां याति जनो जन्मान्तरेष्वपि।।

– आत्मा को नित्य ही ज्ञान रूपी पवित्र जल से स्नान कराना (स्वाध्याय से आत्मोन्मुख) चाहिये; जिससे मानव भव-भवान्तरों में भी निर्मलता को प्राप्त होता है। अर्थात् आत्म-शुद्धि होती है। **– चाणक्य**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त

❐ डॉ. प्रेमचन्द रांवका

भारत के सभी आस्तिक दर्शनों में जीव जगत की विविधता को स्वीकार किया गया है। उसे सहेतुक माना है। उस हेतु को वेदान्ती अविद्या, बौद्ध वासना, सांख्य क्लेश, न्याय वैशेषिक अदृष्ट तथा जैन 'कर्म' कहते हैं। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देशमात्र करते हैं और कई उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करते-करते बहुत आगे बढ़ जाते हैं।

न्याय दर्शन के अनुसार अच्छे-बुरे कर्मों का फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म माना है। जो सुख-दु:ख का हेतु है। जैनदर्शन कर्म को स्वतंत्र तत्त्व मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध है। वे समस्त लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बंधते हैं। बंधने के बाद, तुरन्त फल न देकर उनका परिपाक होता है। यह सत् अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दु:खरूप फल मिलता है, यह उदय अवस्था है। अन्य दर्शनों में कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध अवस्थायें बतायी हैं। ये ठीक क्रमश: बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक हैं।

अन्य दर्शन में कर्म को चार प्रकार का माना गया है – १. शुभ और शुभ विपाक, २. शुभ और अशुभ विपाक, ३. अशुभ और शुभ विपाक, ४. अशुभ और अशुभ विपाक। विपाक का अर्थ है – पकना। आध्यात्मिक परिभाषा में कर्म विपाक का अर्थ है जीवों के शुभ-अशुभ कर्मों का शुभ-अशुभ परिणाम या फल। कर्म विपाक तीन प्रकार के कर्मों का होता है –

१. संचित कर्म – पूर्वजन्मों में किये गये उन कर्मों का ढ़ेर, जिनका फल भोगना बाकी है।

२. प्रारब्ध कर्म – संचित कर्मों का वह अंश जो वर्तमान में भोगना है।

३. क्रियमाण कर्म – वर्तमान भव में किये जाने वाले कर्म – इनमें से कुछ का फल तो इसी जन्म में मिल जाता है; बाकी कर्म संचित कर्मों के ढ़ेर से जुड जाते हैं।

क्रियमाण कर्म चार प्रकार के होते हैं – १. नित्यकर्म – खानपान, स्नान, सोना आदि। २. नैमित्तिक कर्म – जो कर्म किसी निमित्त से किये जाते हैं। जीवकार्थ – नौकरी, व्यवसाय।

३. काम्य कर्म – पूजा-पाठ, अनुष्ठान (उद्देश्य) कार्य में सफलता, अनिष्ट निवारण आदि के लिये।

४. निषिद्ध कर्म – जिन कर्मों का धर्मशास्त्र में निषेध किया गया हो। पाप, अपराध।

कर्म विपाक के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा को अपने कर्मों का फल जन्म-जन्मान्तर में भोगना पड़ता है, जब तक कि संचित कर्मों का क्षय न हो जाय। जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होना मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य कहते हैं। वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों परम्पराएँ कर्म विपाक के सिद्धान्त को मानती हैं। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इसी पर आधारित है; क्योंकि पुनर्जन्म के बिना कर्मों का फल नहीं भोगा जा सकता। शुभ कर्मों का अशुभ फल तब होता है, जब कोई कर्म फल की आकांक्षा से या उसमें आसक्त होकर किया जावे। दान, परोपकार आदि पुण्य कार्य भी यदि प्रतिफल की इच्छा से किये जाते हैं, तो बंध का कारण होते हैं। अशुभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मों का शुभफल उस अवस्था में होता है, जब वे आसक्ति रहित हों। लोक कल्याणकारी हों और धर्मपालन के निमित्त हों। राष्ट्र रक्षार्थ युद्ध।

गीता, उपनिषद् आदि में अच्छे-बुरे को जैसे 'कर्म' कहा है; वैसे जैन दर्शन में कर्म शब्द क्रिया का वाचक नहीं है। जैन दर्शनानुसार कर्म शब्द आत्मा पर लगे हुये सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है। आत्मा की प्रत्येक सूक्ष्म और स्थूल मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के द्वारा उसका आकर्षण होता है। इसके बाद स्वीकरण (आत्मीकरण या जीव और कर्म परमाणुओं का एकीभाव) होता है।

कर्म के हेतुओं को भावकर्म और कर्म-पुद्गलों को द्रव्यकर्म कहा जाता है। इनमें निमित्त-नैमित्तिक भाव है। भावकर्म से द्रव्यकर्म का संग्रह और द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म तीव्र होता है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध –

बन्ध की अपेक्षा से जीव और पुद्गल अभिन्न/एकमेक हैं। लक्षण की दृष्टि से वे दोनों भिन्न हैं। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन। जीव अमूर्त है और पुद्गल मूर्त है। इन्द्रिय के विषय आदि मूर्त हैं। उनको भोगने वाली इन्द्रियाँ मूर्त हैं। उनसे होने वाला सुख-दु:ख मूर्त हैं। आत्मा अमूर्त है, तब उसका मूर्त कर्म से सम्बन्ध कैसे होता है ?

प्राय: सभी आस्तिक दर्शनों ने संसार और जीवात्मा को अनादि माना है। वह अनादिकाल से ही कर्मबद्ध और विकारी है। कर्मबद्ध आत्माएँ कथञ्चित् (किसी एक अपेक्षा से) मूर्त है अर्थात् निश्चय दृष्टि से अमूर्त होते हुये भी वे संसारदशा में मूर्त होती हैं।

जीव दो प्रकार के हैं – रूपी और अरूपी। मुक्त जीव अरूपी है और संसारी जीव रूपी। निश्चय दृष्टि से जीव अमूर्त और अरूपी ही है। कर्म मुक्त आत्मा के फिर कभी कर्म का बन्ध नहीं होता। कर्मबद्ध आत्मा के ही कर्म बंधते हैं। कर्म और आत्मा का अनादि काल से सम्बन्ध चला आ रहा है। कर्म सम्बन्ध के अनुकूल आत्मा की परिणति ही बन्ध का हेतु है। उसके कारण हैं प्रमाद और योग। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म का बन्ध करता है। क्रोध, मान, माया और लोभ भी बन्ध के कारण हैं। 'पंचास्तिकाय' गाथा १२८, १२९ एवं १३० में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं – (संस्कृत छाया-प्राकृत से)

य: खलु संसारस्थो जीवस्ततस्तु भवति परिणाम:। परिणामत्कर्म कर्मणो भवति गतिषु गति:॥

गतिमधिगतस्य देहो देहादिन्द्रियाणि जायन्ते। तैस्तु विषयग्रहणं ततो रागो वा द्वेषो वा॥

जायते जीवस्यैवं भाव: संसार चक्रवाले। इति जिनवरैर्भणितोऽनादिनिधन: सनिधनो वा॥

– यह जो जीव संसार में स्थित है, उसके निरन्तर राग-द्वेष परिणाम होते हैं। उन परिणामों से नये कर्म बंधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है। शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता है। विषय ग्रहण से इष्ट विषयों से राग और अनिष्ट विषयों से द्वेष करता है। इस प्रकार संसार रूपी चक्र में पडे हुए जीव के परिणामों से कर्मबन्ध और कर्मबन्ध से राग-द्वेष रूप भाव होते रहते हैं। यह चक्र अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है और भव्यजीव की अपेक्षा से अनादि-सान्त है।

इससे स्पष्ट होता है कि संसारी जीव अनादिकाल से मूर्तिक कर्मों से बंधा हुआ है। इसलिये एक तरह से वह भी मूर्तिक हो रहा है। जैन दर्शन में कर्म के दो भेद हैं – द्रव्यकर्म और भावकर्म। जीव से संबद्ध कर्म पुद्गलों को द्रव्यकर्म कहते हैं और द्रव्यकर्म के प्रभाव से होनेवाले जीव के राग-द्वेष रूप भावों को भावकर्म कहते हैं। द्रव्यकर्म भावकर्म का कारण है और भावकर्म द्रव्यकर्म का कारण है। न बिना द्रव्यकर्म के भावकर्म होते हैं और न बिना भावकर्म के द्रव्यकर्म होते हैं।

आत्मा और कर्म का संयोग बन्ध कहलाता है जो चार प्रकार का है। प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभाग। कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ एकीभूत होना प्रदेश बन्ध है। कर्म परमाणु का कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गों में विभक्त होना प्रकृति बन्ध है। कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय। कर्म का आत्मा के साथ निश्चित समय तक रहना स्थिति बन्ध है। स्थिति पकने पर कर्म का उदय में आकर आत्मा से अलग होने की अवधि स्थिति बन्ध कर्म पुद्गलों में रस की तीव्रता मंदता का निर्धारण अनुभाग बन्ध है।

बन्ध के उक्त चारों प्रकार एक साथ होते हैं। कर्म की व्यवस्था के ये चारों प्रधान अंग हैं। आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों के आश्लेष या एकीभाव की दृष्टि से प्रदेश बन्ध सबसे पहला है। इसके होते ही उनमें स्वभाव निर्माण, काल-मर्यादा और फल शक्ति का निर्माण होता है।

चेतना के दो रूप हैं, ज्ञान – वस्तुस्वरूप का विमर्श करना और दर्शन – वस्तु स्वरूप का ग्रहण करना। इनके आवरण ज्ञानावरण और दर्शनावरण जिनसे आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण का अवरोध होता है। आत्मा को विकृत बनाने वाले पुद्गल मोहनीय हैं। इसके दो भेद – दर्शन मोह व चारित्र मोह। श्रद्धा को विकृत (विपरीत) करने वाला दर्शन मोह और कषाय के द्वारा आत्मा के चारित्र गुण को विकृत बनाने वाला चारित्र मोह है। आत्म शक्ति का प्रतिरोध करने वाले पुद्गल अन्तराय कहलाते हैं। ये चारों घातिया कर्म हैं। इनके क्षय के लिये आत्मा को आत्मोन्मुखी तीव्र प्रयत्न करना होता है।

ज्ञानावरण के उदय से जीव ज्ञातव्य विषय को नहीं जानता। दर्शनावरण के उदय से जीव दृष्टव्य विषय को नहीं देख पाता। सातावेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख की अनुभूति करता है। असातावेदनीय के उदय से दुःख की अनुभूति होती है। मोहनीय के उदय से जीव मिथ्यात्वी बनता है। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र – ये चार अघातिया कर्म हैं।

आयु कर्म जीव को चार गतियों में से किसी एक में जन्म दिलाता है। नाम कर्म के उदय से जीव शुभाशुभ शरीर पाता है। गोत्र कर्म के उदय से जीव उच्च, निम्न बनता है। अन्तराय से आत्मशक्ति का प्रतिघात होता है। चार अघातिया कर्म परमाणुओं का विलय मुक्ति के समय एक साथ होता है। चार घातिया कर्मों के नाश से अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य की प्राप्ति होती है। आत्मा की ओर कर्म परमाणुओं का आना आस्रव, आत्मा के साथ कर्मों का संयोग बंध, आत्मा में कर्म परमाणु का आना रुक जाना संवर, आत्मा से कर्मों का हटाना निर्जरा, आत्मा से कर्म परमाणुओं का पूर्णतः नष्ट होना मोक्ष है।

कर्म शास्त्र की भाषा में शरीर नाम कर्म के उदय काल में चंचलता रहती है। मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रिया से आत्मप्रदेशों में कम्पन होता है। उसके द्वारा कर्म परमाणुओं का आकर्षण होता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्म परमाणुओं का आकर्षण होता है। मोह कर्म के उदय से जीव राग-द्वेष में परिणत होता है; तब वह अशुभ कर्मों का बंध करता है। मोह रहित प्रवृत्ति करते समय शरीर नाम कर्म के उदय से जीव शुभ कर्म का बंध करता है। ज्ञानावरण के उदय से तीव्र दर्शनावरण का उदय तीव्र होता है। दर्शनावरण के उदय से तीव्र दर्शनमोह का उदय तीव्र होता है। दर्शन मोह के उदय से तीव्र मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव के आठ प्रकार के कर्मों का बंध होता है। इस कर्म बंध का मुख्य हेतु कषाय है। कषाय के मूल में राग-द्वेष हैं और राग-द्वेष के मूल में मिथ्यात्व है।

जैन दर्शन कर्म-फल का नियमन करने के लिये ईश्वर को आवश्यक नहीं समझता। कर्म-परमाणुओं में जीवात्मा के संबंध से एक विशिष्ट परिणाम होता है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति, पुद्गल-परिणाम आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक प्रदर्शन में समर्थ हो जीवात्मा के संस्कारों को विकृत करता है। उससे उनका फलोपभोग होता है। सही अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में आत्मा अपने किये का अपने आप फल भोगता है। कर्म परमाणु सहकारी या सचेतक का कार्य करते हैं। विष और अमृत, पथ्य और अपथ्य का भोजन को कुछ भी ज्ञान नहीं होता; फिर भी जीव का संयोग पा उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही खानेवाले को इष्ट या अनिष्ट फल मिलता है। विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु की विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगों के अध्ययन के बाद कर्मों की फलदान शक्ति के बारे में कोई संदेह नहीं रहता।

कर्म का उदय दो प्रकार से होता है – १. प्राप्त काल कर्म का उदय – बंधी हुई स्थिति के अनुसार उचित समय पर स्वत: कर्म उदय में आते हैं। २. अप्राप्त काल कर्म का उदय – काल प्राप्त होने से पूर्व ही परिस्थिति या प्रयत्न विशेष के द्वारा कर्म का उदय में आना। बन्ध और उदय के अन्तर का काल अबाधा काल है। कर्म का परिपाक और उदय अपने आप भी होता है और दूसरों के द्वारा भी-सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। तीव्र परिपाक से स्वत: क्रोध में होना निर्हेतुक।

पुण्य-पाप – मन-वचन और काय की शुभाशुभ क्रिया ही पुण्य-पाप है। पुण्य-पाप दोनों विजातीय तत्त्व हैं। अत: दोनों आत्मा की परतंत्रता के हेतु हैं। जैनाचार्यों ने पुण्य को सोने की और पाप को लोहे की बेडी से तुलना की है। स्वतंत्रता के इच्छुक मुमुक्षु के लिये ये दोनों हेय हैं। मोक्ष का हेतु रत्नत्रय है। जो व्यक्ति इस तत्त्व को नहीं जानता वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानता है। निश्चय दृष्टि से ये दोनों हेय हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य और पाप को आकर्षण करने वाली विचारधारा को परसमय अर्थात् जैन सिद्धान्त से परे माना है। पुण्य काम्य नहीं है। आचार्य योगीन्दु के शब्दों में 'वह पुण्य किस काम का जो राज्य देकर जीव को दु:ख परम्परा की ओर ढ़केल दे। आत्म-दर्शन की खोज में लगा हुआ व्यक्ति मर जाए यह अच्छा है; किन्तु आत्म-दर्शन से विमुख होकर पुण्य चाहे, वह अच्छा नहीं।'

कर्म बन्धनों से मुक्ति के लिये आगम कहते हैं – इहलोक, परलोक, पूजा श्लाघा आदि के लिये धर्म मत करो, आत्मशुद्धि के लिये करो। यही बात वेदान्तवादियों ने कही है 'मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये' क्योंकि आत्म-साधक का लक्ष्य मोक्ष होता है और पुण्य संसार-भ्रमण हेतु है। भगवान महावीर ने कहा है – 'पुण्य और पाप इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है। जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में परिभ्रमण करता है।' गीता भी यही कहती है – 'बुद्धिमान सुकृत और दुष्कृत दोनों को छोड़ देता है।'

अयोगी अवस्था से पूर्व सत्प्रवृत्ति के साथ पुण्यबन्ध अनिवार्य रूप से होता है। फिर भी पुण्य की इच्छा से कोई भी सत्प्रवृति नहीं करनी चाहिये। प्रत्येक सत्प्रवृत्ति का लक्ष्य आत्म विकास होना चाहिये। भारतीय दर्शनों का यही चरम लक्ष्य है। लौकिक अभ्युदय धर्म का आनुषंगिक फल है जो धर्म के साथ अपने आप फलने वाला है। यह शाश्वत चरम लक्ष्य नहीं है।

जैनदर्शन में धर्म और पुण्य दो पृथक् तत्त्व हैं। शाब्दिक दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है; किन्तु तत्त्वमीमांसा में ये कभी एक नहीं होते। धर्म आत्मा की राग-द्वेष हीन परिणति है और पुण्य शुभकर्ममय पुद्गल है। दूसरे शब्दों में धर्म आत्मा की पर्याय है और पुण्य पुद्गल की पर्याय है। धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है और पुण्य आत्मा के लिये बन्धन है।

आत्मा स्वतंत्र है या कर्म के आधीन?

कर्म की मुख्य दो अवस्थाएँ हैं – बन्ध और उदय। दूसरे शब्दों में ग्रहण और फल। जीव, कर्म ग्रहण करने में स्वतन्त्र है और उसका फल भोगने में परतन्त्र। जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है, वह चढ़ने में स्वतंत्र है, इच्छानुसार चढ़ता है। प्रमादवश गिर जाए तो वह गिरने में स्वतंत्र नहीं है। विष खाने में स्वतंत्र है और उसका परिणाम भोगने में परतंत्र। एक रोगी व्यक्ति भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गरिष्ठ से गरिष्ठ पदार्थ खा सकता है, किन्तु उसके फल स्वरूप होनेवाले अजीर्ण से नहीं बच सकता। कर्मफल भोगने में जीव स्वतंत्र नहीं है। कहीं-कहीं जीव उसमें स्वतंत्र भी होता है। जीव और कर्म का संघर्ष चलता रहता है। जीव के काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होती है, तब वह कर्मों को पछाड़ देता है और कर्मों की बहुलता होती है; तब जीव उनसे दब जाता है। इसलिये कहीं जीव कर्म के अधीन है, तो कहीं कर्म जीव के अधीन। संयम, त्याग, तपस्या की ऊर्जा से विपाक से पूर्व भी कर्म को न्यून कर देता है। स्थिति और फल शक्ति नष्ट कर उन्हें शीघ्र तोड़ डालने के लिये तपस्या की जाती है। पातंजल योगभाष्य में भी अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्म की तीन गतियाँ बतायी है। उनमें से एक गति है – कई कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। ध्यानाग्नि-ज्ञानाग्नि वा सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणः।

इसी को जैनदर्शन में उदीरणा कहा है। पुरुषार्थ द्वारा कर्म/भाग्य में परिवर्तन किया जा सकता है। कायवाङ्मनः कर्मयोगः – योग द्वारा कर्म से बन्ध व मुक्त हुआ जा सकता है। संवर और निर्जरा कर्म मुक्ति का कारण है। संचित कर्म तपस्या द्वारा नष्ट हो जाते हैं। कोई फल डाली पर पक कर टूटता है और किसी फल को प्रयत्न से पकाया जाता है। पकते दोनों हैं, प्रक्रिया भिन्न है। जो सहज पकता है उसका काल लम्बा होता है, जो प्रयत्न से पकता है उसका काल छोटा है। कर्म का परिपाक भी ठीक इसी तरह है। निश्चित काल से पकना सविपाक कर्म निर्जरा है और निश्चित काल से पूर्व तपस्या द्वारा निर्जरा अविपाक निर्जरा है। इसी का नाम मोक्ष है। यद्यपि आत्मा कर्म का अनादि संबंध है। तथापि स्वर्ण-मृत्तिका, घी-दूध की भाँति मिले हुये भी तपाग्नि से आत्मा से कर्म पुद्गल अलग किये जा सकते हैं। कषाय, राग, द्वेष को नष्ट कर वीतरागी बन आत्मा मुक्त बन जाता है। कर्म हीनता ही मुक्ति है।

❑ २२, श्रीजी नगर, दुर्गापुरा, जयपुर (राज.)

तत्त्व बोध

जैन धर्म निर्वाणवादी धर्म है। वह निर्वाण को मानकर चलता है। धर्म की अंतिम मंजिल है निर्वाण। निर्वाणवादी धर्म से निर्वाण से पहले आत्मा का होना जरूरी है। धर्म का पहला बिन्दु है आत्मा और अन्तिम बिन्दु है निर्वाण। जैनाचार्यों ने आत्मा को देखा, अनुभव किया और जाना – आत्मा एक रूप में नहीं है, वह स्वरूपतः एक है, चैतन्यमय है, फिर भी विभाजित है। उसे तीन भागों में देखा गया – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा वह है, जो आत्मा के बाहर परिक्रमा कर रहा है, भीतर प्रविष्ट नहीं हो रहा है। मकान का दरवाजा बन्द है, व्यक्ति भीतर नहीं हो सकता। उसका कारण है मिथ्या दृष्टिकोण। जब तक दृष्टिकोण मिथ्या रहता है, अपनी आत्मा में अपना प्रवेश नहीं हो सकता। अपने ही घर में अपना प्रवेश निषिद्ध हो जाता है। बड़ा आश्चर्य है – अपना ही घर और अपने लिए प्रवेश निषिद्ध। इस स्थिति में जब आदमी बाहर भटकता है तो वह है कल्पना का साम्राज्य बहुत बढ़ा लेता है। आज के युग की जो सबसे बड़ी सामाजिक समस्या है, वह काल्पनिक दृष्टि। मनुष्य ने आवश्यकता के कुछ ऐसे मानदंड बना लिए, कृत्रिम रेखाएँ खींच लीं, विकसित व्यक्ति और विकसित समाज की अपनी अवधारणाएँ बना लीं और वह उन्हें पाने की भाग-दौड़ में व्यथित होने लगा। सामाजिक समस्या का एक अनन्य उदाहरण है। आदमी काल्पनिक आवश्यकताओं के लिए क्या-क्या नहीं करता। उनकी पूर्ति के लिए किन दुःखद स्थितियों में वर्तमान युग का व्यक्ति जी रहा है। यह हमारे सामने बहुत स्पष्ट है। बर्टेड रसेल ने अपनी पुस्तक में लिखा है – अगर ये काल्पनिक आवश्यकताएँ समाप्त हो जाएँ तो समाज की सारी समस्याएँ समाप्त हो जाएँगी, समस्याओं का समाधान मिल जाएगा।

– आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म सिद्धान्त एवं समाज-न्याय व्यवस्था

❑ डॉ. महिमा बासल्ल

आध्यात्मिक दृष्टि से कर्म सिद्धान्त पर बड़ी गहराई से विचार हुआ है उसके सामाजिक सन्दर्भों की प्रासंगिकता पर भी विचार करना अपेक्षित है। आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति माया के कारण अपना प्रकृत स्वभाव भूल जाता है। राग-द्वेष से प्रमत्त जीव इन्द्रियों के वशीभूत होकर मन, वचन, काय से कर्मों का संचय करता है। जैसे दूध और पानी परस्पर मिल जाते हैं, वैसे ही कर्म पुद्गल के परमाणु आत्म प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार लौह-पिण्ड को अग्नि में डाल देने पर उसके कण-कण में अग्नि परिव्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के असंख्यात प्रदेशों पर अनन्त-अनन्त कर्म वर्गणा के पुद्गल संश्लिष्ट हो जाते हैं।

जीव अनादि काल से संसारी है। दैहिक स्थितियों से जकड़ी हुई आत्मा के क्रियाकलापों में शरीर (पुद्गल) सहायक एवं बाधक होता है। आत्मा का गुण चैतन्य और पुद्गल का गुण अचैतन्य है। आत्मा एवं पुद्गल भिन्न धर्मी हैं फिर भी इनका अनादि प्रवाही संबंध है। आत्मा एवं शरीर के संयोग से "वैभाविक" गुण उत्पन्न होते हैं। ये हैं – पौद्गलिक मन, श्वास-प्रश्वास, आहार, भाषा। ये गुण न तो आत्मा के हैं और न शरीर के हैं। दोनों के संयोग से ही ये उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की मृत्यु के समय श्वास-प्रश्वास, आहार, एवं भाषा के गुण तो समाप्त हो जाते हैं किन्तु पुद्गल-कर्म के आत्म प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाने के कारण एक "पौद्गलिक" शरीर उसके साथ निर्मित हो जाता है जो देहान्तर करते समय उसके साथ रहता है।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, रूप मूर्त-पुद्गलों का निमित्त पाकर अर्थात् शरीर की इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण करने पर आत्मा राग-द्वेष एवं मोह रूप में परिणमन करती है, इसी से कर्मों का बंधन होता है। कर्मों का उत्पादक मोह तथा उसके बीज राग एवं द्वेष हैं। कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छदित हो जाता है। कर्मों के बंधन से आत्मा की विरूप अवस्था हो जाती है। बंधनों का अभाव अथवा आवरणों का हटना ही मुक्ति है। मुक्ति की दशा में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाती है। इस तथ्य को भारतीय दर्शन स्वीकार करते हैं। आत्मा के "आवरणों" को भिन्न नामों द्वारा व्यक्त किया गया है। किन्तु मूल अवधारणा में अंतर नहीं है। आत्मा के आवरण को जैन दर्शन कर्म-पुद्गल, बौद्ध दर्शन तृष्णा एवं वासना, वेदान्त-दर्शन अविद्या-अज्ञान के कारण माया तथा योग दर्शन प्रकृति के नाम से अभिहित करते हैं।

आवरणों को हटाकर मुक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है ? कर्त्तावादी सम्प्रदाय परमेश्वर के अनुग्रह शक्तिपात, दीक्षा तथा उपाय को इसके हेतु मान लेते हैं। जो दर्शन जीव में ही कर्मों को करने की स्वातंत्र्य शक्ति मानकर जीवात्मा के पुरुषार्थ को स्वीकृति प्रदान करते हैं तथा कर्मानुसार फल-प्राप्ति में विश्वास रखते हैं। वे साधना मार्ग तथा साधनों पर विश्वास रखते हैं। कोई शील, समाधि तथा प्रज्ञा का विधान करता है। कोई श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का उपदेश देता है। जैनदर्शन सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के सम्मिलित रूप को मोक्ष-मार्ग का कारण मानता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र में कहा है – 'सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:।'

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है। जो जैसा कर्म करता है उसके अनुसार वैसा ही कर्मफल भोगता है। इसी कारण सभी जीवों में आत्म शक्ति होते हुए भी वे कर्मों की भिन्नता के कारण जीवन की नाना गतियों, योनियों, स्थितियों में भिन्नरूप में परिभ्रमित हैं। यह कर्म का सामाजिक संदर्भ है। सामाजिक स्तर पर कर्मवाद व्यक्ति के पुरुषार्थ को जाग्रत करता है। यह उसे सही मायने में सामाजिक एवं मानवीय बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। उसमें नैतिकता के संस्कारों को उपजाता है, व्यक्ति को यह विश्वास दिलाता है कि अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है तथा बुरे कर्म का फल बुरा होता है। राग-द्वेष वाला पापकर्मी जीव संसार में उसी प्रकार पीड़ित होता है जैसे विषम मार्ग पर चलता हुआ अन्धा व्यक्ति। प्राणी जैसे कर्म करते हैं उनका फल उन्हें उन्हीं के कर्मों द्वारा स्वत: मिल जाता है। कर्म के फल भोग के लिये कर्म और उसके करने वाले के अतिरिक्त किसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। समान स्थितियों में भी दो व्यक्तियों की भिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ कर्म भेद को स्पष्ट करती हैं।

कर्म वर्गणा के परमाणु लोक में सर्वत्र भरे हैं, हमें कर्म करने ही पडेंगे। शरीर है तो क्रिया भी होगी। क्रिया होगी तो कर्म वर्गणा के परमाणु आत्म प्रदेशों की ओर आकृष्ट होंगे ही। तो क्या हम क्रिया करना बंद कर दें ? क्या ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन चल सकता है? महावीर ने इन जिज्ञासाओं का समाधान किया, उन्होंने अहिंसा के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति के चित्त को बहुत गहरे से प्रभावित किया, उन्होंने लोक के जीव मात्र के उद्धार का वैज्ञानिक मार्ग खोज निकाला। उन्होंने संसार में प्रणियों के प्रति आत्मतुल्यता भाव की जागृति का उपदेश दिया। शत्रु एवं मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखने का शंखनाद किया। यहाँ आकर आध्यात्मिक दृष्टि एवं सामाजिक दृष्टि परस्पर पूरक हो जाती है।

कर्म सिद्धान्त में समाज एवं न्याय व्यवस्था पर विचार करने के पूर्व पुण्य एवं पाप प्रकृतियों के बंध के कारण पर दृष्टि डालना समीचीन होगा। जैन दर्शन के अनुसार पुण्य प्रकृतियाँ बंधने के नव प्रकार बताए गये हैं– १. अन्न पुण्य – अन्नदान, २. पान पुण्य – पीने की वस्तु देने से, ३. वत्थपुण्य – वस्त्र दान, ४. लयन पुण्य – स्थान देने से, ५. शयन पुण्य – शयन स्थान सुविधा बिछौने आदि, ६. मन पुण्य – मन में शुभ विचारों से, ७. वचन पुण्य – शुभ वचन से, ८. काया पुण्य – शरीर से शुभ अनुकूल मनोज्ञ करने से, ९. नमस्कार पुण्य – बड़ों को गुरुजनों को, माता-पिता आदि को नमस्कार करने से।

शुभ पुण्य कर्मों के फल निम्न प्रकार से बताए गए हैं – १. परोपकार से अनायास लक्ष्मी प्राप्त होती है। २. सुविधा दान से मेधावी होता है। ३. रोगी वृद्ध असक्त जनों की सेवा से शरीर निरोगी व स्वस्थ होता है। ४. देव-गुरु-धर्म की विशिष्ट भक्ति से जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर सकता है। ५. जीव दया से सुख साधन मिलते हैं। ६. वीतराग संयम से मोक्ष प्राप्ति होती है। इसके विपरीत पाप प्रकृति बांधने के १८ हेतु बताए गए हैं – १. प्राणातिपात – जीव हिंसा २. मृषावाद – असत्य झूठ ३. अदत्तादान – चोरी ४. मैथुन – अब्रह्म ५. परिग्रह ६. क्रोध ७. मान ८. माया ९. लोभ १०. राग ११. द्वेष १२. कलह १३. अभ्यास्थान (झूठा कलंक) १४. पैशुन्य (चुगली) १५. परपरिवाद – दूसरों की निंदा/अनुचित टीका टिप्पणी १६. रति-अरति १७. माया मृषावाद १८. मिथ्यादर्शन शल्य।

अशुभ कर्म व उनके फल निम्न प्रकार बताए गये हैं –१. हरे वृक्षों के काटने-कटाने से व पशु हिंसा से संतान नहीं होती है। २. गर्भ गिराने से बांझपन होता है। ३. कन्द मूल या कच्चे फलों को तोडने से गर्भ में ही मृत्यु होती है या अल्पायु होती है। ४. मधुमक्खियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के छत्ते जलाने या तुडाने से या देव-गुरू की निन्दा से प्राणी अंधे बहरे और गूंगे होते हैं। ५. परस्त्री/परपुरुष सेवन से पेट में पथरी आदि व्याधियाँ होती हैं। ६. पति को सता कर कष्ट देने से बाल विधवा होती है। ७. नियम लेकर भंग करने से लघुवय में स्त्री, पति वियोग होता है। ८. किसी के संतान का वियोग करने से लघुवय में माता-पिता की मृत्यु हो जाती है। ९. दम्पत्ति में झगड़ा कराने से पति-पत्नी में अशान्ति रहती है।

जैनदर्शन के अनुसार शुभ-अशुभ कर्म प्रकृतियों के बंध के उपरोक्त कारण बताए गए हैं, इनको ही ध्यान में रखते हुए हमारे व्यक्ति समाज परिवार के रहन-सहन की व्यवस्था एवं नियम निर्धारित किये गए हैं।

समाज की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति है – उसके बाद परिवार फिर समाज एवं राष्ट्र। सबसे पहिले कर्म सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति की जीवन व्यवस्था पर दृष्टि डालना उचित होगा। जैन दर्शन में कर्म एक विशिष्ट सिद्धान्त है जो प्रतिपादित करता है कि व्यक्ति को अपने शुभ-अशुभ कर्मों का फल स्वत: भोगना ही पड़ता है और अपने सुख-दुख के लिये वह स्वंयं जिम्मेदार है अन्य कोई नहीं। कर्म सिद्धान्त व्यक्ति, परिवार के रहन-सहन की प्रक्रिया नियम या दिशा निर्देश नहीं देता। यद्यपि व्यक्ति-परिवार के लिए व्रत नियम-अणुव्रत आदि अलग से निर्धारित किए गए हैं। एक व्यक्ति अपने आप में स्वतंत्र होता है। पारिवारिक बन्धन उसके लिए नहीं होते। विभिन्न धर्मों एवं दर्शनशास्त्रों में मीमांसित कर्म सिद्धान्तों को वह चाहे समझे न समझे लेकिन उसका व्यवहार एवं आचरण ऐसा नहीं हो सकता कि वह अन्य व्यक्तियों के कष्ट का कारण बन जाए। सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति भी यह समझता है कि वह दूसरों के सुख का कारण बनकर दूसरों से सुख प्राप्ति का कारण बन सकता है, जितना मान-सम्मान-स्नेह आत्मीयता का भाव वह दूसरों के प्रति रखेगा, उसे भी बदले में वैसा ही स्नेह सम्मान मिलेगा। अगर वह दूसरों का अपमान करता है, प्रताडित करता है तो वह स्वयं भी वैसी प्रताड़ना प्राप्त करेगा, व्यक्त-अव्यक्त रूप से ही कर्म सिद्धान्त है।

पाप, पुण्य प्रकृतियों के बंध एवं उनके शुभ-अशुभ का फल जानकर व्यक्ति का आचार-विचार व्यवहार बहुत कुछ बदलेगा। पुण्य प्रकृति के उदय से सुख शान्ति और समृद्धि प्राप्त होगी, समाज में सम्मान प्राप्त होगा। शुभ कर्मों के शुभ फल तो अवश्य ही प्राप्त होंगे, उन्हें कभी कोई रोक नहीं सकता। परिवार की व्यवस्था कुछ अलग हो सकती है। लेकिन व्यक्ति स्वयं पाप-पुण्य प्रकृति बन्ध के सिद्धान्त के अनुसार अपनी आचार संहिता निर्धारित कर सकता है।

समाज की व्यक्ति के बाद दूसरी इकाई परिवार है। सभी मतों के अनुसार गृहस्थ धर्म सबसे श्रेष्ठ है। अगर गृहस्थ धर्म न हो तो संसार ही समाप्त हो जाए। गृहस्थ सभी का पालन पोषण करता है। जिस युग में परिवार व्यवस्था नहीं थी तब घोर अव्यवस्था रही होगी, न किसी का कोई पति, न पत्नी, न किसी की सन्तान सब तरह से अशान्ति अव्यवस्था रही होगी। इसी सुव्यवस्था बनाए रखने के लिये परिवार की संरचना की गई। स्त्री-पुरुष के विवाह संस्कार निर्धारित किए गए। धर्म, देव, गुरुजनों की साक्षी में विवाह सम्पन्न किए जाने लगे। सन्तानोत्पत्ति हुई उनके शिक्षा-दीक्षा, संस्कार की जिम्मेदारी परिवार जनों पर निर्धारित हुई। माता-पिता दोनों अपने घर-व्यापार, व्यवसाय आदि की जिम्मेदारी निभाने लगे। पहिले बताए गए शुभ-अशुभ पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार ही गृहस्थों के नियम निर्धारित किए गए। गृहस्थों को जो नियम लेने होते हैं उन्हें व्रत कहा जाता है, जो बारह निम्न प्रकार से हैं – १. पाँच अणुव्रत २. चार शिक्षाव्रत ३. तीन गुणव्रत।

ये बारह श्रावक के व्रत हैं नियम हैं – आचार संहिता है। परिवार समाज की इकाई है, शुभ-अशुभ कर्मों के शुभ-अशुभ फल तो प्राप्त होते ही हैं। सामान्य रूप से सभी मत वाले न्यूनाधिक इस सिद्धान्त में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्वास करते हैं लेकिन फिर भी परिवार को सुचारू रूप से, सुख शान्ति पूर्वक चलाने के लिए कुछ नियम, कुछ व्रत आवश्यक हैं। जैन दर्शन में उपरोक्त १२ व्रत निर्धारित किए गए हैं। प्रत्येक गृहस्थ श्रावक-श्राविका को यह नियम लेने चाहिए। गृहस्थ धर्म चूँकि सर्वश्रेष्ठ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चारों पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन है। अत: इसका सुचारू, निर्द्वन्द और सफल रूप में गतिशील रहना भी आवश्यक है और इनके नियम भी आवश्यक हैं। सर्वविदित है आज के युग में घर परिवार में कितने द्वंद क्लेश हैं जिसकी वजह से परिवार के समस्त सदस्य भयंकर रूप से त्रस्त रहते हैं, परिवार टूट रहे हैं, बच्चों का जीवन कष्टमय हो रहा है, जितना अधिक क्रोध-मान एवं अन्य कषाय भाव बढ़ रहे हैं, परिवार में संताप, तनाव और अंतत: विघटन होता जा रहा है। अगर परिवार के सदस्य पुण्य-पाप प्रकृति बंध के कारण और उनके प्रभाव को समझेंगे, १२ व्रतों के अनुसार अपने आपका आचरण व्यवस्थित रखें तो कोई कारण नहीं कि परिवार में क्लेश कष्ट और अमंगल हो। अहिंसा-मात्र जीव हिंसा ही नहीं अपितु किसी भी प्राणी के मन को मन-वचन-कर्म से कष्ट देना भी हिंसा है। अत: त्याज्य है। ब्रह्मचर्य स्वपति, पत्नी सन्तोषव्रत है, स्त्री-पुरुष अपने पति पत्नी के अलावा अन्य किसी से भी कुशील संबंध न रखें तो परिवार की बहुत सी समस्याएँ स्वत: हल हो जाएंगी। इसी प्रकार अपरिग्रह व्रत है एक सीमा में धन सम्पति रखने से व्यक्ति की अनन्त उलझनें लोभ, मोह की प्रवृत्तियाँ कम हो जाएगीं। असीमित धन, ऐश्वर्य की कामनाएँ मानव को हमेशा अशान्त ही रखेंगी।

जैन दर्शन में ये व्यवस्थाएँ कर्मफल के सिद्धान्तों के अनुरूप ही की गई हैं। श्रावक के व्रतों में शुद्ध भोजन पान, मद्य मांस निषेध, गुरुजनों की विनय, अतिथि सेवा आदि बहुत कुछ समाविष्ट हैं जिसके आचरण से परिवार सुखी समृद्ध रह सकता है। महावीर ने कहा –

'कम्मणा बम्मणा होई. कम्मणा होई खतिया'

कर्म से ही ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय होता है। उस समय महावीर की बात बहुत ही क्रांतिकारी थी। जन्म से नहीं, श्रेष्ठ कर्म से – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है। उन्होंने शूद्रों को भी वह स्थान दिया जो उच्चतम वर्ग के ब्राह्मणों को था। शुभ कर्म करने से शूद्र भी ब्राह्मण और उससे भी श्रेष्ठ पद का अधिकारी हो सकता है – कर्म की महिमा और श्रेष्ठता बताने वाले सर्वप्रथम युगान्तकारी महावीर ही थे।

आज के युग में भी साम्यवादी विचारधारा के निहित सिद्धान्त यही हैं, महावीर सबसे पहले चिन्तक साम्यवादी विचारधारक थे। उन्होंने शोषित वर्ग को शोषण मुक्त समाज में लाने का उपक्रम किया। वहीं शोषणमुक्त समाज की चिन्तन धारा महावीर के विचारों में जन्म ले चुकी थी। फर्क सिर्फ इतना है कि आज का साम्यवाद हिंसा नरसंहार में विश्वास करता है जबकि महावीर विचारों में परिवर्तन करते थे। वे हिंसात्मक विचारों के बिना स्नेह, अहिंसा, विश्वप्रेम के आदर्शों से समाज की धारा में परिवर्तन लाए। बहुत कुछ परिवर्तन हुआ, आज विश्व में जो शान्ति समभाव है, वह महावीर की ही देन है। संसार सुख-दुख मय ही है। प्रत्येक संसारी जीव के साथ सुख-दुख सर्वदा के लिए जुड़े हुए हैं। कभी सावन के मेघों की तरह सुखों की लहर उमड़ती है तो कभी दुखों के झंझावात प्रलय की तरह आ जाते हैं। क्षणभर में भयंकर दुर्घटनाएँ हो जाती हैं और हँसते खेलते परिवार दु:खों के सागर में डूब जाते हैं। युद्ध होते हैं, लाखों मनुष्य काल के गर्त में समा जाते हैं उनके परिवारजन जीवन भर दु:खों की त्रासदी झेलते रह जाते हैं।

विचारणीय है कि क्या ये सब घटनाएँ महज संयोग मात्र हैं या अगर ईश्वर है तो उसकी इच्छा से ही ये सब महान् नरसंहार व हिंसा होती है। वह स्वयं अपने मन से या हृदय की सन्तुष्टि के लिये सबको सुखों के उपहार या दु:खों की आपदाएँ दे देता है। निस्संदेह ऐसा नहीं होगा। अगर कार्य-कारण पर विचार किया जाए तो इसी निष्कर्ष पर हम पहुँचेंगे कि प्रत्येक जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को सुख-दुःख उपने वर्तमान अथवा पूर्व कर्मों से ही प्राप्त होते हैं। अगर फल भोगते हैं तो यह अपने आप में स्वतः सम्पूर्ण न्याय व्यवस्था है। सिद्धान्त रूप से फिर किसी न्यास व्यवस्था की आवश्यकता नही रह जाती लेकिन समाज एवं राष्ट्र में अपनी विशेष न्यास व्यवस्था सर्वदा अवश्यंभावी मानी गई है। सभी व्यक्ति परोपकारी, दयालु, धर्मशील नहीं हो सकते और व्यक्ति बिना कुछ पुरुषार्थ के रातों-रात अबिलम्ब प्रभूत धन लाभ करके सांसारिक सुख प्राप्त करना चाहते हैं। उसके लिए सहज उपाय के रूप में चोरी, हिंसा, कपट आदि क रास्ते अपनाने लगते हैं। कभी-कभी उन्हें तत्काल अर्थलाभ हो भी जाता है। वे यह नहीं सोच पाते या विश्वास नहीं कर पाते कि उन्हें अपने अशुभ कर्मों का फल भविष्य में भोगना पड़ेगा। वे प्रत्यक्ष तत्काल अर्थलाभ ही देख पाते हैं। विडंबना यह भी है कि कर्म पुद्गल परमाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे बंधते, फल देते, क्षय होते आँखों से दिखाई नहीं देते। जबकि अर्थ लाभ धन-सम्पत्ति की प्राप्ति दिखाई देती है और उस लाभ को कई प्राणी छोड़ नहीं पाते। ऐसे लोगों के लिए जो असामाजिक हैं, हिंसक, चोर तस्कर हैं ऐसी न्याय व्यवस्था आवश्यक है जो उन्हें उचित दंड दे सके और वे लोग समझ सकें कि अनैतिक कार्यों का फल तत्काल इस रूप में भी उन्हें मिलेगा। प्रत्येक देश की सरकार जिस पर जनता की शांति शासन व्यवस्था उन्हें करनी होती है – पूरा पुलिस, खुफिया-सेना, सुरक्षा बल होते हैं। न्यायालय होते हैं जहाँ अपराधों की जाँच होती है और अपराधियों को सजा दी जाती है।

यद्यपि यह सब है सुरक्षा-न्याय व्यवस्था सरकार करती है, लेकिन अनैतिक अशुभ कर्मों का फल तो अपराधी को भोगना ही होता है। वह किसी भी रूप में हो सकता है। अगर एक हिंसा का या चोरी का अपराधी जेल जाता है तो वह भी अशुभ कर्मों का फल ही माना जाएगा, चाहे वह सरकारी या न्यायाधिकारीयों के माध्यम से ही हो। अगर कदाचित् किन्हीं कारणों से वह जेल की सजा से बच जाता है तब भी वह समाज की नजरों से गिर जाता है, उसका मान-सम्मान समाप्त हो जाता है, सब जगह तिरस्कृत हो जाता है, उसे अपना जीवन पुलिस वालों से भागकर उनकी नजरों से छिपाकर ही गुजारना होता है। जीवन की सुख शान्ति उससे दूर रहती है। यह भी दूसरे प्रकार का अशुभ कर्म फल है।

कई बार आकस्मिक भयंकर कष्ट कई प्राणियों के जीवन में आते हैं, कभी असाध्य बीमारी जीवन में आती है, कभी व्यापार में घाटा हो जाता है, कभी दुर्घटना में अपंगता हो जाती है, कभी मृत्यु भी हो जाती है, कभी प्रिय परिवारजनों का वियोग हो जसता है, ये सभी बिल्कुल संयोगमात्र नहीं, अतीत के अशुभ कर्मों के फल ही माने जाऐंगे, जो कभी तो तत्काल और कभी लम्बी अवधि के बाद भी फलीभूत हो सकते हैं। कठिनाई यही है कि प्रायः सर्वदा अशुभ कर्म और उनके फल में कार्य कारण भाव स्पष्ट प्रतीत नहीं होता दिखता है। यही कारण है कि संसार में अनिष्ट कर्म हिंसा, चोरी कपट आदि समाप्त नहीं होते तथा लोभ, कषाय भाव संसारी प्राणी में न्यूनाधिक अवस्था में सदैव विद्यमान है और रहेगा। लेकिन कर्म एवं उनके फल का सिद्धान्त अटल है और सर्वदा रहेगा। ❐

स्थायी पता:

जय-विद्या
प्लाट नं. ६, मंगल विहार विस्तार
कासलीवाल पथ, गोपालपुरा बाईपास रोड़
जयपुर-३०२०१८ (राजस्थान)

दयालु पुरुषों के कानों की शोभा शास्त्र सुनने से है, कुण्डल पहनने से नहीं। उनके हाथों की शोभा दान करने से है, कंगन पहनने से नहीं। उनके शरीर की शोभा परोपकार करने से है, चन्दन लगाने से नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निज आत्मा ही परम ध्येय

❑ महेश चन्द्र चांदवाड़

पूजा करने के लिए मंदिर की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु पूज्य बनने के लिए मंदिर की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी बनने के लिए मात्र शास्त्रों और ग्रन्थों की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान तो आत्मा का धर्म है। अपने परिणामों को निर्मल करें, यही धर्म है। जब शुभ कर्म करेंगे, तो देव गति का बंध होगा और अशुभ कर्म करेंगे, तो नरक और तिर्यंच गति का बंध होगा। जबकि शुद्धोपयोग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत: निज में निज का रमण यह निर्ग्रन्थ योगी की दशा है, अतएव उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य के लिए किसी बाहरी तत्त्व की आवश्यकता नहीं होती, यह तो जीव का स्वभाव है और यही धर्म है। अत: राग, द्वेष और मोह को छोड़कर निज आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

ध्यान चार प्रकार के हैं – १. आर्त्त ध्यान, २. रौद्र ध्यान, ३. धर्म ध्यान, ४. शुक्ल ध्यान। इनके भी चार-चार भेद हैं।

आर्त्त ध्यान –

१. इष्ट वियोगज आर्त्त ध्यान – इष्ट वस्तु के वियोग होने पर मन में जो चिन्तन होता है, उसे इष्ट वियोगज आर्त्त ध्यान कहते हैं।

२. अनिष्ट वियोगज आर्त्त ध्यान – अनिष्ट वस्तु के संयोग होने पर उसके वियोग के लिए मन में जो चिन्तन होता है, उसे अनिष्ट वियोगज आर्त्त ध्यान कहते हैं।

३. वेदना प्रभाव आर्त्त ध्यान – शरीर की पीड़ा होने पर उसके संबंध में मन में चिन्तन होता रहे, उसे वेदना प्रभाव आर्त्त ध्यान कहते हैं।

४. निदान बन्ध आर्त्त ध्यान – भोगों के विषयों की चाह संबंधी मन में जो ध्यान होता रहता है, उसे निदान बन्ध आर्त्त ध्यान कहते हैं।

रौद्र ध्यान –

१. हिंसानन्द रौद्र ध्यान – मन में हिंसा के प्रति ही चिन्तन चलता रहे, उसी में आनन्द मानता रहे, उसे हिंसानन्द रौद्र ध्यान कहते हैं।

२. मृषानन्द रौद्र ध्यान – मन में झूठ के लिए ही चिन्तन रहे, उसी में आनन्द मानता रहे, उसे मृषानन्द रौद्र ध्यान कहते हैं।

३. चौर्यानन्द रौद्र ध्यान – चोरी करने में ही जिसे आनन्द आए और मन में चोरी का ही चिन्तन रहे, उसे चौर्यानन्द रौद्र ध्यान कहते हैं।

४. परिग्रहानन्द रौद्र ध्यान – परिग्रह बढ़ाने और उसी में आनन्द मानने के चिन्तन को परिग्रहानन्द रौद्र ध्यान कहते हैं।

इस प्रकार रौद्र ध्यान से भी मन में शान्ति नहीं मिलती और यह संसार भ्रमण में ही सहायक होगा।

धर्म ध्यान –

१. आज्ञा विचय धर्म ध्यान – जिनागम की आज्ञा से तत्त्वों का चिन्तन हो, उसे आज्ञा विचय धर्म ध्यान कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. अपाय विचय धर्म ध्यान – अपने या पर के प्रति रागादि भाव जो दु:ख के मूल हैं, उनके विनाश के लिए मन में चिन्तन हो, उसे अपाय विचय धर्म ध्यान कहते हैं।

३. विपाक विचय धर्म ध्यान – कर्मों के फल के संबंध में संवेगवर्द्धक चिन्तन को विपाक विचय धर्म ध्यान कहते हैं।

४. संस्थान विचय धर्म ध्यान – लोक के आकार, काल आदि के आश्रय से जीव के परिभ्रमणादि विषयक असारता का चिन्तन करना व अरिहन्त, सिद्ध मंत्र पद आदि के आश्रय से तत्त्व चिन्तन करने को संस्थान विचय धर्म ध्यान कहते हैं।

इस प्रकार धर्म ध्यान से जीव संसार के दु:खों से मुक्त हो सकता है और परम सुख की प्राप्ति कर सकता है।

शुक्ल ध्यान –

१. पृथकत्व वितर्क वीचार शुक्ल ध्यान – अर्थ, याशव शब्दों के परिवर्तन सहित जिनवाणी के संबंध में चिन्तन करना पृथकत्व वितर्क वीचार शुक्ल ध्यान है।

२. एकत्व वितर्क अवीचार शुक्ल ध्यान – एक ही अर्थ में एक ही योग से उन्हीं शब्दों में जिनवाणी के संबंध में चिन्तन करने को एकत्व वितर्क अवीचार शुक्ल ध्यान कहते हैं।

३. सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्ल ध्यान – सयोग केवली के अंतिम अन्तर्मुहुर्त में जब कि बादर योग भी नष्ट हो जाता है, तब सूक्ष्म काययोग से भी दूर होने के लिए जो योग, उपयोग की स्थिरता होती है, उसे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्ल ध्यान कहते हैं।

४. व्युपरत क्रियानिवृत्ति शुक्ल ध्यान – समस्त योग नष्ट हो चुकने पर अयोग केवली से यह व्युपरत क्रियानिवृत्ति शुक्ल ध्यान होता है।

इस प्रकार शुक्ल ध्यान पंचम काल में संभव नहीं है।

इस पंचम काल में आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान तो प्राय: लगा ही रहता है और यही पाप का मार्ग है। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में से अभी मात्र धर्म ध्यान का ही अभ्यास किया जा सकता है। इसी से पुण्य बंध होगा और स्वर्ग लोक में जाकर वहाँ से च्युत होकर उत्तम मनुष्य कुल में जन्म लेकर काल लब्धि होने पर शुक्ल ध्यान करके जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हुआ जा सकता है। इसीलिए मानव को विचार करना चाहिए कि वह तो जन्म, जरा और मृत्यु से रहित निरंजन स्वभावी आत्मा है। अत: इस दुर्लभ मानव भव में निज आत्म तत्त्व को समझने का प्रयास करें और संसार की सभी वस्तुओं को पर समझते हुए अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करें, उसी का ध्यान करें।

अब प्रश्न यह है कि ध्यान किया कैसे जाय ? ध्येय क्या है ? जब तक ध्येय का ज्ञान नहीं होगा तब तक ध्यान किसका किया जाय ?

वास्तव में निश्चय दृष्टि से शुद्धात्मा ही हमारा परम ध्येय है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से पंच परमेष्ठी ध्येय हैं। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु – ये पाँचों परमेष्ठी आत्मा में ही विराजते हैं। इसलिए आत्मा ही हमारा परम ध्यान केन्द्र है।

जो रत्नत्रय को धारण करके ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं, वे साधु परमेष्ठी हमारे ध्येय हैं। जो जिनागम के सिद्धान्तों को जानते हैं और वीतराग धर्म की देशना से अन्यों के कल्याण में प्रवृत्त हैं, ऐसे साधु परमेष्ठी हमारे ध्येय हैं। जो मुनियों में श्रेष्ठ हैं, जिन्होंने सांसारिक विषयों को तुच्छ समझ कर छोड़ दिया है और आत्म-कल्याण हेतु शिक्षा-दीक्षा देते हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी हमारे ध्येय हैं। जिन्होंने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं और लोकालोक को प्रकाशित कर रहे हैं, ऐसे अरहंत परमेष्ठी हमारे ध्येय हैं। इनके अतिरिक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर देने व लोक के अग्रभाग में विराजने वाले परम-पारिणामिक स्वभाव में लीन ज्ञायक स्वभावी परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी हमारे परम ध्येय हैं।

जब तक मन में स्थिरता नहीं होगी ध्यान नहीं होगा। मन एक दर्पण है, जैसा चेहरा सामने आता है प्रतिबिम्ब वैसा ही होता है। मन के सामने जो वस्तु आती है, मन उसी ओर उन्मुख हो जाता है। इसलिए मन को योग की ओर मोड़ना होगा। भोग-विलास की ओर जाते हुए मन पर लगाम लगानी होगी, तब ही ध्यान संभव होगा। चित्त की एकाग्रता ध्यान है, संवर-निर्जरा ध्यान का फल है और उस फल का फल मोक्ष है। इसलिए जिनागम में बार-बार ध्यान करने के लिए प्रेरित किया गया है।

जब तक इन्द्रियों की खिड़की खुली हुई है तब तक निज का चित्र झलकने वाला नहीं है। ये आत्मा का चित्र तभी झलकेगा जब इन्द्रिय-मन की खिड़कियाँ बंद कर देंगे तभी निश्चय ध्येय की प्राप्ति होगी। अत: राग, द्वेष, मोह को छोड़ने का अभ्यास करना चाहिए। जब तक मोह दूर नहीं होगा, तब तक राग-द्वेष भी नहीं छूटेगा एवं निज आत्मा का ध्यान नहीं होगा। ध्यान के पहले ध्याता को, वस्तु और व्यक्ति से दूर हटना होगा। वस्तु और व्यक्ति जब तक दृष्टि में झलकते रहेंगे तब तक ध्यान की सृष्टि का उद्‌भव नहीं होगा। अंतरंग शक्ति को जाज्वल्यमान करने वाला यदि कोई द्रव्य है, वस्तु है तो वह ध्यान ही है।

आत्म शक्ति प्रबल करने हेतु सम्पूर्ण इन्द्रियों की खिड़कियों को बंद करके बैठता है, तब अंतरंग की भाप अंतरंग में उत्पन्न होती है। निज की ऊर्जा निज में उद्‌धृत होती है। ढक्कन जब भाप से बाहर फिक जाता है, तो कर्मों की राख अपने आप बाहर फिकना आरंभ हो जाती है। ऐसी स्थिति में बगैर ध्यान के कर्मों की निर्जरा संभव नहीं है। कर्मों की निर्जरा ही मोक्ष का साक्षात् हेतु है, उसका एकमात्र आलम्बन ध्यान है। ध्यान तो त्रैकालिक है। पहले यह देखना है कि हमारा कौन-सा ध्यान चल रहा है। धर्म या शुक्ल ध्यान मोक्ष के लिए है। आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार का हेतु है। क्रूरता का नाम रौद्र ध्यान है। हिंसानन्दी रौद्र ध्यान में कृत, कारित, अनुमोदन, मन, वचन, काय, समरंभ, समारंभ और आरंभ सम्मिलित है। इसी प्रकार अन्य की वस्तु को बिना पूछे उठाना या उपभोग करना चौर्यानन्दी रौद्र ध्यान है। आवश्यकता से अधिक वस्तु का संग्रह करना परिग्रहानन्दी रौद्र ध्यान है। इष्ट का वियोग होने पर जो आर्त्त परिणाम होते हैं, वह इष्ट वियोग आर्त्त ध्यान है। जो हमें अच्छा लगता है, उसका संयोग हो जाय तो वह अनिष्ट संयोग आर्त्त ध्यान है। अत: समता भाव से राग-द्वेष-मोह को छोड़कर निज आत्मा का ध्यान करने पर ही जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त हो सकेगी, अन्यथा चौरासी लाख योनियों में भटकते रहेंगे और कर्म शत्रु हमारा साथ नहीं छोड़ेंगे।

❐ १३३५, किसान मार्ग, बरकत नगर, जयपुर (राज.)

याही नरपिंड में विराजै त्रिभुवन-निधि,
याही में त्रिविध परिणाम रूप सृष्टि है।
याही में करम की उपाधि दुख दावानल,
याही में समाधि सुख वारिद की वृष्टि है॥
यामें करतार करतूति याही में विभूति,
यामें भोग याही में वियोग यामें घृष्टि है।
याही में विलास सब गर्भित गुप्तरूप,
ताही को प्रगट जाके अन्तर सुदृष्टि है॥३३॥ ना.स.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन में लोक की संरचना

❒ लोकेश जैन

जैन दर्शन में कार्तिकेय स्वामी महानाचार्य हुए हैं, उन्होंने कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में लोक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा कि लोक शब्द लुक् धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना। जितने क्षेत्र में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं। सर्व आकाश अनन्त प्रदेशी है, उसके बहुमध्य में लोक है, यह असंख्यात प्रदेशी है। लोक के मध्य में मेरूपर्वत है। सुमेरू पर्वत के नीचे गौस्तनाकार आठ प्रदेश स्थित हैं। जिस भाग में वे प्रदेश स्थित हैं, वही लोक का मध्य है और जो लोक का मध्य है, वही आकाश का मध्य है, क्योंकि समस्त आकाश के मध्य में लोक स्थित है।

लोक पुरुषाकार है। कोई पुरुष दोनों पैर फैलाकर और दोनों हाथों को कटिप्रदेश के दोनों ओर रखकर यदि खड़ा हो तो उसका जैसा आकार होता है, वैसा ही आकार लोक का जानना चाहिए। तीनों लोकों में मेरू पर्वत के तल से नीचे सात राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक है। मध्यलोक मेरू प्रमाण है। जो तीनों लोकों का माप करता है, उसे मेरू कहते हैं। मध्यलोक की ऊँचाई १ लाख ४० योजन है। मध्यलोक की यह ऊँचाई ऊर्ध्वलोक में सम्मिलित है। अत: ऊर्ध्वलोक की यथार्थ ऊँचाई १ लाख ४० योजन कम सात राजू है। यह मध्यलोक रत्नप्रभा नामक पृथ्वी पर स्थित है। इस पृथ्वी के नीचे शर्करा, बालुका, पंक, धूम, तम एवं महातम प्रभा नामक पृथिवियाँ हैं। सप्तम पृथ्वी के नीचे एक राजू निगोद स्थान है, जिसे कलकल भूमि कहते हैं। ये सभी पृथिवियाँ घनोदधि, घनवात और तनुवात नाम के वातवलयों से वेष्ठित हैं। मेरु के नीचे यह सब सात राजू क्षेत्र अधोलोक कहलाता है तथा मेरु से ऊपर सौधर्म स्वर्ग के ऋजुविमान के तल से लेकर लोक के शिखर पर्यन्त सात राजू क्षेत्र को ऊर्ध्व लोक कहते हैं। मेरू पर्वत की चूलिका एवं ऋजुविमान में एक बाल मात्र का अन्तर है। सोलह स्वर्ग, नौ ग्रेवेयक, पाँच अनुत्तर तथा सिद्ध शिला ये सब ऊर्ध्व लोक में सम्मिलित हैं। यह लोक नीचे से चौड़ा (वेत्रासन मोटे के आकार का), बीच में झालर जैसा एवं ऊपर मृदंग के समान है। अर्थात् दोनों तरफ सँकरा, बीच में चौड़ा है।

यह लोक अकृत्रिम, अनादि अनन्त एवं स्वभाव से निष्पन्न है। जीव-अजीव द्रव्यों से भरा है, समस्त आकाश का अंग है और नित्य है। अन्य धर्म इसे कछुए की पीठ पर या शेषनाग के फन पर ठहरा हुआ मानते हैं। यह अविनाशी स्वयंसिद्ध एवं अनादि-निधन है। इसका कोई ईश्वर, स्वामी या कर्ता नहीं है।

इस लोक में पापकर्म के फल से जीव अधोलोक में, पुण्यकर्म के फल से ऊर्ध्वलोक में, पुण्य-पाप की समानता होने पर मध्यलोक में एवं दोनों का अभाव होने पर सिद्धलोक का वासी बनता है।

अधोलोक में रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग हैं। १. खर भाग, २. पंक भाग, ३. अब्बहुल भाग। इनमें खर भाग में असुर कुमार जाति के देवों को छोड़कर सात प्रकार के व्यन्तरवासी देव रहते हैं। पंक भाग में असुर और राक्षसों का निवास है। अब्बहुल भाग में प्रथम नरक का प्रारंभ है। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा आदि सात नरक नीचे-नीचे एक-एक रज्जु प्रमाण आकाश में हैं। इनमें ८४ लाख बिल हैं। इनमें प्रथम नरक में नारकियों की ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ और छह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंगुल प्रमाण है और आगे बढ़ती हुई सप्तम पृथ्वी में ५०० धनुष ऊँचाई है। प्रथम नरक में जघन्य आयु दस हजार एवं उत्कृष्ट एक सागर तथा आगे बढ़ते हुए सप्तम नरक में नारकियों की आयु ३३ सागर प्रमाण है। इन नरकों में असंज्ञी पंचेन्द्रिय प्रथम भूमि में, सरठ दूसरे नरक में, पक्षी तीसरे नरक में, सर्प चौथे नरक तक, सिंह पाँचवें नरक तक, स्त्री छठे नरक तक एवं सातवें नरक तक कर्मभूमि में उत्पन्न मनुष्य एवं मगरमच्छ ही जा सकते हैं। सातों नरक में आये जीव, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती संज्ञक श्लाका पुरुष नहीं एवं चौथे नरक से आये जीव तीर्थंकर नहीं, पाँचवें नरक से आये जीव चरम शरीरी, छठवें नरक से आये जीव भावलिंगी मुनि एवं सातवें नरक से आये जीव श्रावक नहीं होते हैं। इन नरकों में पाँचवी पृथ्वी के निचले भाग से सप्तम पृथ्वी पर्यन्त शीतजन्य भयानक दु:ख और पाँचवीं पृथ्वी के ऊपर भाग तक उष्णता का दु:ख है।

अधोलोक के ऊपर आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग दिखाने वाली मानव पर्याय की सार्थकता को कराने वाला असंख्यात द्वीप व समुद्रों से घिरा हुआ मध्यलोक है। मध्यलोक में असंख्यात द्वीपों व समुद्रों के बीच जम्बू वृक्ष से चिन्हित थाली के समान गोल और एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है। इसमें भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत एवं ऐरावत सात क्षेत्र हैं। विदेह क्षेत्र में उत्तर कुरु (जामुन) का वृक्ष है, इसलिए इसका नाम जम्बूद्वीप पड़ा।

उन क्षेत्रों का विभाग करने वाले पूर्व से पश्चिम लम्बे हिमवत, महाहिमवत, निषध, नील, रुक्मिन, और शिखरिन नाम के ये छह कुलाचल (पर्वत) हैं। उन पर क्रम से पद्म, महापुण्डरीक नाम के तालाब हैं। उनमें प्रथम तालाब पर एक योजन विस्तार वाला कमल है। तालाब के कमलों पर श्री, ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि एवं लक्ष्मी नाम की देवियाँ निवास करती हैं। उनसे नदियाँ निकली हैं। इनमें पहले पद्म एवं छठे पुण्डरीक से तीन-तीन व शेष से दो-दो नदियाँ निकली हैं। भरत में गंगा-सिन्धु, हैमवत में रोहित-रोहितास्या, हरि में हरित-हरिकान्ता, विदेह में सीता-सीतोदा, रम्यक में नारी-नरकान्ता, हैरण्यवत में सुवर्णकूला-रूप्यकूला और ऐरावत में रक्ता-रक्तोदा नदियाँ बहती हैं। इनमें भरत क्षेत्र का विस्तार ६२६ ६/१९ योजन है तथा विदेह क्षेत्र पर्यन्त पर्वत और क्षेत्र दूने-दूने विस्तार वाले हैं। विदेह क्षेत्र के उत्तर-दक्षिण में पर्वत एवं क्षेत्र समान विस्तार वाले हैं। यहाँ बीस कोड़ा-कोड़ी (करोड़ गुणा करोड़) सागर का एक कल्पकाल होता है। उत्सर्पिणी काल में जीवों की आयु, ऊँचाई, बुद्धि आदि की वृद्धि एवं अवसर्पिणी में इनकी न्यूनता होती जाती है। अवसर्पिणी के छह भेद हैं – सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा, दुषमा-दुषमा। इसी प्रकार उत्सर्पिणी के छह भेद दुषमा-दुषमा आदि हैं। वर्तमान में दुषमा हुण्डावसर्पिणी काल चल रहा है। यह असंख्यात कल्पकाल बीतने के बाद आता है। इसमें अनहोनी घटनाएँ यथा तीर्थंकर तीन पद धारी, तीर्थंकर के पुत्रों में लड़ाई, तीर्थंकर के प्रक्रिया आदि होती है। मध्यलोक में पाँच भरत, पाँच ऐरावत एवं पाँच विदेह कुल १५ कर्मभूमियाँ हैं। भरत-ऐरावत क्षेत्र में प्रथम, द्वितीय, तृतीय काल में भोगभूमि एवं चतुर्थ आदि काल में कर्मभूमि है। चतुर्थ काल में यहाँ २४ तीर्थंकर और इनके २४ माता, २४ पिता, २४ कामदेव, १४ कुलकर, १२ चक्रवर्ती, ११ रुद्र, ९ नारायण, ९ बलभद्र एवं ९ नारद – ऐसे कुल १६९ महापुरुष होते हैं। यहाँ मात्र चतुर्थ काल में मुक्तिद्वार खुला है।

विदेह क्षेत्र में सदा चतुर्थ काल है। यहाँ सदैव जीव मुक्तिगमन करते रहते हैं। बीस तीर्थंकर शाश्वत पाये जाते हैं। १५ कर्मभूमियों में १७० अयोध्या और १७० सम्मेदशिखर हैं। अयोध्या में तीर्थंकरों का जन्म एवं सम्मेदशिखर में निर्वाण होता है। अभी हुण्डा अवसर्पिणी काल के दोष से तीर्थंकरों का जन्म व निर्वाण अलग-अलग भूमियों में हुआ है। शेष क्षेत्र भोगभूमि कहलाते हैं।

जम्बूद्वीप के आगे दूने-दूने विस्तार वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असंख्यात समुद्र एवं द्वीप हैं। उनमें ढाई द्वीप – जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र और पुष्करार्ध इतने क्षेत्र को अढाई द्वीप कहते हैं। जिसका विस्तार ४५ लाख योजन है एवं इसी में मनुष्य पाये जाते हैं। इसके आगे नहीं। जहाँ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या आदि छह कर्मों की प्रवृत्ति होती हैं, वे कर्मभूमि कहलाती हैं। ढाई द्वीप में एक मेरू सम्बन्धी ६ भोगभूमि तो ५ मेरू सम्बन्धी ३० भोगभूमियाँ है। यहाँ जीव कल्पवृक्षों के द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

आठवाँ द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। जिसमें ५२ अकृत्रिम चैत्यालय हैं। उसके आगे कुण्डलवर द्वीप में ४, रुचकवर द्वीप में ४ – इसप्रकार मध्यलोक में ४५८ अकृत्रिम चैत्यालय हैं।

पृथ्वी से ७९० योजन से लेकर ११० योजन अर्थात् ९०० योजन पर्यन्त ज्यार्तिलोक है। यहाँ तारा, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बुध-वृहस्पति-मंगल और शनि के विमान क्रमशः ७९०, १०, ८०, ४, ४, ३, ३, ३, और ३ योजन ऊपर हैं। ढाई द्वीप के ज्योतिषी देव निरंतर मेरू की प्रदक्षिणापूर्वक परिभ्रमण करते हैं। उसी से ढाई द्वीप में घड़ी, घण्टा, प्रहर, दिवस आदि व्यवहार काल होता है। जम्बूद्वीप में २ चन्द्रमा, २ सूर्य, लवणोदधि में ४ चन्द्रमा, ४ सूर्य, धातकी खण्ड में १२ चन्द्रमा, १२ सूर्य, कालोदधि में ४२ चन्द्रमा, ४२ सूर्य और पुष्करार्ध में ७२ चन्द्रमा, ७२ सूर्य हैं। उनमें भरत क्षेत्र से बाहरी भाग में उस चार क्षेत्र में सूर्य के १८४ मार्ग होते हैं। चन्द्रमा के मात्र १५। जम्बूद्वीप के भीतर कर्क संक्रान्ति के दिन जबकि दक्षिण अयन का आरम्भ होता है, तब निषध पर्वत के ऊपर प्रथम मार्ग में सूर्य प्रथम उदय होता है, तब सूर्य के विमान में स्थित निर्दोष वीतराग जिनेन्द्र की अकृत्रिम प्रतिमा का अयोध्या नगरी में स्थित भरत क्षेत्र का चक्रवर्ती निर्मल सम्यक्त्व के अनुराग से अवलोकन कर पुष्पांजलि व अर्घ्य समर्पण करता है।

मध्यलोक के ऊपर ऊर्ध्वलोक है। इसमें सौधर्म-ईशान, सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लांतव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, आरण और अच्युत नामक १६ स्वर्ग हैं। वहाँ से नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान हैं। इनमें सौधर्म युगल में ३१, सनत्कुमार युगल में ७, ब्रह्म युगल में ४, लान्तव युगल में २, शुक्र युगल में १, शतार युगल में १, आनत युगल में ३, आरण युगल में ३, प्रत्येक तीनों ग्रैवेयक में ३-३, नव अनुदिशों में एक, पाँच अनुत्तरों में एक – ऐसे कुल ६३ पटल हैं।

इनमें स्वर्ग सम्बन्धी ८४ लाख ९७ हजार २३ विमान हैं। उन विमानों में उतनी ही संख्या में ८४,९७,०२३ प्रमाण सुवर्णमय अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं। १६ स्वर्गों के ऊपर एक रज्जु में नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पाँच अनुत्तर विमान हैं। तथा इसी के आगे १२ योजन अन्तर से ४५००००० योजन प्रमाण विस्तार वाली सिद्धशिला है। सिद्धशिला के ऊपर घनोदधि, घनवात और तनुवात नामक तीन वलय हैं। इनमें तनुवात में लोक के अन्त भाग में केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों सहित ऐसे अनन्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। स्वात्मोलब्धि को प्राप्त, आठ कर्मों से रहित, शान्तरूप निरंजन, नित्य, अष्टगुणों सहित, कृतकृत्य लोकाग्रवासी अनन्त सिद्ध भगवान शुद्ध जीव द्रव्य हैं।

इस जैन दर्शन के अनुसार यह लोक अनादि-निधन, शाश्वत, अकृत्रिम एवं षट्द्रव्यमयी है।

❐

३२४ दादू मार्ग, बरकत नगर, टोंक फाटक, जयपुर (राज.) ३०२०१५
फोन नं. – ०१४१-२५९२०६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्षमार्ग की द्विविधिता

❑ पण्डित मूलचंद लुहाड़िया

जैन साहित्य के प्रथम संस्कृत सूत्रग्रंथ मोक्षशास्त्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र "सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः" के द्वारा मोक्षमार्ग का वर्णन किया गया है। यह जीव बँधा हुआ है, परतंत्र है, इसी कारण दुःखी है। इस बंधन से मुक्त होने पर सुखी हो सकता है, इसलिए मोक्ष (मुक्तअवस्था) प्राप्त करने का पुरुषार्थ ही इस जीव का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। जीव के भौतिक बंधन यह देह और पुद्गलिक कर्म हैं, जो जीव को बलात् देह के बंधन में बाँधे रखकर कर्मों के फलों को भोगने के लिए विवश करते हैं।

इन भौतिक बंधनों के मूल कारण अंतरंग बंधन वैचारिक बंधन है। उन वैचारिक बंधनों की ओर इस जीव का प्रायः ध्यान नहीं जाता है। वस्तुतः इस जीव को भौतिक बंधन भी वैचारिक बंधन के अस्तित्व में ही दुःखी कर पाते हैं। वैचारिक असमीचीनता ही वैचारिक बंधन है। जीव की अंतरंग अथवा वैचारिक परिणति श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के रूप में तीन प्रकार की होती है, श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की मिथ्या परिणति बंधन है। दुःख का कारण है और श्रद्धा चारित्र की समीचीन परिणति बंधनमुक्ति (मोक्ष) का कारण है।

आचार्य उमास्वामी महाराज ने मोक्षमार्ग शब्द का एक वचनात्मक प्रयोग कर एक ही मोक्षमार्ग है, ऐसा कहा है, किन्तु आचार्य अमृतचन्द्र ने मोक्षमार्ग को दो प्रकार का बताया है –

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो: द्विधा स्थिता।
तत्रादौ साध्यरूपं स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम्॥

इसी बात को छहढालाकार पं. दौलातरामजी ने इस प्रकार कहा है –

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् रत्नत्रय की एकतारूप मोक्षमार्ग वस्तुतः एक प्रकार का ही है। दो प्रकार के मोक्षमार्ग का प्ररूपण दो अलग-अलग मार्ग होने की दृष्टि से नहीं किया गया है, किंतु रत्नत्रय की आंशिक एवं पूर्ण अवस्था को दृष्टि में रखकर दो भेदों का प्ररूपण किया गया है। यद्यपि मोक्षमार्ग तो रत्नत्रय की एकता के रूप में एक ही है, तथापि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति से लेकर पूर्णता को प्राप्त होने तक के काल में रहने वाले अपूर्ण रत्नत्रय को व्यवहार-रत्नत्रय या व्यवहार मोक्षमार्ग कहा गया है और रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त होने पर तुरंत मोक्ष को प्राप्त करा देनेवाले पूर्ण रत्नत्रय को निश्चय मोक्षमार्ग बताया गया है। व्यवहार और निश्चय एक ही रत्नत्रय की पूर्वोत्तर अवस्थाएँ हैं। रत्नत्रय के सत्यार्थ रूप को अर्थात् उसके पूर्ण रूप को निश्चय मोक्षमार्ग और उस पूर्ण रूप के कारणभूत अपूर्ण रत्नत्रय को व्यवहार मोक्षमार्ग बताया गया है। इस प्रकार रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग एक होते हुए भी पूर्वोत्तर अवस्थाओं के भेद को दृष्टि में रखकर दो प्रकार का निरूपण किया गया है। व्यवहार मोक्षमार्ग एवं निश्चय मोक्षमार्ग में साधनसाध्य अथवा कारण-कार्य संबंध है। निश्चय रत्नत्रय प्राप्त होते ही तुरंत मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यही मोक्षमार्ग का अथवा रत्नत्रय का सत्यार्थ या पूर्ण रूप है। इस सत्यार्थ रूप निश्चय या पूर्ण रत्नत्रय की प्राप्ति का कारणभूत वह उत्पत्ति से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकर पूर्णता को प्राप्त होने के काल तक पाया जाने वाला व्यवहार रत्नत्रय है। यद्यपि व्यवहार रत्नत्रय से तुरंत मोक्ष प्राप्त नहीं होता है तथापि व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय से तुरंत मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसलिए व्यवहार रत्नत्रय भी मोक्ष के साक्षात् कारण का कारण होने से मोक्ष का परम्परा कारण कहा जाना चाहिए।

व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को वीतराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी कहते हैं। रत्नत्रय की अपूर्ण दशा में आत्मा में संज्वलनजनित, प्रत्याख्यानावरणजनित अथवा अप्रत्याख्यानावरण जनित रागभाव रहता है, अत: उस समय रागभाव सहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रहते हैं। रत्नत्रय की पूर्णता होने पर पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त हो जाती है अत: उस समय का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वीतराग नाम पा जाता है। रत्नत्रय के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप तीन भेद, व्यवहार या सराग दशा में ही अनुभव में आते हैं, किंतु सम्पूर्ण कषायों के अभाव से उत्पन्न वीतराग दशा प्राप्त हो जाने पर भेद का विकल्प ही अनुभव में नहीं रहता। अत: वीतराग या निश्चय रत्नत्रय को अभेद रत्नत्रय एवं सराग या व्यवहार रत्नत्रय को भेद रत्नत्रय भी कहते हैं।

इस प्रकार जिनागम में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप एक ही मोक्षमार्ग का अनेकांत का सहारा लेकर व्यवहार-निश्चय, सराग-वीतराग, भेद-अभेद, कारण-कार्य के रूप में दो रूप वर्णन किया गया है।

कुछ स्वाध्याय शील सज्जन जिनागम के उपर्युक्त अनेकांतात्मक उल्लेखों की अनदेखी करते हुए अपनी एकांत धारणाओं को पुष्ट करते हुए निम्न धारणाएँ रखते हैं –

१. निश्चय सम्यग्दर्शन पहले होता है, व्यवहार सम्यग्दर्शन बाद में होता है।

२. व्यवहारसम्यग्दर्शन वास्तव में सम्यग्दर्शन ही नहीं है।

३. शुभराग रूप देशव्रत अथवा महाव्रत धर्म नहीं है। इनको धर्म मानना मिथ्यात्व है।

आगम में व्यवहार-निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का विश्लेषण किया गया है। निश्चय रत्नत्रय का छहढालाकार ने निम्न प्रकार वर्णन किया।

परद्रव्यनतैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है।
आपरूप को जानपनों सो सम्यग्ज्ञान कला है।
आपरूप में लीन रहे थिर सम्यकचारित्र सोई।
अब व्यवहार मोक्ष मग सुनिए हेतु नियत को होई॥

परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मतत्त्व के प्रति रुचि होना निश्चय सम्यग्दर्शन है। अपने आत्मा को जानना निश्चय सम्यक् चारित्र है, उक्त निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति स्वयं की आत्मा में पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त नहीं होने तक नहीं हो सकती। कुन्दकुन्द के आध्यात्मिक ग्रंथों के द्वितीय टीकाकार आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने कहा है कि वीतराग अथवा निश्चय सम्यग्दर्शन वीतराग चारित्र का अविनाभावी है। अर्थात् वीतराग चारित्र के धारक मुनि महाराज को ही वीतराग (निश्चय) सम्यग्दर्शन होता है। आगे छहढालाकार ने व्यवहार सम्यक्त्व का, जो निश्चय सम्यक्त्व का कारण है, स्वरूप बताते हुए बताया है कि सात तत्त्वों के समीचीन स्वरूप की श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है। व्यवहार सम्यग्दर्शन के साथ अनंतानुबंधी कषाय के अनुदय के कारण होनेवाले स्थूल सदाचरण के रूप में सम्यक्त्वाचरण भी प्रकट होता है। अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण कषायों के क्षयोपशम से क्रमश: पाँच पापों के सर्वथा त्यागरूप महाव्रत, गुप्ति, समिति आदि प्रकट होते हैं, जिन्हें व्यवहार सम्यक्त्वचारित्र कहा जाता है। व्यवहार रत्नत्रय की चरमदशा में वीतराग अवस्था में, निश्चय रत्नत्रय प्रकट होता है जो शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करा देता है।

❐

– जिनभाषित से साभार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन का पुनरावलोकन

❑ डॉ. नारायणलाल कछारा

जीवन और जगत के प्रति जिज्ञासा मानव मन में प्रारंभ से रही है। इस जिज्ञासा ने मानव चिंतन को सत्य की खोज करने हेतु प्रेरणा प्रदान की। सत्यपरक इस चिंतन को दर्शन कहा गया है। जीवन और जगत के गंभीर रहस्य को समझना दर्शन की अपनी विशेषता है। मानव-बुद्धि का जितना भी चिंतन है वह सभी दर्शन के अन्तर्गत आता है। फिर भी व्यवहारिक दृष्टि से इस चिंतन के भेद किये गये हैं। जीवन प्रधान चिंतन को दर्शन कहा गया है और भौतिक जगत प्रधान चिंतन को विज्ञान कहा गया है। यह ज्ञान का व्यावहारिक वर्गीकरण है, वस्तुतः विज्ञान को दर्शन से पृथक नहीं किया जा सकता क्योंकि जीवन का संबंध जगत से भी है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से विज्ञान ने विश्व को तीन भागों में विभक्त किया है। भौतिक (Physical), प्राण संबंधी (Biological) और मानसिक (Mental)। इन तीनों शाखाओं का ज्ञान ही आधुनिक विज्ञान का क्षेत्र है।

विश्व में दर्शन का जो विकास हुआ है उनमें कुछ जीवन प्रधान हैं और कुछ में दोनों जीवन और जगत संबंधी चिंतन का समावेश है। प्राचीन दर्शनों में भारतीय और यूनानी दर्शन आते हैं, यूरोपीय और पाश्चात्य दर्शन का विकास लगभग आधुनिक विज्ञान के विकास के साथ-साथ हुआ है और अतः उसमें विज्ञान का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। भारतीय और यूनानी दर्शन में भी वैज्ञानिक चिंतन का प्रवेश है परन्तु इसका प्रभाव सर्वत्र एक सा नहीं है। भारतीय दर्शन की एक विशिष्टता यह रही है कि सभी दर्शनों ने (चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त) परोक्ष या अपरोक्ष रूप से आत्म तत्त्व को मान्यता प्रदान की है। आत्मा की खोज ही जीवन का लक्ष्य माना गया है। जैन दर्शन में आत्मा को स्वतंत्र तत्व माना गया है और अन्य दर्शनों में आत्मा को परम शक्ति ईश्वर या ब्रह्म का अंश माना गया है। इस प्रकार की अवधारणा भेद इस लक्ष्य को प्रभावित नहीं करता कि जीवन का लक्ष्य आत्म-परिष्कार और आत्म कल्याण ही है। परन्तु जैन दर्शन अन्य दर्शनों से इस दृष्टि से भिन्न है कि जैन दर्शन में आत्म-परिष्कार का समस्त पुरुषार्थ जीव को स्वयं ही करना होता है कोई अन्य शक्ति उसकी सहायता नहीं कर सकती, जबकि अन्य दर्शनों में ईश्वर या देव की कृपा भी जीव को सहायता कर सकती है। जीवात्मा की स्वतंत्र सत्ता की मान्यता ने जैन दर्शन को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया और जीव के समस्त व्यवहार को कार्य कारणवाद के आधार पर व्याख्यायित किया गया है। यह विशिष्टता जैन दर्शन को एक अलग श्रेणी में खड़ा करती है। विगत तीन-चार सदी में विज्ञान ने अभूतपूर्व प्रगति की है और विश्व के बारे में नवीन ज्ञान प्रस्तुत किया है। यह नवीन ज्ञान, दर्शन के सम्मुख चुनौती और अवसर दोनों ही प्रस्तुत करता है। चुनौती इसलिए कि दर्शन को इस वैज्ञानिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भी अपने को प्रमाणित करना होगा और अवसर इसलिए कि वैज्ञानिक ज्ञान की सहायता से पूर्व मान्यताओं की नवीन व्याख्या की जा सकती है। जैन दर्शन के क्षेत्र में हाल ही में कुछ ऐसे अध्ययन किए गये हैं जो जैन दर्शन की वैज्ञानिक श्रेष्ठता सिद्ध करने में सहायता करते हैं। प्रस्तुत लेख में पहले विश्व के प्रमुख दर्शनों की संक्षिप्त जानकारी दी गई है और फिर जैन दर्शन की विशेषताओं का वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शन –

भारतीय दर्शन की विचारधारा मूल रूप में एक होने पर भी विकास की दृष्टि से उसको दो भागों में विभक्त किया गया है -- वैदिक विचारधारा और अवैदिक (श्रमण) विचारधारा। दूसरे शब्दों में कहें तो पोथीवादी विचारधारा और अनुभववादी विचारधारा। वैदिक परम्परा वेदों को अपौरूषेय और ईश्वरवाणी मानती है, साथ ही वेद को अनादि भी स्वीकार करती है (जैन और बौद्धदर्शन ने वेद को पौरूषेय माना है) – यह पोथीवादी विचारधारा है। दूसरी अनुभववादी विचारधारा है। जैन दर्शन के जिन और बौद्धदर्शन के बुद्ध ने जो स्वयं अनुभव किया, उस अनुभूति की अभिव्यक्ति ही जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन है। चार्वाकदर्शन भी प्रत्यक्ष अनुभव को महत्व देता है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भारतीयदर्शन का विभाजन दूसरे प्रकार से भी किया है। आस्तिकदर्शन और नास्तिक दर्शन। आस्तिकदर्शन में वेद से संबंधित उपनिषद् और गीता के साथ ही सांख्य और योग, वैशेषिक और न्यायदर्शन एवं पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा दर्शनों का समावेश किया गया है। नास्तिक दर्शनों में चार्वाक, जैन और बौद्धदर्शनों का समावेश किया है।

भारतीय दर्शन का प्रारम्भ वैदिक युग से माना जाता है। उस युग का मानव यह जानना चाहता था कि सूर्य, चन्द्र, आकाश, जल और पृथ्वी आदि क्या है ? वेदों के पश्चात् उपनिषद् युग आता है। इस युग में मानव बहिर्मुख से अन्तर्मुख हो जाता है। वैदिक काल में विश्व के मूल कारण की अन्वेषणा भौतिक वस्तुओं से प्रारम्भ हुई थी। वह उपनिषद् काल में आत्मा और ब्रह्मा तक पहुँच गई। उपनिषद्दर्शन के अन्त में महाकाव्य काल आता है। उस युग का सबसे श्रेष्ठ ग्रंथ गीता है। गीता में ज्ञान-योग, कर्म-योग और भक्ति-योग का सुन्दर समन्वय है। भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन एकान्त रूप से भौतिकवादी दर्शन है।

सांख्य और योग ये दोनों दर्शन एक-दूसरे के पूरक हैं। सांख्य दर्शन का सृष्टि-विज्ञान बहुत प्रसिद्ध है। वह प्रत्यक्ष, अनुमान और शक्य प्रमाण को प्रमाण मानता है। उसमें कार्य-कारणवाद का विश्लेषण बड़े विस्तार के साथ किया गया है। मूल में सांख्यदर्शन परिणामवादी है। योगदर्शन मनोवैज्ञानिक पद्धति से चित्त की वृतियों का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत करता है। पतंजलि के पूर्व भी भारत में योग-विद्या थी। किन्तु पतंजलि के योग-सूत्र में तथा व्यास-भाष्य में जो विश्लेषण उपलब्ध होता है वैसा विश्लेषण पूर्व के ग्रंथों में नहीं मिलता। पंतजलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के ये आठ अंग बताये हैं। इन्हीं का विस्तार के साथ योग दर्शन में वर्णन है।

गौतम ऋषि ने प्रमाण और प्रमेय का न्याय-सूत्र में मुख्य रूप से वर्णन किया है। प्रमाण-शास्त्र, ईश्वरवाद, और सृष्टि-कतृत्ववाद, ये न्यायदर्शन की विशेषता है। कणाद ऋषि ने वैशेषिकदर्शन में सप्त पदार्थो का विस्तार के साथ विश्लेषण कर पदार्थ विद्या को भारतीय दर्शन में एक गौरवमय स्थान प्रदान किया है। प्रमाण के संबंध में जितना विश्लेषण वैशेषिक दर्शनकार ने किया है, उतना प्रमेय के संबंध में नहीं। वैशैषिकदर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सात पदार्थो का विश्लेषण है। न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शनों में अपवर्ग और मोक्ष को माना गया है। इन पदार्थ और प्रमेयों के ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है और आत्मा मुक्त हो जाता है।

मीमांसादर्शन और वेदान्तदर्शन ये दोनों दर्शन वेदों से संबंधित हैं। वेदों के कर्म-काण्ड का निरूपण मीमांसादर्शन में और वेदों के ज्ञान-काण्ड का निरूपण वेदान्त-दर्शन में मिलता है। जैमिनि ने मीमांसासूत्र की रचना की और वादरायण ने वेदान्तसूत्र की। मीमांसादर्शन का मूल आधार वेद विहित कर्म, यज्ञ एवं याग है। वेदान्तदर्शन का मूल आधार ब्रह्म और माया है। बह्मा के साथ जहाँ तक माया का संबंध है, वहाँ तक संसार है। ब्रह्मा के अतिरिक्त इस संसार में जो कुछ भी है, वह मिथ्या है। वेदान्तदर्शन की यों तो अनेक शाखाएं और उपशाखाएं हैं किन्तु आचार्य शंकर के पश्चात् वह अद्वेत वेदान्त के नाम से अधिक विश्रुत हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शनों ने आत्मा को माना है और आत्म-तत्व की अपनी-अपनी दृष्टि से सिद्धी भी की है। आत्मा की सत्ता के संबंध में मतभेद नहीं है, हाँ आत्मा के स्वरूप के संबंध में अवश्य ही विचार-भेद रहा है। आत्म-तत्व के साथ कर्मवाद और परलोक की मान्यता जुड़ी हुई है। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों ने कर्मवाद और परलोक को माना है। बौद्धदर्शन ने आत्मा को स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कंधों के समुदाय का नाम आत्मा है। प्रत्येक आत्मा नाम रूपात्मक है। यहाँ रूप से तात्पर्य शरीर के भौतिक भाग से है और नाम से तात्पर्य मानसिक प्रवृतियों से है। वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये नाम के भेद हैं। इन पाँच स्कंधों की परंपरा निरन्तर चलती रहती है, अतः आत्मा के अभाव में भी जन्म, मरण और परलोक की व्यवस्था बन जाती है।

भारत में वेदान्त दर्शन का चरम विकास मध्य युग में हुआ। उसके पश्चात् भक्त संप्रदायों ने जन्म लिया जिससे भारतीय दर्शन कर्मयोगी और ज्ञानयोगी न रहकर भक्तिवादी दर्शन हो गया। मुस्लिम शासकों के निरन्तर प्रहारो से हमारे दर्शन में नया मोड़ आया। संत कबीर ने चौदहवीं शताब्दी में सगुण पूजा का विरोध कर निर्गुण उपासना को महत्व दिया। इसका प्रभाव जैन परंपरा पर भी पड़ा और वीर लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा के विरोध में स्वर बुलंद किया। उसी के परिणामस्परूप स्थानकवासी संप्रदाय का जन्म हुआ। सौराष्ट्र के स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी मूर्ति-पूजा का विरोध किया जिसके फलस्वरूप आर्य समाज संस्था का प्रादुर्भाव हुआ। स्वामी विवेकानंद ने व्यवहारिक दर्शन को प्रस्तुत किया। पं. श्रीराम शर्मा ने वैज्ञानिक अध्यात्मवाद का प्रतिपादन किया।

विश्व के अन्य दर्शन –

यूनानीदर्शन भी विश्व का एक प्राचीन दर्शन है। इतिहासकार यूनानीदर्शन का प्रारंभ ई.पू. ७०० से ४०० तक मानते है। यूनानी दार्शनिकों की जिज्ञासा का मूल लक्ष्य था – उस सत्य-तथ्य की अन्वेषणा करना जिससे विश्व की सभी वस्तुएं निर्मित हुई हैं। यूनानीदर्शन में प्रमुख रूप से दो परम्पराएँ हैं – सुकरात से पूर्व और सुकरात से ऊतर। सुकरात से पूर्व यूनान में चार महान् दार्शनिक थे – भौतिकवादी थेल, बुद्धिवादी पाइथोगोरस, परिवर्तनवादी हेराक्लित और सोफीवाद। पाइथेगोरस दार्शनिक के साथ बहुत बड़ा गणितज्ञ भी था। उसे आत्मा की अमरता पर, कर्मो के फल पर और पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विश्वास था। पाइथोगोरस भारत में भी आया था और जैन धर्म के सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। परिवर्तनवादी हेराक्लित महावीर और बुद्ध के समय हुए थे। उनका मानना था कि जीवन परिवर्तनशील है और जगत की प्रत्येक वस्तु प्रतिपल -प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। हेराक्लित का परिवर्तनवाद बुद्ध के क्षणिकवाद और जैन दर्शन की पर्याय दृष्टि से मिलता-जुलता है। सोफी सन्त का सिद्धान्त था कि सत्य के दो भेद हैं – रूढ़ि और वास्तविक। रूढ़ि सत्य की अपेक्षा वास्तविक सत्य श्रेष्ठ हैं। उसे प्राप्त करना ही एक मात्र मानव-जीवन का लक्ष्य है। ये विचार वेदान्त के सत्ता के व्यवहारिक सत्ता और पारमार्थिकसकता, बुद्ध के संवृतिसत्य और परमार्थ सत्य और जैनदर्शन के व्यवहारनय और निश्चयनय से मिलते जुलते हैं। सुकरात ने यूनान में सर्वप्रथम यह उद्घोषणा की कि विज्ञान ही धर्म है अर्थात् जो कुछ भी विचार है वही आचार है। प्लेटो सुकरात का शिष्य था। उसका अभिमत था कि जब तक राज्य के शासनसूत्र दार्शनिकों के हाथों में नहीं आयेंगे तब तक समाज और राष्ट्र से अन्याय और अनीति दूर नहीं हो सकेगी। इसी विचार के आधार पर प्लेटो ने युटोपिया की कल्पना की। जिसका तात्पर्य था, दार्शनिकों का राज्य। प्लेटो का शिष्य अरस्तु था। वह सुकरात की तरह यथार्थवादी नहीं था और न प्लेटो के समान बुद्धिवादी ही, किन्तु वह वस्तुवादी था। वह दार्शनिक कम किन्तु वैज्ञानिक अधिक था। अरस्तु के पश्चात् यूनानी दर्शन की गति शिथिल हो गई।

हजरत मुहम्मद के जन्म से पहले अरब में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीन देवियां उपास्य थी। हजरत मुहम्मद ने कुरान का निर्माण किया और इस्लाम धर्म का प्रतिपादन किया। जब इस्लामिक दुनिया अरब से बाहर निकलने लगी, तब उन लोगों को यह अनुभव होने लगा कि उनके विचारों में और अन्य लोगों के विचारों में विषमता है। परिणामस्वरूप अरबी धर्म में अन्य नवीन सम्प्रदायों का जन्म हुआ-मोतजला सम्प्रदाय, करामी सम्प्रदाय और अशअरी सम्प्रदाय। मोतजला सम्प्रदाय से पहले जितने भी अरबी विचार हैं, उनमें तर्क को कहीं भी अवकाश नहीं है। केवल श्रद्धा की ही प्रमुखता है। इसलिए इन्हें दर्शन की अपेक्षा धर्म कहना अधिक तर्कसंगत है। विश्वासवादी अरबी धर्म में मोतजला सम्प्रदाय ने तर्क प्रविष्ट किया।

सूफी (यूनान का सोफी) सम्प्रदाय का प्रारंभ ७५० ईस्वी के आस-पास माना जाता है। इस्लामिक सूफीवाद नवीन अफलातूनी रहस्यवादीदर्शन तथा भारतीय योग-दर्शन का सम्मिश्रण है। सूफी दर्शन के अनुसार इन्सान खुदा का ही एक अंश है। खुदा में ही लीन होना इन्सान के जीवन का लक्ष्य है। ये विचार आचार्य शंकर के अद्वैतवाद से मिलते-जुलते हैं। वस्तुतः सूफी सम्प्रदाय धार्मिक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक है।

भारतीय और यूनानी दर्शन के समान यूरोपीय दर्शन में तत्व की मीमांसा उतनी नहीं है जितनी प्रमाण-मीमांसा है। एतदर्थ उसे दर्शन की अपेक्षा विज्ञान और तर्कशास्त्र कहना अधिक उपयुक्त है। कुछ चिन्तकों ने तत्व पर भी लिखा है पर तर्क और विज्ञान की अपेक्षा अल्पमात्रा में लिखा गया है। अरबी दर्शन के समान इसाई दर्शन भी पहले एक सम्प्रदाय विशेष था, दर्शन नहीं। यहूदी और ईसाई परस्पर अपनी श्रेष्ठता व ज्येष्ठता प्रमाणित करने के लिए संघर्ष करते रहे। चर्च धर्मस्थान की जगह संघर्ष के केन्द्र हो गये थे। इस दयनीय अवस्था को देखकर कुछ विचारकों ने धर्म की छाया में पलते हुए अंधविश्वासों का घोर विरोध किया। श्रद्धा के स्थान पर तर्क को महत्व दिया। यहीं से यूरोपीय दर्शन प्रारम्भ होता है। यूरोपीय दर्शन को चार युगों में विभक्त कर सकते हैं – (१) विज्ञानवाद, (२) सन्देहवाद, (३) भौतिकवाद, (४) मार्क्सवाद।

जैन दर्शन –

जैन दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है - आत्मा दुःख से मुक्त होकर अनन्त सुख की ओर बढ़े। जीव और पुद्गल इन दोनों का संबंध अनन्त काल से चला आ रहा है। पुद्गलों के बाह्य संयोग से ही जीव विविध प्रकार के कष्टों का अनुभव करता है। जीव और पुद्गल का जब तक संबंध विच्छेद नहीं होगा, तब तक आध्यात्मिक सुख सम्भव नहीं है। जीव और पुद्गल दोनों पृथक कैसे हो सकते हैं? इसके लिए सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मार्ग प्रस्तुत किया है। अहिंसा और अनेकांत जैनदर्शन के मुख्य सिद्धान्त हैं। विचार में अनेकांत और व्यवहार में अहिंसा आने से जीवन सुखी और शांत होता है। आत्मवाद, कर्मवाद, नयवाद, निक्षेपवाद, प्रमाणवाद, सप्तभंगी, अनेकांतवाद आदि जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्त हैं।

जैन दर्शन में जीव और पुद्गल दोनों पर गहन चिंतन हुआ है। जीवन और जगत के रहस्यों को गहराई से समझा गया है और दोनों के परस्पर संबंधों को उजागर किया गया है। जितना सूक्ष्म अध्ययन जीवन तत्वों का हुआ है उतना ही सूक्ष्म अध्ययन भौतिक तत्वों का भी हुआ है। लोक की संरचना के बारे में जो चिंतन जैन दर्शन में हुआ है वह मौलिक है। अपने विशिष्ट स्वभाव के होते हुए भी अनेकांत सिद्धान्त के द्वारा जैन दर्शन अन्य दर्शनों के प्रति समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। अपनी इन विशिष्टताओं के कारण जैन दर्शन विश्व के अन्य सभी दर्शनो से श्रेष्ठ सिद्ध होता है। जैन दर्शन की विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

१. अध्यात्मवाद –

जैन दर्शन में आत्मा की स्पष्ट अवधारणा है। आत्मा को एक अजर, अमर, अनंत शक्ति संपन्न, अनंत ज्ञान-दर्शन युक्त चेतन सत्ता माना गया है। पुद्गल के संयोग से जीवात्मा लोक में विभिन्न पर्याय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में परिभ्रमण करती है। सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के बल से पुद्गलों को पृथक कर जीवात्मा मुक्त होकर परमात्म अवस्था प्राप्त कर सकती है। मुक्त अवस्था में भी आत्मा अपना अस्तित्व बनाये रखती है और अनंत सुख, अनंतज्ञान और अनंत वीर्य का बोध करती है। अशुद्ध अवस्था में जीवात्मा पुद्गल के प्रभाव से पर्याय परिवर्तन करती रहती है और इस प्रकार जन्म-मरण के चक्र से युक्त होती है। अपने कर्मों के अनुसार जीवात्मा मध्य लोक, उर्ध्वलोक या अधोलोक में जन्म लेती है और अपने पुरुषार्थ से उपयोग के द्वारा भावी जीवन का निर्माण करती है। जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन कहना सत्य से परे है। जैन दर्शन ने सृष्टिकर्ता के रूप में किसी ईश्वरीय शक्ति को मान्यता तो नहीं दी परन्तु यह स्पष्ट अवधारणा प्रस्तुत की कि कोई भी जीवात्मा अपने पुरुषार्थ से परमात्मा अवस्था प्राप्त कर सकती है। आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म सिद्धान्त और परमात्मा की मान्यता के होते हुए जैन दर्शन को आस्तिक दर्शन ही कहा जा सकता है, नास्तिक नहीं।

कर्म सिद्धान्त की मान्यता जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य भारतीय दर्शन में भी है परन्तु कर्म सिद्धान्त का जो वैज्ञानिक स्परूप जैन दर्शन में प्राप्त होता है वह अन्य दर्शनों में नहीं होता। जैन दर्शन के अनुसार योग और कषाय के प्रभाव से जीवात्मा लोक में व्याप्त पुद्गल कर्म वर्गणाओं को आकर्षित करता है और योग और कषाय की प्रवृत्ति के अनुसार ये कर्म वर्गणाएं कर्म बंध के रूप में जीवात्मा से श्लिष्ट हो जाती हैं। ये बंध कर्म ही जीवात्मा के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं और जीवात्मा उनके प्रभाव से विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है। बंध कर्म जीवात्मा के कार्मण शरीर की रचना करते हैं जो सूक्ष्म रूप में सदा जीवात्मा के साथ बना रहता है। सम्यक् पुरुषार्थ से कर्मो का क्षय होने पर ही कार्मण शरीर जीवात्मा से पृथक होता है और तब जीवात्मा मुक्त होकर परमात्मा हो जाता है। नवीन वैज्ञानिक शोध से भी कार्मण शरीर की अवस्थिति सिद्ध होती है और इस प्रकार कर्म सिद्धांत वैज्ञानिक धरातल पर प्रमाणित हो जाता है। कर्म सिद्धान्त का यह वैज्ञानिक स्वरूप जैन दर्शन को अन्य दर्शनों की तुलना में एक विशिष्ट स्थान प्रदान करता है।

जैन दर्शन आत्म परिष्कार का एक वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार योग और कषाय के प्रभाव से जीवात्मा के कर्म बंध होता है उसी प्रकार शुभ योग और कषाय रहित व्यवहार से बंध-कर्मो को जीवात्मा से पृथक किया जा सकता है। ऐसा व्यवहार ही आत्म-साधना कहा जाता है। महापुरूषों ने आत्म-साधना की विधियाँ खोज निकाली है जिनको अपनाने से कोई भी जीवात्मा संचित कर्मो का क्षय कर सकता है और कर्म बंध से मुक्त हो सकता है। कर्म क्षय की प्रक्रिया उतनी ही वैज्ञानिक है जितनी कर्म बंध की। घाति कर्मो के क्षय से जीवात्मा केवल ज्ञानी हो जाता है और अघाति कर्मो के भी क्षय होने पर जीवात्मा मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा बन जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी अब आत्म चेतना की पुष्टि करता है और विज्ञान भी इसी दिशा में आगे बढ़ रहा है।

२. लोक की सृष्टि में आधारभूत अमूर्तिक द्रव्य –

जैन दर्शन में लोक को षट्द्रव्यों से बना माना गया है - धर्मास्तिकाय (धर्म) अधर्मास्तिकाय (अधर्म) जीव, पुद्गल (अजीव) आकाश और काल। धर्म, अधर्म, आकाश और काल अमूर्तिक द्रव्य हैं परन्तु लोक रचना में आवश्यक हैं। धर्म गति सहायक द्रव्य है और अधर्म स्थिति सहायक द्रव्य है। ये द्रव्य जैन दर्शन की मौलिक देन हैं जो विश्व के किसी अन्य दर्शन में नहीं है। धर्म और अधर्म की परिकल्पना जैन दार्शनिकों के सूक्ष्म चिंतन का परिचायक है। धर्म द्रव्य का इथर के रूप में विज्ञान द्वारा मान्यता दी गई थी परन्तु इस विषय पर वैज्ञानिक और दार्शनिक अभी एकमत नहीं है। आकाश और काल की मान्यता भी जैन दर्शन की विशिष्ट अवधारणा है।

आकाश एक अनंत, शाश्वत, अमूर्तिक द्रव्य है जो लोक के अन्य सभी द्रव्यों का अवगाहना प्रदान करता है। आकाश के जिस भाग में अन्य पांच द्रव्य रहते हैं उसे लोक कहा गया है। यह लोक विशाल होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए भी अनंत आकाश में एक छोटे बिन्दु के समान है *अर्थात् लोक से परे अनंत आकाश का विस्तार माना* गया है। जैन दर्शन में लोक का एक निश्चित आकार और घनफल माना गया है। यह अवधारणा भी जैन दर्शन की मौलिक देन है। कालद्रव्य के दो भेद हैं - निश्चयकाल और व्यवहार काल या समय। निश्चय काल अन्य द्रव्यों को परिणमन में उदासीन सहायक है और व्यवहार काल या समय परिणमन की सूचना देता है। व्यवहार काल की स्थिति लोक के एक सीमित क्षेत्र में ही मानी गई है परन्तु निश्चयकाल लोक में सर्वत्र विद्यमान है। काल की यह अवधारणा भी जैन दर्शन की विशेषता है।

३. जीव विज्ञान –

जैन दर्शन के अनुसार जीवों की दो श्रेणी हैं स्थावर और त्रस। स्थावर जीवों में हलन-चलन की क्षमता नहीं होती और त्रस जीव हलन-चलन की क्षमता से युक्त होते हैं। त्रस जीव इस क्षमता से अपनी सुरक्षा करने में सक्षम होते हैं और आहार आदि आवश्यकताओं के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान गति कर सकते हैं। स्थावर जीव पांच प्रकार के हैं – जलकाय, वायुकाय, पृथ्वीकाय, अग्निकाय और वनस्पतिकाय। प्रथम चार प्रकार के जीव इतने सूक्ष्म है कि वे केवल केवलज्ञानगम्य हैं और अप्रतिघाती हैं। वनस्पतिकाय जीव तृण, हरित, लता, पोधे, वृक्ष आदि रूपों में पाए जाते हैं। वनस्पति को जैन दर्शन में प्रारम्भ से ही जीव माना गया जो बाद में विज्ञान द्वारा भी प्रमाणित किया गया। स्थावर जीवों में केवल एक ही इन्द्रिय संज्ञा स्पर्श रूप में पाई जाती है। विज्ञान ने भी वायरस के रूप में सूक्ष्म जीवों की खोज की है और कुछ वायरस प्रजाति के जीवों को पादप की श्रेणी में रखा है। यह जैन दर्शन की अवधारणा जहाँ सूक्ष्म निगोदिया जीवों को वनस्पति की श्रेणी में रखा गया है कि वैज्ञानिक पुष्टि करता है।

त्रस जीव द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुर्न्द्रिय और पंचेन्द्रिय होते हैं। यह जीव विकास का एक क्रम है जिसमें क्रमशः रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय का विकास होता है। पंचेन्द्रिय जीवों का और आगे विकास होने पर मन के रूप में संकल्प-विकल्प की क्षमता प्राप्त हो जाती है। विज्ञान ने भी जीव विकास के क्षेत्र में बहुत अनुसंधान किया है। डारविन ने जीवविकास के लिए स्वाभाविक वरण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसके अनुसार एक कोशीय जीव अमीबा से प्रारम्भ होकर हाइड्रा, मछली, मेंढक, सर्पणशील पक्षी, स्तनधारी जीव आदि के विकास पथ से बात बंदर तक पहुँची और फिर वही बंदर प्रागेतिहासिक मानव रूप में परिवर्तित हुआ। इस विकास क्रम में कई विसंगतियां और विरोधाभास हैं और यह जैन दर्शन से पूर्णतया मेल नहीं रखता। संभव है कि चतुर्न्द्रिय जीवों के विकास तक (या असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक) डारविन का सिद्धान्त ठीक हो परन्तु आगे का विकास क्रम स्वाभाविक वरण के सिद्धान्त के अनुसार नहीं हो सकता। चतुर्न्द्रिय जीव स्तर तक जीवों के भोग योनि होती है परन्तु पंचेन्द्रिय जीवों में मन का विकास होने पर जीव विवेकपूर्ण कार्य करने में सक्षम हो जाते हैं और फिर स्वाभाविक वरण का सिद्धान्त सफल नहीं हो सकता।

विज्ञान की परिकल्पना शारीरिक विकास तक सीमित है। जैन दर्शन शारीरिक विकास के आगे मानसिक विकास और भावनात्मक विकास की कल्पना प्रस्तुत करता है। जीव अपने पुरुषार्थ से मानसिक और भावनात्मक विकास करते हुए परमविकास की अवस्था पर पहुँच कर अपने निज आत्म स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

४. विज्ञानवाद –

जैन दर्शन पदार्थ का सूक्ष्मतम् अंश परमाणु पुद्गल के रूप में प्रस्तुत करता है। यह परमाणु पुद्गल विज्ञान में ज्ञात परमाणु से बहुत भिन्न है। जैन दर्शन के अनुसार अनंत परमाणु पुद्गल का समूह मिलकर एक स्कंध का निर्माण करते हैं। ऐसा ही स्कंध वास्तव में विज्ञान का परमाणु हैं। यह विज्ञान के उस सिद्धान्त के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुरूप है जिसके अनुसार एक अणु के नाभिक के विखण्डन से प्रचण्ड ऊर्जा प्राप्त हो सकती है। जैन दर्शन में इसी सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि अनंत परमाणुओं की प्रचण्ड ऊर्जा से एक सूक्ष्म स्कंध (परमाणु) की रचना होती है।

जैन दर्शन के अनुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य का गुण है। यह एक बहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्त है और अजीव तथा अन्य द्रव्यों में परिवर्तन की सम्पूर्ण व्याख्या करता है। इसके अनुसार सभी द्रव्यों में समय के साथ पर्याय परिवर्तन होता रहता है। अन्य दर्शनों में इसी सिद्धान्त को क्षणिकवाद और भौतिकवाद कहा गया है। पर्याय परिवर्तन होते हुए भी द्रव्य के मौलिक स्परूप और गुणों में परिवर्तन नहीं होता। यह सिद्धान्त लोक के समस्त पदार्थो में कार्य करता हुआ देखा जा सकता है। जैन दर्शन में पदार्थ और ऊर्जा को एक ही प्रकार के द्रव्य के रूप में लिया गया है और इस वास्तविकता को विज्ञान पिछली शताब्दी में ही जान सका।

विज्ञान के अनुसार ब्रह्माण्ड में असंख्य निहारिकाएं है जो परिभ्रमण करती रहती है। प्रत्येक निहारिका में करोड़ो तारे हैं तथा उनके ग्रह, उपग्रह हैं। जैन दर्शन के अनुसार यह केवल मध्यलोक का चित्र है। इसके अतिरिक्त लोक में उर्ध्वलोक और अधोलोक हैं। सम्पूर्ण लोक का एक निश्चित आकार और घनफल है। लोक का आकार ऐसा है जिसमें आइन्स्टीन के सामान्य सापेक्षता सिद्धान्त का प्रभाव भी अन्तर्निहित प्रतीत होता है। जैन दर्शन के अनुसार यह लोक अकृत्रिम और अनादि निधन है यह किसी ईश्वरीय शक्ति द्वारा रचित नहीं है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्धान्त के अनुसार लोक में स्थानीय परिवर्तन होते रहते हैं और यह सम्भव है कि कुछ आकाशीय पिण्ड नष्ट होकर दूसरे पिण्ड की उत्पत्ति करे। ऐंसी ही एक घटना को यदि वैज्ञानिक महा विस्फोट (बिग बैंग) कहें तो जैन दर्शन का कोई विरोध नही। स्थानीय होते हुए भी पूर्ण लोक में स्थायित्व है और उसका आकार और घनफल अपरिवर्तित रहता है।

५. अनेकांतवाद –

जैन दर्शन मानता है कि प्रत्येक वस्तु अनंत गुणात्मक है और सभी गुणों का वर्णन एक साथ करना संभव नहीं है। वस्तु के गुणों का वर्णन यदि अलग-अलग किया जाय तो ऐसे वर्णनों में कोई विरोध नहीं है बल्कि वे एक दूसरे के पूरक हैं और एक ही सत्य के अंश हैं। यह सिद्धान्त विश्व के प्रचलित और देखने में विरोधी लगने वाले विचारों का समन्वय करने का एक महत्वपूर्ण सूत्र है। हम सब मानव अपूर्ण है और पूर्ण सत्य को देखने में अक्षम हैं। किसी वस्तु या तथ्य के बारे में हमारे दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होते हुए भी उनमें सत्य का अंश हैं और हमें इन सभी दृष्टिकोणों का विरोध न करके सम्मान करना चाहिए। इस प्रकार अनेकांत का सिद्धान्त सम्प्रदाय, समाज, राष्ट्र और विश्व में शांति और सौहार्द्र स्थापित करने में सहायक है। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि हमारे विचार सापेक्ष हैं, हम निरपेक्ष सत्य को जानने में असमर्थ हैं।

आइन्स्टीन ने उपरोक्त विचार को ही भौतिक जगत में सापेक्षता के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। यह उनकी महान उपलब्धि थी जिसने वैज्ञानिक दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन किया परन्तु यह सिद्धान्त जैन दर्शन के लिए नया नहीं है जैन दर्शन में यह सिद्धान्त भौतिक जगत तक ही सीमित नहीं है बल्कि मानव के समस्त व्यवहार क्षेत्र में इसका उपयोग हुआ है।

उपरोक्त पंक्तियों में जैन दर्शन की विशेषताओं का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। यह आवश्यक है कि हम जैन दर्शन का पुनरावलोकन करते रहे। जैसे-जैसे विज्ञान प्रगति करेगा, जैन दर्शन का वैज्ञानिक स्वरूप निखरता रहेगा। जीवन और जगत दोनों ही क्षेत्र में जैन दर्शन की श्रेष्ठता असंदिग्ध है। ❐

सचिव, धर्म दर्शन सेवा संस्थान
५५, रवीन्द्र नगर, उदयपुर -३१३००३
(राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन कर्मबन्ध प्रक्रिया

❑ डॉ. शीतल चन्द्र जैन

जैन दर्शन के अनुसार यह विश्व छह द्रव्यों का समुदायरूप है, इसमें जीव द्रव्य अमूर्तिक होते हुए भी पुद्गल के सम्पर्क से कथंचित् मूर्तिक भी माना जाता है और पुद्गल द्रव्य तो मूर्तिक ही है। विकृति भी इन दोनों के परस्पर संयोग के निमित्त से होती है। जिनागम में यह स्पष्ट वर्णित है कि जीव को अपने परिणामों के निमित्त से कर्म बन्ध होता है और कालान्तर में उन्हीं कर्मों के उदय के अनुसार संसारी जीव का परिणमन होता है। शुभ-अशुभ कर्म के आगमन को आस्रव कहते हैं और आने वाले कर्म का आत्मा के साथ परस्पर मिल जाना बन्ध है। जैन दर्शन में कर्म बन्ध की प्रक्रिया का सूक्ष्म वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इस संबंध में जैनाचार्यों ने जितनी गवेषणा की है उतनी कहीं और नहीं है। कर्म कराने के लिए और उसका फल निर्धारित करने, देने के लिए जिनके पास ईश्वर का सहारा था, उन्हें ऐसी गवेषणाओं की शायद आवश्यकता भी नहीं थी। जैन दर्शन के अनुसार कर्म के द्रव्य को चार विशेषताओं के साथ कहा है। कर्म का द्रव्य ही प्रदेश है, उसकी जाति स्वभाव ही प्रकृति है। वह कितने समय के लिए बंधता है, यह उसकी स्थिति है। और उसमें जीव को फल देने की जो शक्तियाँ हैं, उन्हें अनुभाग कहा जाता है। प्रत्येक कर्म में आगमन से लेकर फल देकर झड़ जाने तक ये चारों गुण अनिवार्य रूप से रहते हैं।

प्रस्तुत आलेख में कर्मबन्ध की प्रक्रिया -- यह प्रमुख रूप से विचारणीय है। वस्तुत: करुणानुयोग के अनुसार यदि देखा जाये तो जीव में कर्मबन्ध करने के लिए योग और कषाय -- ये दो शक्तियाँ प्रमुख होती हैं। योग से प्रकृति, प्रदेश बन्ध तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है। यह जीव योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध को तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध को करता है, किन्तु जो जीव योग और कषाय रूप से परिणमित नहीं है और जिनके योग और कषाय का उच्छेद हो गया है, उनके कर्म बन्ध की स्थिति का अन्य कारण नहीं पाया जाता अर्थात् जहाँ योग और कषाय नहीं है, वहाँ कर्म बन्ध भी नहीं है। चारों बन्ध में मिथ्यात्व की कारणता का विधान नहीं है। तब मिथ्यात्व को बन्ध के कारणों में क्यों गिनाया गया है। स्पष्ट है कि मिथ्यात्व मोह कर्म में सर्वश्रेष्ठ स्थान रखता है, तथापि वह अकेला न रहकर अनन्तानुबन्धी कषाय के साथ है, इसलिए योग के बिना कर्म जीव की ओर आकर्षित नहीं होता और कषाय के बिना वह आत्मा के साथ ठहर नहीं सकता। इसप्रकार देखा जाये तो योग और कषाय -- ये दोनों ही जीव को कर्म के साथ अनुबन्धित करने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

जीव के मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियों को योग कहते हैं और उसकी चेतना में उठने वाली विकार की तरंगों का नाम ही कषाय है। इनमें से संसार का कोई भी प्राणी एक क्षण के लिए भी योग को रोक नहीं सकता। शरीर है तो उसमें हलन-चलन होगा ही, वाणी है तो प्रगट/अप्रकट उसका कार्य होता ही रहेगा और मन के बारे में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। होश में और बेहोश में, उठते-बैठते, सोते-जागते सब समय स्थूल या सूक्ष्म रूप से हमारी इन तीन शक्तियों का सक्रियपना तो होता ही रहता है। फल स्वरूप आस्रव उसका आना भी लगातार हर समय होता रहता है।

कषाय मेरे मानसिक विकारों का नाम है, वे भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरन्तर मेरे भीतर विद्यमान रहते हैं। कभी तीव्र, कभी मन्द, कभी ज्ञात रूप में, कभी अज्ञात रूप में, कभी शुभ जाति के, कभी अशुभ जाति के, राग-द्वेष, बैर-प्रीति आदि दूषित मनोवृत्तियों के सम्मिलन से मेरी चेतना में जो प्रदूषण उत्पन्न होता है, उसी का नाम कषाय है। इस प्रकार योग और कषाय दोनों मेरे साथ अनवरत रूप से लगे हुए हैं और इसी का फल है कि प्राणी निरन्तर कर्म का बन्ध करता रहता है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने कर्म बन्ध की प्रक्रिया में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग – ये पाँच बन्ध के कारण बतलाये हैं। उक्त बन्ध के हेतुओं में गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा संख्या २५७, २९६ में 'जोगा पयडिपएसा' इत्यादि के अनुसार यह जीव योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध को तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध को करता है, किन्तु जो जीव योग और कषाय रूप से परिणमित नहीं है और जिनके योग और कषाय का उच्छेद हो गया है, उनके कर्म बन्ध की स्थिति का अन्य कारण नहीं पाया जाता है। इसका अर्थ है कि जहाँ योग और कषाय नहीं हैं वहाँ कर्म बन्ध भी नहीं है अर्थात् चारों बन्ध में मिथ्यात्व की कारणता का विधान नहीं है।

इसी बात को सिद्ध करने के लिए तत्त्वार्थ-राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक में भी कषाय को ही बन्ध का हेतु माना है। अब प्रश्न है कि जब चारों प्रकार के बन्ध में मिथ्यात्व कारण नहीं है तो वह क्या करता है। इसका उत्तर है कि मिथ्यात्व प्रकृति मोह कर्म में अपना सर्वश्रेष्ठ महत्व रखती है। अनादि से अब तक के अनन्त संसार में जीव का भ्रमण इसी मिथ्यात्व प्रकृति के कारण है तथापि वह अकेली नहीं रहती, अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय का भी उसके साथ पूर्ण सहयोग है, परन्तु कषाय (मिथ्यात्व) का काम स्थिति-अनुभाग रूप है, दोनों का कार्य विभाजन है, तभी वे दो हैं। यदि दोनों का कार्य एक ही प्रकृति कर सकती तो दोनों एक ही हो जाती दो नहीं रहती। मिथ्यात्व का कार्य अतत्त्व-श्रद्धानरूप परिणाम बनाना है। पण्डित टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक में मिथ्यात्व और कषाय का सामान्यपने एक नाम कषाय कहा है, उन्होंने स्पष्ट कहा है जिनको बन्ध न करना हो वो कषाय मत करो। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है, जबकि कषाय की नहीं, तब मिथ्यात्व में इतनी स्थिति कौन डाल सकता है। इस संबंध में आचार्य वीरसेन स्वामी ने उत्तर दिया है कि मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति भी तीव्र कषाय परिणामों से होती है।

इसी प्रकार धवल पुस्तक १२/२८८/१४ में भी बन्ध के चार भेदों में योग और कषाय इन दो प्रत्ययों से चारों प्रकार का बन्ध माना है अर्थात् स्थिति और अनुभाग का कारण कषाय स्वीकारा है और प्रकृति और प्रदेश बन्ध में योग को स्वीकारा है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति में मिथ्यात्व को तोड़ना आवश्यक है, परन्तु उसका टूटना अनन्तानुबन्धी के मन्दोदय (विशुद्धि) के बिना नहीं होता। प्रथमोशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में जो पाँच लब्धियाँ कही गई हैं उनके वर्णन से स्पष्ट है कि अनन्तानुबन्धी के मन्दोदय (विशुद्धि) से ही मिथ्यात्व की स्थिति तथा ज्ञानावरणादि अन्य कर्मों की स्थिति भी केवल अन्त:कोड़ाकोड़ी रह जाती है, तभी वह प्रायोग्य लब्धि कहलाती है और इस विशुद्धि को ही विशुद्धि लब्धि कहते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व को तोड़ना है तो उसके पहले अनन्तानुबन्धी कषाय को मन्द करना होगा। कषाय की तीव्रता में किन्हीं भी प्रकृतियों की न स्थिति घटेगी और अनुभाग घटेगा। अत: यह स्पष्ट है कि कर्म बन्ध की प्रमुख भूमिका कषाय और योग निवर्हन करते हैं और कषायोत्पत्ति का मुख्य कारण विपरीत श्रद्धानरूप मिथ्यात्व है। अत: जब तक प्राणी कषाय (मिथ्यात्व) करेगा तब तक कल्याण संभव नहीं है। ❐

– प्राचार्य, श्री दिगम्बर जैन आचार्य
संस्कृत महाविद्यालय, सांगानेर, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय खण्ड : भक्ति और साहित्य-साधना

1.	भक्ति में मुक्ति का अंकुर	आचार्य श्री विद्यानंदजी मुनिराज	1-5
2.	साधु समाधि और सुधा साधन एवं आचार्य स्तुति	आचार्य श्री विद्यासागरजी	6-8
3.	भक्ति का फल	पण्डित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ	9-10
4.	जिनेन्द्र दर्शन (भक्ति)	डॉ. भँवरदेवी पाटनी	11-14
5.	बीसवीं सदी के शलाका महापुरुष आ. श्री शान्तिसागरजी महाराज और दिगम्बरत्व	प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन	15-19
6.	आचार्य श्री शान्तिसागरजी का चरम मांगलिक प्रवचन	डॉ. सुदीप जैन	20-23
7.	क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी एक सिमटा-सा विराट व्यक्तित्व	प्रो. (डॉ.) सुदर्शन लाल जैन	24-26
8.	अपनेभीतर झाँको	धर्मचन्द जैन, सूरत	26
9.	राजस्थानी जैन सन्तों की साहित्य-साधना	डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	27-35
10.	मानवीय मूल्यों के सजग पहरी : जैनपुराण	पण्डित रतनचन्द भारिल्ल	36-39
11.	जैन एवं जैनेतर साहित्य में सीता निर्वासन	डॉ. बीना अग्रवाल	40-48
12.	आचार्य श्री ज्ञानसागरजी का सारस्वत योगदान	डॉ. शिवसागर त्रिपाठी	49-51
13.	समाधिमरण/संथारा अहिंसा है न कि...	आ. श्री कनकनन्दीजी	52-57
14.	स्वधर्म रक्षा का प्रयत्न : सल्लेखना	प्रो. रतनचन्द जैन	58-65
15.	समाधिमरण : तुलना एवं समीक्षा	प्रो. डॉ. सागरमल जैन	66-72

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भक्ति में मुक्ति का अंकुर है

❑ आचार्य श्री विद्यानंदजी मुनिराज

"ॐ नमः"

महानुभावो, इस जयपुर महानगरी में इस भट्टारक की नसियाँ में सिद्धचक्र पाठ का शुभारंभ हो रहा है। "चक्र" शब्द का अपने आप में बहुत बड़ा महत्व है। "संसार चक्र" भी कहते हैं, जिसके पंच परावर्तन का वर्णन है – द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव। चौरासी लाख योनि में ऐसी कोई योनि नहीं बची है, जिसमें इस जीव ने भ्रमण नहीं किया। नाना तरह के द्रव्यों को उसने उपयोग कर लिया। सारे पंच परावर्तन में एक प्रदेश नहीं बचा, जहाँ इसने जन्म नहीं लिया। ऐसा कोई षष्टम काल हो, सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा सभी कालों में उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल में इसने जन्म-मरण प्राप्त किया है। और संसार में ऐसे कोई शुभ-अशुभ भाव नहीं बचे, जिसे इसने भाया नहीं। इस "पंच परावर्तन" में मिथ्यादृष्टि जीव नाना तरह के सांसारिक बातों का वर्णन करते आ रहे हैं। इसने पाया नहीं केवल एक सिद्ध गति को, जिसको पंचम गति कहते हैं। चौरासी लाख योनि में चतुर्गति में भ्रमण करने को ही 'संसार चक्र' कहते हैं।

इसके बाद कर्मचक्र है – ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, अंतराय, आयु, नाम, गोत्र। सिद्ध भगवान इन आठों कर्मों से मुक्त हैं। इसीतरह से 'चक्ररत्न' भरत चक्रवर्ती को प्राप्त हुआ। यह चक्ररत्न सारे शत्रु का संहार करने वाला होता है।

'धर्मचक्र' भी एक चक्र है। 'जैनेन्द्र धर्मचक्रं प्रभवतु' आप सब शांतिपाठ में पढ़ते ही हैं। जैसे कोई सम्राट चतुरंगी सेना के माध्यम से पृथ्वी को जीतता है, वैसे ही अरिहंत, सिद्ध, चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवली पण्णत्तो धम्मो मंगलं – ये चारों मंगल हैं। इनके माध्यम से आप अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। एक 'सुदर्शन-चक्र' भी होता है, जो भगवान के आगे-आगे धर्मचक्र की भाँति चलते रहता है। जिसे देखते ही मनुष्य श्रद्धा से झुक जाता है। उसके दर्शन करते ही मनुष्य के अंदर आनन्द की अनुभूति होती है। इस चक्र से हजारों रश्मियाँ निकलती रहती हैं, जिसके दर्शन से अति आनंद की अनुभूति होती है।

एक बड़ी विचित्र गाथा सिद्ध भगवान की पूजा में प्राकृत में है। इसे सबको मन लगाकर सुनना चाहिए और मनन करना चाहिए। इसका जो सारांश है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें बहुत ही गजब की बात लिखी है उन्होंने। भक्तिभाव को इतना ऊँचा उठाकर कोई आचार्य ही बता सकते हैं – ये तो नेमिचन्द्र आचार्य ही हैं। धर्मानुरागी डॉ. सोगानीजी ने इसका बहुत ही सुंदर अनुवाद कर दिया है। लोग कहते हैं कि ज्ञान से मोक्ष होगा। कोई कहते हैं कि दर्शन से मोक्ष होगा। कोई कहते हैं कि उग्र तप, चारित्र से मोक्ष होगा। कोई कहते हैं कि संयम से मोक्ष होगा। इस तरह से सब अपने-अपने अनुभव से अपनी तरह से दुनिया को बताते हैं। पर इस गाथा में आचार्य कहते हैं कि –

णयेवणाणेण दंसणेण तवेण उग्गेणसंयमेण।
सिद्धेति आलेशुभशुद्ध बुद्धी समग्गियाामोशैलेविशुद्धि॥

भक्ति से मोक्ष मिल जायेगा। ये जो अमुक-तमुक से मोक्ष मिलेगा, ऐसी कल्पना करते हैं उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य ने खण्डन कर दिया। भक्ति में ही सारे आ जाते हैं – ज्ञान, दर्शन, तप, संयम। एक सिद्ध भगवान की भक्ति में, सिद्धचक्र की भक्ति में सब आ जाते हैं।

जितने भी शास्त्रों में अंतरंग तप, बहिरंग तप, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित बताये गये हैं, इनके बजाय यदि कोई मात्र भक्ति करता है अर्थात् जिसके कंठ में, जिसके हाथ में भक्ति है, उसके हाथ में मुक्ति है, मुक्ति का अंकुर है। इतनी महान शक्ति है भक्ति में। हम रोज ही 'णमो सिद्धाणं' बोलते हैं। बहुतों की कल्पना है कि परमात्मा किसी का भला करता है, किसी का बुरा करता है। नाना तरह के संसार में कर्तृत्वभाव को लेकर बैठे हैं, परन्तु सिद्धों के गुण-भावना को हम भाते हैं, भक्ति करते हैं, उनका नाम लेते ही हमारे सारे कर्म अपने आप पिघल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। जैसे – मोर पक्षी के बोलते ही सर्प अपने बिल में घुस जाता है। गरुड़ पक्षी को देखकर सांप की जान उड़ जाती है। वैसे ही भगवान के दर्शन और पूजा-भक्ति से असंख्यात कर्मों की निर्जरा एक-एक क्षण में हो जाती है। ये भी ध्यान है। 'परमात्म-प्रकाश' में तथा वसुनंदी आचार्य ने 'वसुनंदी श्रावकाचार' में इसे भी एक प्रकार का ध्यान बताया है। जो मंत्रपूर्वक पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं, उसको भी उन्होंने ध्यान कहा है। ध्यान सिर्फ आँख मूंदकर बैठने को नहीं कहते। एकाग्रता से एक क्षण के लिए घर को भूल गये, परिवार को भूल गये, पैसे को, चेक को, टेलीफोन को यानी सारे संसार की बातों को भूल गये, थोड़ी देर के लिए खाना-पीना सब कुछ भूलकर एक लक्ष्य, पवित्र उद्देश्य आपका सिद्ध भगवान की पूजा के लिए रखो – यह भी एक प्रकार का ध्यान है।

थोड़ी देर आप शांतचित्त से बैठकर भक्तिभाव से, मन-वचन-काय से पूजा-पाठ, भक्ति करते हैं, तो मन प्रसन्न और एकाग्र हो जाता है। 'ध्यानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्' कहने का तात्पर्य है कि जो सिद्ध भगवान आठ कर्मों से मुक्त होते हैं, उन भगवान का ध्यान करना भी किसी तपश्चर्या से कम नहीं है। ज्ञान-दर्शन से कम नहीं है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति जिनेन्द्र बिम्ब के दर्शन से होती है। धवला में यहाँ तक लिखा कि जो कर्म और किसी से नहीं कटते हैं वे एक जिनबिम्ब के दर्शनमात्र से, भक्ति से कट जाते हैं, ढीले हो जाते हैं। यहाँ तक कह दिया कि निकाचित कर्म भी ढीले हो जाते हैं और क्या बात बतायें? जयधवला के छठे पृष्ठ में वीरसेन आचार्य ने लिखा है कि शुभ और शुद्ध साथ-साथ चलते हैं। शुद्धभाव है तो शुभभाव भी उसके पीछे है। कैसे? जैसे लकड़ी जलाते हैं तो आग के साथ थोड़ा सा धुँआ भी निकलता है। ऐसे ही शुभ और शुद्ध ये दोनों भाव साथ-साथ चलते हैं और दोनों कर्म नाश के निमित्त बनते हैं। बीज बो रहे हैं फसल के लिए, पर उसके साथ घास भी उग आती है। वे पुण्य प्रकृतियाँ भी अपने आप उसके साथ लगी हुई हैं। इसलिए आपका ध्येय यही हो कि हे सिद्ध भगवन्! हम आपके जैसा ही बनना चाहते हैं, आपके गुणों को ग्रहण करना चाहते हैं।

जब हम साधु लोग आहार के लिए निकलते हैं, तो पहले 'सिद्ध भक्ति' बोलते हैं – 'हे भगवन्! हम आप जैसा निराहारी बनना चाह रहे हैं, पर मजबूर होकर आहार के लिए जा रहे हैं।' जैन धर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है। प्रवृत्ति के लिए इसके यहाँ कोई स्थान नहीं है।

आदिनाथ भगवान द्वारा उनके पिछले जन्म में एक चारणऋद्धिधारी मुनिराज को आहार देते समय वहाँ पर बंदर, नेवला, जंगली सुअर ये जो जंगली प्राणी थे, उन प्राणियों के मन में ये भाव पैदा हुआ कि यदि हम भी मनुष्य होते तो हम भी मुनिराज को आहार देते। इसी भावना को भाते वे मर गये। मात्र इस प्रकार का भाव पैदा होने से वे अगले जन्म में भरत और बाहुबली आदि होकर जन्मे। केवल मन-वचन-काय से अनुमोदना की, करे-धरे कुछ नहीं। सोचो, महापुराण में वर्णन किया है कि चारणऋद्धिधारी मुनि को आहार देते समय जो-जो जीव अनुमोदना करने वाले थे, वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब उसके अगले भव में मोक्ष गये। उस जन्म में स्वर्ग गये और फिर वहाँ से मनुष्य जन्म लेकर भगवान आदिनाथ के साथ बारी-बारी से मोक्ष गये। एक मेढक केवल एक फूल की पंखुड़ी चढ़ाने के लिए ले जा रहा था, रास्ते में मरकर वह स्वर्ग चला गया। आप लोग तो अष्ट द्रव्य से पूजा करते हैं, जो आठों कर्मों को नाश करने वाले हैं।

महानुभावो, जैन पारिभाषिक शब्द जो होते हैं, वे सब स्वतंत्र होते हैं। जैसे हम 'आदिनाथ' कहते हैं। इसमें 'नाथ' शब्द 'न' और 'अर्थ' शब्दों से बना है। जिसका आदि और अंत नहीं है, उसका मध्य भी नहीं है यानी अनादि है। जैन धर्म के अंदर छह द्रव्य माने गये हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। आदिनाथ भगवान का जब जन्म हुआ, तो देवों ने 'जय जीवेत' शब्दघोष किया। यानी 'जीवमात्र की विजय हो .., जीवमात्र की विजय हो।' वे इसलिए कहा कि इस युग के वे प्रथम तीर्थंकर थे और उन्होंने ही इहलोक और परलोक की बातें बताई।

हमारे आठ कर्म हैं। उनके १४८ भेद हैं तथा इनके भी अनेक भेद हैं। इन सारे भेद-प्रभेदों का, आत्मा का विविधि रूप से सिद्धचक्र के पाठ में वर्णन है। जैसे चेतन शब्द है। चेतन एक संवेदनशीलता है। चेतन किस कहें? जैसे आपके शरीर के किसी हिस्से पर किसी ने स्पर्श किया, तो आपका हाथ झट से उस जगह पर चला जाता है कि किसने स्पर्श किया। अथवा शरीर भर में कहीं भी खाज-खुजली हो रही हो, तो भी हाथ तुरंत अंधेरे में भी उस जगह पर चला जाता है। तो हम लोग हर आत्मा को स्वतंत्र मानते हैं। और मुक्त होने के बाद भी उनकी स्वतंत्र सत्ता नष्ट नहीं होती। जैसे एक कमरे में अनेक दीपक जला दिये। यदि उनमें से एक दीपक को हटा दिया, तो बाकी के दीपकों की रोशनी नष्ट नहीं होती। और असंख्य दीपक जला दिये गये हों, तो भी उन दीपकों की रोशनी एक-दूसरे का विरोध नहीं करती। उनका एक-दूसरे के प्रति कोई बुरा असर नहीं पड़ता। क्योंकि वे एक जाति के हैं। एक क्षेत्रावगाही हैं, तथापि उनकी स्वतंत्र सत्ता कभी खत्म नहीं होती। ऐसे ही सिद्ध भगवान अनादि काल से मोक्ष जा रहे हैं। वे सब एक ही क्षेत्रावगाही होते हुए भी उनके ज्ञानादि गुण, चैतन्य गुण एक सत्तात्मक होते हुए भी वे अपनी सत्ता से कभी अलग नहीं होने देते।

जैसे छह द्रव्य हैं। ये छह द्रव्य अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ते। जीव में चैतन्य गुण है। 'चेतना लक्षणो जीवः' पुद्गल रूप, रस, गंध, वर्ण युक्त है। ये मिट्टी युक्त होते हुए भी ये न तो कभी आत्मा का रूप बनते हैं और न ही आत्मा अपना चैतन्य गुण इनमें आने देता है। इसलिए तत्त्वार्थ सूत्र में एक सूत्र आया – 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' जो द्रव्य के आश्रितभूत गुण हैं, वही गुण है, वही शाश्वत है। यदि गुण के अंदर गुण आ जाये तो अनवस्था दोष आ जायेगा। अनवस्था दोष किसे कहते हैं? जैसे किसी ने दीपक जलाकर लाया। तो पूछते हैं कि दीपक कहाँ से जलाकर लाये? तो बोलते हैं कि हमने पड़ोसी के दिये से इस दिये को जलाकर लाया। और जब पड़ोसी से पूछे कि तुमने कहाँ से जलाया ? तो वह बोलता है कि हमने भी अपने दूसरे पड़ोसवाले घर के दिये से जलाया है। इस तरह से उसका कोई अंत ही नहीं मिलेगा। इसलिए यहाँ पर कहते हैं कि जीव और पुद्गल अपने-अपने स्वभाव को कभी छोड़ते नहीं हैं।

धर्म द्रव्य – इस आकाश में धर्म द्रव्य ठसाठस भरा हुआ है। जो हम धर्म ध्यान करते हैं, ये धर्मद्रव्य नहीं है, ये एक वस्तु है। ये किसी शास्त्रों में नहीं लिखा गया है सिर्फ जैन शास्त्रों में लिखा गया है। और इसके लिए साइंसवालों ने किसी वैज्ञानिक शब्द का प्रयोग किया है। जैसे पानी में मछली इधर-उधर तैरती रहती है। और जहाँ पानी नहीं है, वहाँ मछली नहीं जा सकती। पानी मछली को इधर-उधर घूमने का कारण है। हाथ-पैर हिलाना, डुलाना, जाना-आना एक धर्म द्रव्य इस पृथ्वी मंडल पर है। वो हमारे सारे द्रव्यों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल, जीव को सहजता से गमनागमन के लिए सहकार्यकारिणी है। इससे आज हमारे साइंसवालों ने इसका संशोधन कर दिया कि आज वायरलेस (मोबाईल) से, यानी बिना तार के आप कहीं से कभी भी किसी से भी बात कर रहे हैं। कोई भी पेपर फैक्स के द्वारा एक मिनट के अंदर देश-विदेश के किसी भी कोने में भेज दिया जाता है। हू ब हू वही पेपर वहाँ के फैक्स मशीन में प्रिन्ट हो जाता है। किसी छोटी सी जगह में दो छोटे कमरे आमने-सामने हो और एक का दरवाजा खोलें तो दूसरा भी खुल जाता है और एक को बंद करें तो दूसरा भी बंद हो जाता है। तो एक ऐसा अमूर्तिक द्रव्य है, जो सारे पृथ्वी मंडल के जीव और पुद्गल पदार्थों को गमनागमन के लिए सहायता करता है। कोई भी चीज स्थिर है, इसका मूल कारण क्या है? यह अधर्म नाम का एक द्रव्य है। जैसे पेड़ के नीचे छाया है तो कोई भी मुसाफिर आकर बैठ जाता है। पेड़ ने उसे अपने नीचे आने के लिए पकड़कर खींचा नहीं। एकदेश दृष्टांत है।

काल द्रव्य – इसी प्रकार से काल द्रव्य है। आप सब तो व्यावहारिक काल द्रव्य को जानते हैं। घड़ी, घंटा, दिन, महीना, वर्ष आदि ये व्यावहारिक काल हैं। निश्चय काल अत्यंत सूक्ष्म है। एक परमाणु जिसका और भी टुकड़ा नहीं किया जा सकता है, उतनी जगह में लुढकने को एक समय कहते हैं। इतने एक समय में 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।' तीन समय नहीं लगते 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' होने के लिए। तो काल द्रव्य पुराने से नया और नये से पुराना होने के लिए मदद करता है। उदासीनता से, जबरदस्ती से नहीं। जैसे आपने दूध पी लिया तो उसे खून बनने में काल द्रव्य मदद करता है। हर परमाणु स्वतंत्र है। जैसे आम का फल पेड़ में लगा है, उसमें से कोई हरा है, कोई पीला है, किसी में काला दाग लग गया है और कोई सड़ रहा है। तो काल द्रव्य एक रत्नराशि जैसा एक-एक प्रदेशों में ठसाठस भरा हुआ है। जहाँ जिस पदार्थ का परिणमन हो रहा है, उसको उसीरूप में परिणमन कराने में ये काल द्रव्य सहयोगी होते हैं। इन सारी बातों का अपने जैन शास्त्रों में सूक्ष्म वर्णन है और कहीं नहीं है।

आकाश द्रव्य :– भले ही आकाश सबको जगह देता है, अन्य पांचों द्रव्य भी आकाश को सहयोग देते हैं। पंचास्तिकाय में लिखा है कि जैसे दूध में पानी मिलकर एकरूप हो जाता है, ऐसे ही सारे द्रव्य एक दूसरे में मिले हुये हैं। फिर भी जैसे पानी का स्वभाव पानी है, और दूध का स्वभाव दूध है, ऐसे ही सारे छहों द्रव्य अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ते हैं। उपादान उनकी जो सत्ता है वह स्वतंत्र है। सिद्ध भगवान् की पूजा में एक-एक चीजों के अर्थ इतने गढ़, गंभीर हैं! नाना तरह से इसमें लिखे गये हैं। इसमें लिखा है कि 'अनंत व्याप्य-व्यापक भाव' जब तक इन शब्दों को दसों साल तक पढ़ेंगे नहीं तो ये शब्द समझ में नहीं आयेंगे। सिर्फ चावल चढ़ा दिया, पूजा किया, मंत्र बोल दिया, गाजा बाजा कर दिया, इतना करने से ही नहीं चलेगा। हर पदार्थ अपने में व्याप्य-व्यापक है। आपके शरीर में आपकी आत्मा अपने आप में व्याप्य-व्यापक है और इसी तरह से शरीर अपने आप में व्याप्य-व्यापक है।

जैसे पानी अपने में व्याप्य-व्यापक है और दूध अपने में व्याप्य-व्यापक है। और यदि उसमें केसर डाल देते हैं तो उसका रंग पीला हो जाता है तो वह केसर अपने में व्याप्य-व्यापक भाव है। इस संसार में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप कभी बनते नहीं है। ये क्यों कहा?

जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है। तो व्यवहार से भले ही कहें कि कुम्हार ने घड़ा बनाया, मगर वास्तव में उस मिट्टी में घड़ा बनने की उपादान शक्ति पहले से ही मौजूद थी। कुम्हार तो निमित्तमात्र बना। कुम्हार ने मिट्टी थोड़ी ही बनाई। वह तो उस मिट्टी में पानी आदि डालकर उसे सिर्फ गूथने और आकार देने के लिए निमित्त बना। व्यवहार से कुम्हार ने घड़ा बनाया पर निश्चय से कुम्हार ने मिट्टी नहीं बनाई। इसलिए उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा उस घड़े का कर्त्ता नहीं कह सकते। यदि वह उसका कर्त्ता होता तो पानी भरते समय भी उसकी जरूरत पड़ती, कि भाई उस कुम्हार को बुलाओ बिना उसके पानी नहीं भर सकते। मगर आप जानते हैं कि ऐसा नहीं होता है। इसलिए ये जो कहा जाता है कि किसी ने इस सृष्टि को बनाया है वही इस सृष्टि को चलाता है, उसके बिना एक पत्ता नहीं हिल सकता है। ये सिद्धांत इस कथन को बेबुनियाद कर देते हैं। फिर इस संसार में एक जीव सुखी है और दूसरा दुखी क्यों है? उसने एक को सुखी और दूसरा दुखी क्यों बनाया? एक को काला और दूसरे को गोरा क्यों बनाया? एक को रोगी और दूसरे को निरोगी क्यों बनाया? इस तरह से 'इन सबको ईश्वर ने बनाया है' ये जो कल्पना है, ये कल्पना गलत है।

हमारे यहाँ प्रत्येक की स्वतंत्र सत्ता है। ये जो छह द्रव्य हैं ये किसी के आधार पर नहीं हैं। अपने आधार पर ये छहों द्रव्य हैं। व्यवहार से कहते हैं कि ये एक दूसरे के आधार पर हैं। पर निश्चय से ये अपने आधार पर हैं। जैसे आपको भूख लगती है तो आपको ही भोजन करना होगा तभी आपकी भूख मिट सकती है। ये नहीं कि भूख आपको लगी है और भोजन कोई दूसरा कर ले तो आपका पेट भर जायेगा। इसी प्रकार से इस पृथ्वी मंडल के छहों द्रव्य अपने आधाराधार हैं। आकाश अपने में आधाराधार है, जीव अपने में आधाराधार है। स्वतंत्र सत्ता त्रिकाल हमारे जीव के अन्दर है – ये मानना पड़ेगा। जब तक ये नहीं मानेंगे तब तक अध्यात्म में प्रवेश नहीं होता।

वेद्य-वेदक भाव– आत्मा अपने सुख-दुख का कर्ता-धर्ता, अनुभवकर्ता है। पर ये याद रखना कि वह अपने शुद्ध भाव का ही कर्ता-धर्ता है–ये व्यवहार से कहते हैं आप से कोई पूछता है कि क्या आप दुखी हैं? तो आप कहते हैं कि नहीं, मैं दुखी नहीं हूँ। व्यवहार से आप दुखी हो भी सकते हैं परंतु निश्चय से आप कभी दुखी हो ही नहीं सकते।

क्योंकि आत्मा का स्वभाव ही है कि वह कभी दुखी हो ही नहीं सकता। पानी अग्नि के संपर्क में आने से गर्म हो जाता है और जब अग्नि के संपर्क से बाहर आ जाता है तो फिर से अपने मूल स्वभाव में आ जाता है। यानी शीतल हो जाता है। आप किसी बात को लेकर अचानक क्रोधित हो जाते हैं, मगर थोड़ी देर के बाद फिर अपने शांत स्वभाव में आ जाते हैं। तो आतमा अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता है। अनंतानंत पर्याय को यह आत्मा पी चुका है, भोग चुका है, अब कोई पर्याय बाकी नहीं है। सिर्फ एक सिद्ध पर्याय भोगना बाकी है बस !

महानुभावो ! सिद्धों के आत्मा में अनंत पदार्थ, सम्पूर्ण द्रव्य, गुण, पर्याय झलकते हैं। आप सब बड़े भाग्यशाली हैं, एक आदमी कुँआ खुदवाता है तो हजारों आदमी पानी पीते हैं। एक आदमी अस्पताल बनाता है तो हजारों लोगों का उपचार होता है, हजारों लोग स्वास्थ्य लाभ लेते हैं। एक आदमी मंदिर बनवाता है तो हजारों लोग दर्शन करते हैं।

सिद्ध भगवान् की जो प्राकृत पूजा है, उसे जब संगीत में सुनोगे तो गद्गदित हो जाओगे। और प्रतिनित्य उस पूजा को आप करोगे ऐसा मुझे विश्वास है। आप सबका कर्म क्षय हो, दु:ख क्षय हो, इन शब्दों के साथ मैं आप सबको बहुत-बहुत आशीर्वाद और धन्यवाद देता हूँ। ❐

तीन प्रकार के प्रश्नकर्ता होते हैं, कल्याण पहली प्रवृत्ति वालों का ही हाता है :–

१. जिज्ञासु प्रवृत्ति के प्रश्नकर्ता।

२. सभी पूछ रहे हैं इसलिए हम भी पूछ लेते हैं, इस प्रवृत्ति के प्रश्नकर्ता।

३. स्वयं की विद्वता को सिद्ध करने एवं दूसरों को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति वाले प्रश्नकर्ता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधु समाधि सुधा साधन एवं आचार्य-स्तुति

❑ आचार्य श्री विद्यासागर जी

यहाँ समाधि का अर्थ मरण से है। साधु का अर्थ है श्रेष्ठ/अच्छा अर्थात् श्रेष्ठ/आदर्श मृत्यु को साधु-समाधि कहते हैं। 'साधु' का दूसरा अर्थ 'सज्जन' है। अत: सज्जन के मरण को ही साधु-समाधि कहेंगे। ऐसे आदर्श मरण को यदि हम एक बार भी प्राप्त कर लें, तो हमारा उद्धार हो सकता है।

जन्म और मरण किसका? हम बच्चे के जन्म के साथ मिष्टान्न वितरण करते हैं। बच्चे के जन्म के समय सभी हँसते हैं, किन्तु बच्चा रोता है। इसलिए रोता है कि उसके जीवन के इतने क्षण समाप्त हो गये। जीवन के साथ ही मरण का भय शुरु हो जाता है। वस्तुत: जीवन और मरण कोई चीज नहीं है। यह तो पुद्गल का स्वभाव है, वह तो बिखरेगा ही।

आपके घरों में पंखा चलता है। पंखे में तीन पंखुड़ियाँ होती हैं। ये सब पंखे के तीन पहलू हैं और जब पंखा चलता है तो एक मालूम पड़ते हैं। ये पंखुड़ियाँ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की प्रतीक हैं। हम उसकी शाश्वतता को नहीं देखते, केवल जन्म-मरण के पहलुओं से चिपके रहते हैं, जो भटकने/घुमाने वाला है।

समाधि ध्रुव है, वहाँ न आधि है, न व्याधि है और न ही कोई उपाधि है। मानसिक विकार का नाम आधि है, शारीरिक विकार व्याधि है। बुद्धि के विकार को उपाधि कहते हैं। समाधि मन, शरीर और बुद्धि से परे है। समाधि में न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है और न विषाद। जन्म और मृत्यु शरीर के हैं। हम विकल्पों में फँसकर जन्म-मृत्यु का दु:ख उठाते हैं। अपने अन्दर प्रवाहित होने वाली अक्षुण्ण चैतन्य धारा का हमें कोई ध्यान ही नहीं। अपनी त्रैकालिक सत्ता को पहिचान पाना सरल नहीं है। समाधि वही है, जिसमें मौत को मौत के रूप में नहीं देखा जाता है, जन्म को भी अपनी आत्मा का जन्म नहीं माना जाता। जहाँ न सुख का विकल्प है और न दु:ख का।

आज ही एक सज्जन ने मुझ से कहा – 'महाराज! कृष्ण जयन्ती है आज।' मैं थोड़ी देर सोचता रहा। मैंने पूछा – 'क्या कृष्ण जयन्ती मनाने वाले कृष्ण की बात मानते हैं। कृष्ण गीता में स्वयं कह रहे हैं कि मेरी जन्म जयन्ती न मनाओ। मेरा जन्म नहीं, मेरा मरण नहीं। मैं तो केवल सकल ज्ञेय ज्ञायक हूँ। त्रैकालिक हूँ। मेरी सत्ता तो अक्षुण्ण है।' अर्जुन युद्ध भूमि में खड़े थे। उनका हाथ अपने गुरुओं से युद्ध के लिए नहीं उठ रहा था। मन में विकल्प था कि 'कैसे मारूँ अपने ही गुरुओं को।' वे सोचते थे चाहे मैं भले ही मर जाऊँ, किन्तु मेरे हाथ से गुरुओं की सुरक्षा होनी चाहिए। मोहग्रस्त ऐसे अर्जुन को समझाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा –

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवो जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जिसकी मृत्यु है, उसका जन्म भी अवश्य होगा। यह अपरिहार्य चक्र है। इसलिए हे अर्जुन ! सोच नहीं करना चाहिए।

अर्जुन ! उठाओ अपना धनुष और क्षत्रिय धर्म का पालन करो। सोचो, कोई किसी को वास्तव में मार नहीं सकता। कोई किसी को जन्म नहीं दे सकता। इसलिए अपने धर्म का पालन श्रेयस्कर है। जन्म-मरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो होते ही रहते हैं। आवीचिमरण तो प्रतिसमय हो ही रहा है। कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से और हम हैं केवल जन्म-मरण के चक्कर में, क्योंकि चक्कर में भी हमें शक्कर -सा अच्छा लग रहा है।

तन उपजत अपनी उपज जान,
तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रकट जे दुःख दैन,
तिन ही को सेवत गिनत चैन॥

हम शरीर की उत्पत्ति के साथ अपनी उत्पत्ति और शरीर-व्यय के साथ अपना मरण मान रहे हैं। अपनी वास्तविक सत्ता का हमको भान ही नहीं। सत् की ओर हम देख ही नहीं रहे हैं। हम जीवन और मरण के विकल्पों में फँसे हैं, किन्तु जन्म-मरण के बीच जो ध्रुव सत्य है उसका चिन्तन कोई नहीं करता। साधु-समाधि तो तभी होगी, जब हमें अपनी शाश्वत सत्ता का अवलोकन होगा। अतः जन्म-जयन्ती न मनाकर हमें अपनी शाश्वत सत्ता का ही ध्यान करना चाहिए, उसी की सँभाल करनी चाहिए। ❐

आचार्य-स्तुति

अरहंत परमेष्ठी के बाद आचार्य परमेष्ठी की भक्ति का विवेचन है। सिद्ध परमेष्ठी को यहाँ ग्रहण नहीं किया गया, क्योंकि उपयोगिता के आधार पर ही महत्व दिया जाता है। जैनेतर साहित्य में भी भगवान से बढ़कर गुरु की ही महिमा का यशोगान किया है।

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपकी गोविंद दियो बताय॥

'बताय' शब्द के स्थान पर यदि 'बनाय' शब्द रख दिया जाय, तो अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि गुरु शिष्य को भगवान बना देते हैं। इसीलिए उन्हें तारण-तरण कहा गया है। गुरु स्वयं तो सत्पथ पर चलते हैं, दूसरों को भी चलाते हैं। चलने वाले की अपेक्षा चलाने वाले का काम अधिक कठिन है। रास्ता दूसरों को तारता है, इसलिए वह तारण कहलाता है। पुल भी तारण है, किन्तु रास्ता और पुल दोनों स्वयं खड़े रह जाते हैं। **गुरु स्वयं भी तैरते हैं और दूसरों को भी तैराते हैं।** इसलिए उनका महत्व शब्दातीत है। आचार्य उस नौका के समान हैं, जो स्वयं नदी के उस पार जाती है और अपने साथ अन्यों को भी पार लगाती है।

भगवान महावीर की वाणी गणधर आचार्य की अनुपस्थिति होने से छियासठ दिन तक नहीं खिरी। आचार्य ही उस वाणी को विस्तार से समझाते हैं। वे अपने शिष्यों को आलम्बन देते हैं, बुद्धि का बल प्रदान करते हैं, साहस देते हैं। जो उनके पास दीक्षा लेने जाये, उसे दीक्षा देते हैं और अपने से भी बड़ा बनाने का प्रयास करते हैं। **वे शिष्य से यह नहीं कहते – "तू मुझ जैसा बन जा", वे तो कहते हैं – "तू भगवान बन जाय।"**

मोक्षमार्ग में आचार्य से ऊँचा साधु का पद है। आचार्य अपने पद पर रहकर मात्र उपदेश और आदेश देते हैं, किन्तु साधना पूरी करने के लिए साधु पद को अंगीकार करते हैं। मोक्षमार्ग का भार साधु ही वहन करता है। इसीलिए चार मंगल पदों में, चार उत्तम पदों में और चार शरण पदों में आचार्य पद को पृथक् ग्रहण न करके साधु पद के अंतर्गत ही रखा गया है। आचार्य तो साधु की ही एक उपाधि है, जिसका विमोचन मोक्ष प्राप्ति के पूर्व होना अनिवार्य है। जहाँ राग का थोड़ा भी अंश शेष है, वहाँ अनन्त पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। **इसीलिए साधना में लीन साधु की वंदना और तीन प्रदक्षिणा आचार्य द्वारा की जाती है।**

मैंने अभी दो दिन पूर्व थोड़ा विचार किया इस बात पर कि भगवान महावीर अपने साधना काल में दीक्षा के उपरान्त बारह वर्ष तक निरन्तर मौन रहे। कितना दृढ़ संकल्प था उनका। बोलने में सक्षम होते हुए भी वचन गुप्ति का पालन किया। वचन व्यापार रोकना बहुत बड़ी साधना है। लोगों को यदि कोई बात करने वाला न मिले, तो वे दीवाल से ही बातें करने लगते हैं। एक साधु थे। नगर से बाहर निकले इसीलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि कोई उनसे बातें न करे, किन्तु फिर भी एक व्यक्ति उनके साथ हो गया। और बोला – "महाराज ! मुझे अपने जैसा बना लें। मैं आपकी सेवा करता रहूँगा। आपको कोई न कोई सेवक तो चाहिए अवश्य सेवा करने के लिए।" साधु बड़े पशोपेश में पड़ गये। आखिर बोले – "सबसे बड़ी मेरी सेवा आप ये ही करो कि बोलो नहीं। बोलना बन्द कर दो।"

बोलने वालों की कमी नहीं है, प्राय: सर्वत्र मिल जाते हैं। मुझे स्वयं भी एक घटना का सामना करना पड़ा मदनगंज, किशनगढ़ में। ब्रह्मचर्य अवस्था में एक स्थान पर बैठकर मैं सूत्रजी पढ़ रहा था। एक बूढ़ी माँ आई और मुझसे कुछ पूछने वहीं बैठ गयीं। मैं मौन ही रहा, परन्तु धीरे-धीरे वहाँ और भी कई मातायें आकर बैठने लगीं और दूसरे दिन से मुझे वह स्थान छोड़ना पड़ा। विविक्त शय्यासन अर्थात् एकांतवास भी एक तप है, जिसे साधु तपता है, इसलिए कि एकान्त में ही अन्दर की आवाज सुनाई पड़ती है। बोलने में साधना में व्यवधान आता है।

आचार्य कभी भी स्वयं को आचार्य नहीं कहते। वे तो दूसरों को बड़ा बनाने में लगे रहते हैं, अपने को बड़ा कहते नहीं। कोई और उन्हें कहे, तो वे उसका विरोध भी नहीं करते और विरोध करना भी नहीं चाहिए। गाँधीजी के सामने एक बार यह प्रश्न आया। एक व्यक्ति उनके पास आया और बोला – "महाराज ! आप बड़े चतुर हैं, अपने आप को महात्मा कहने लग गये।" गाँधीजी बोले – "भैया, मैं अपने को महात्मा कब कहता हूँ। लोग भले ही कहें, मुझे क्या ? मैं किसी का विरोध क्यों करूँ।" ☐

– समग्र (चतुर्थ खण्ड) से साभार

उवगूहणमादिया पुव्वुत्ता तह भत्तियादिया य गुणा।
संकादिवज्जणं पि य णेओ सम्मत्तविणओ सो ॥११६॥

अर्थ : पर का दोष ढकना और अपनी प्रशंसा नहीं करना यह उपगूहन गुण है, अपने आत्मा को या पर को धर्म में निश्चल करना यह स्थितिकरण गुण है, धर्मात्मा में या रत्नत्रय धर्म में प्रीति करना यह वात्सल्य गुण है, पूर्व में कहे जो अरहंतादि में भक्ति, पूजा तथा अरंहतादिकों के उज्ज्वल गुणों के यश का प्रकाशन करना यह वर्णजनन गुण है। अवर्णवाद– जो दुष्टों द्वारा लगाया गया दोष उनका विनाश करना और विराधना का त्याग इत्यादि पूर्वकथित भक्ति आदि गुण के द्वारा प्रभावना करना तथा आप्त,आगम, पदार्थों में शंका का वर्जन करना तथा इहलोक-परलोक संबंधी विषयों की कांक्षा-वांछा उसका परित्याग करना तथा रोगी, दु:खी, दरिद्री, वृद्ध, मलिन चेतन-अचेतन पदार्थों में ग्लानि का त्याग करना तथा मिथ्याधर्म की प्रशंसा नहीं करना। इसप्रकार अष्ट अंगों को दृढ़ता पूर्वक अंगीकार करना, यह दर्शन का विनय है।

– भगवती आराधना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भक्ति का फल

❑ पण्डित चैनसुखदास न्यायतीर्थ

जैनाचार्यों ने भक्ति को एक निष्काम कर्म माना है। यदि उसे लक्ष्य कर मनुष्य में फलासक्ति उत्पन्न हो जाय तो भक्ति बिल्कुल व्यर्थ है। जैन शास्त्रों में निदान (फलाकांक्षा) को धार्मिक जीवन में एक प्रकार का शल्य (कांटा) बतलाया गया है। भक्त के सामने सदा मुक्ति का आदर्श उपस्थित रहता है। वह उससे भटकता नहीं है। यदि भटकता है तो उसे सच्चा भक्त नहीं कह सकते। भक्ति का सच्चा फल वह यही चाहता है कि जब तक मुक्ति की प्राप्ति न हो, तब तक प्रत्येक मानव जन्म में उसे भगवद्भक्ति मिलती रहे। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए 'द्विसंधान काव्य' के कर्ता महाकवि धनञ्जय कहते हैं –

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्,
वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि,
छाया तरु संश्रयत् स्वत् स्यात्,
कश्छायया याचितयाऽऽमलोभः।
अथास्ति दित्या यदिवोपरोधः,
त्वय्येव सक्तां दिश भक्ति-बुद्धिं,
करिष्यते देव तथा कृपां मे,
को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरीः॥

हे देव! इस प्रकार आपकी स्तुति कर मैं आप से उसका कोई वर नहीं माँगता, क्योंकि किसी से भी कुछ माँगना तो एक प्रकार की दीनता है। सच तो यह है आप उपेक्षक (उदासीन) हैं। आप में न द्वेष है और न राग। राग बिना कोई किसी की आकांक्षा पूरी करने के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है? तीसरी बात यह है कि छाया वाले वृक्ष के नीचे बैठकर फिर उस वृक्ष से छाया की याचना करना तो बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि वृक्ष के नीचे बैठने वाले को तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।

'कल्याण मंदिर स्तोत्र' के कर्ता महाविद्वान कुमुदचन्द्र भी इस संबंध में यही बात कहते हैं –

यद्यस्ति नाथ भवदंघ्रिसरोतहाणाम्,
भक्तेः फलं किमपि संतत संचिताया:।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्यभूयाः,
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेपि॥

हे शरण्य! आपके चरण कमलों की सतत् संचिता भक्ति का यदि कोई फल हो तो वह यही होना चाहिए कि इस जन्म और अगले जन्म में आप ही मेरे स्वामी हों, क्योंकि आपके अतिरिक्त मेरा कोई भी शरण नहीं हो सकता।

किन्तु जैसा कि पहले कहा है, मनुष्य का चरम लक्ष्य मुक्ति है। इसलिए कोई भी भक्त जब तक मुक्ति नहीं मिले तब तक ही इस फलाकांक्षा का औचित्य समझता है। इसलिए भगवान की पूजा के अंत में जैन मंदिरों में जो शांतिपाठ बोला जाता है, उसमें इस अभिप्राय को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है –

तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वयेलीनम्,
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावत् यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः।

हे भगवन्! जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक तुम्हारे चरण मेरे हृदय में लीन रहें और मेरा हृदय तुम्हारे चरणों में लीन रहे। इन उद्धरणों से यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि जैन भक्ति का उद्देश्य परमात्मतत्त्व की ओर बढ़ना है। किसी भी प्रकार का लौकिक स्वार्थ उसका लक्ष्य नहीं है। जिसके जीवन में भक्ति की महत्ता अंकित हो जाती है, उसकी दुनिया के क्षणभंगुर पदार्थों में आस्था नहीं होती और न उसके मन में किसी प्रकार के वैयक्तिक स्वार्थ की ही आकांक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है। वास्तविक भक्त वह है जिसकी दुनिया के क्षणभंगुर सुखों में आस्था नहीं होती। जिसको इस प्रकार की आस्था, आसक्ति अथवा आकांक्षा होती है, वह कभी परमात्मतत्त्व की ओर नहीं बढ़ सकता। भक्त हृदय अहिंसक होता है, इसलिए उसका कोई शत्रु भी नहीं होता है। वह अपनी भक्ति के बीच में इस प्रकार की आकांक्षायें भी नहीं लाता जो द्वेषमूलक एवं हृदय को विकृत करने वाली हो। जैन दृष्टि से वे स्तोत्र अत्यन्त नीच स्तर के ही समझे जाने चाहिए जो मनुष्य को हिंसा एवं विकार की ओर प्रेरित करने वाले हों।

हाँ, जैन भक्ति एवं पूजा के प्रकरणों में भक्ति के फलस्वरूप ऐसी माँगें जरूर उपलब्ध होती हैं, जो वैयक्तिक नहीं अपितु सार्वजनिक हैं, फिर चाहे वे लौकिक ही क्यों न हों। भगवान की उपासना के बाद जैन उपासना गृहों में शांतिपाठ बोला जाता है, उसमें भक्त कहता है –

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु
बलवान् धार्मिको भूमिपालः,
काले काले च सम्यग् वर्षतु
मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि
जगतां मास्मभूज्जीवलोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु
सततं सर्वसौख्य प्रदायि॥

हे भगवन् ! सारी प्रजा का कल्याण हो। शासक बलवान और धर्मात्मा हो। समय-समय पर (आवश्यकतानुसार) पानी बरसे। रोग नष्ट हो जावें। कहीं न चोरी हो और न महामारी फैले और सारे सुखों को देने वाला भगवान जिनेन्द्र का धर्मचक्र शक्तिशाली हो। इस प्रकार का एक उल्लेख और भी सुनिये –

संपूजकानां प्रतिपालकानाम्,
यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्,
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः,
करोतु शांति भगवान् जिनेन्द्रः।

जो भगवान के भक्त हैं, जो दीनहीनों के सहायक हैं, जो यतियों में श्रेष्ठ हैं, जो तपोधन हैं, उन सबको तथा देश, राष्ट्र, नगर और राजा को भगवान जिनेन्द्र शान्ति प्रदान करें।

ये सब उल्लेख स्पष्ट यह बतलाते हैं कि जैनों के वाङ्मय का लक्ष्य आत्मशोधन के साथ-साथ लोकोपकार की भावना भी है। उसका दृष्टिकोण संकुचित नहीं अपितु उदार, विशाल एवं व्यापक है। इसमें वसुधैवकुटुम्बकम् की उदात्त तथा प्रांजल भावना ओतप्रोत है। इससे मानव को जो प्रेरणा मिलती है, उससे उसकी पशुता निकल कर मानवता निखर जाती है।

मूर्तिपूजा और भक्ति –

श्वेताम्बर जैनों के स्थानकवासी और तेरापंथी एवं दिगम्बर जैनों का तारणपंथी सम्प्रदाय – यद्यपि मूर्तिपूजा को महत्व नहीं देते, फिर भी वे भक्ति का समर्थन करते हैं। यद्यपि मूर्तिपूजा और भक्ति का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, तथापि ये दोनों चीजें एक नहीं हैं। किन्हीं दो पदार्थों में निमित्त-नैमित्तिक संबंध बनाना व्यक्तिगत प्रश्न है। भक्ति के लिए भी कोई मूर्तिपूजा को अवलम्बन मानता है और कोई नहीं मानता है। जो संप्रदाय मूर्ति या प्रतिमा को अवलम्बन नहीं मानते, वे भी भगवान की भक्ति करते हैं। भक्ति तो मनुष्य की मानसिक वृत्ति है। वह मूर्ति रूप आलंबन के बिना निरालंबन भी हो सकती है।

वास्तव में परमात्मा या भगवान ही आलंबन हैं। उपास्य में तो कोई भेद है नहीं, भले ही उनकी मूर्ति बनाई जाये या न बनाई जाये। बिना मूर्ति के भी परमात्मा या महात्माओं के गुणों में अनुराग उत्पन्न कर उसमें पूजनीयता की आस्था स्थापित की जा सकती है। भक्ति का रहस्य भी यही है। जैन धर्म में जो भक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है, उसे जैनों के सभी सम्प्रदाय एक मत से स्वीकार करते हैं।

❐

– अध्यात्म शास्त्र से साभार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनेन्द्र दर्शन (भक्ति)

□ डॉ. भँवरदेवी पाटनी

यह बात, अच्छी तरह निर्णीत है कि जैसा द्रव्य,क्षेत्र, काल, भाव का प्रभाव होता है, मनुष्यों की आत्माओं में भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जिस समय किसी दुष्ट पुरुष का समागम हो जाता है तो उसके निमित्त से परिणाम भी खराब हो जाते हैं। जिस समय किसी साधक, धार्मिक और सज्जन का समागम हो जाता है, या सत्संग मिल जाता है, उस समय उसके निमित्त से परिणाम भी निर्मल हो जाते हैं, यह प्रभाव द्रव्य का ही समझना चाहिये। इसी प्रकार काल का प्रभाव-आत्मा पर पड़ता है, रात्रि में मनुष्य के परिणाम दूसरे ही होते हैं, प्रात:काल होते ही बदल कर उत्तम हो जाते हैं, जो वासनाएँ रात्रि में अपना प्रभाव डालती हैं वह अनायास ही प्रात:काल होते ही बदल जाती हैं, यह काल का प्रभाव ही समझना चाहिये।

इसी प्रकार क्षेत्र का प्रभाव होता है, जो परिणाम घर में, बाजार में, ऑफिस में, दुकान में होते हैं, वे परिणाम किसी साधु निकेतन में या मन्दिर में जाते ही बदल जाते हैं, जो बातें घर में हमारे हृदय में विषय-कषाय अथवा विकार, आकुलता उत्पन्न करती हैं, वे भगवान के मन्दिर और साधु निकेतन में नहीं होती। इसीप्रकार हमारे जो भाव धर्म साधन में नहीं लगते हैं, वे मन्दिर तथा साधु सत्संग में लगने लगते हैं।

मन्दिर हमारे भावों को धर्म की ओर जाने का संकेत करता है। मन्दिर में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों निमित्तों की योग्यता है। वहाँ जाने पर वीतराग देव की सौम्य छवि के दर्शन होते हैं, दर्शन से हमारे आतंरिक भावों का विकास होता है, विकार कम होते हैं, आत्म-प्रभा प्रकट होती है, यदि मन को सब तरफ से हटाकर दर्शन में लीन किया जावे तो।

आज वर्तमान में इस पंचम काल में जितना धर्म साधन और परिणामों की निर्मलता जिनेन्द्र दर्शन, स्तवन, पूजन, भजन से होती है, वैसी और कहीं भी नहीं होती; न किसी से मिल सकती है। इसका कारण यह है कि आजकल का संहनन और मनोवृत्तियाँ की चंचलता कुछ ऐसी है कि अधिक समय तक न तो ध्यान (एकाग्रता) ही कर सकते हैं और न गृहस्थी में सदा शुभ परिणाम ही रख सकते हैं, आत्म चिंतवन तो बहुत दूर की बात है, निश्चयनय-निश्चयनय कहते हैं, पढ़ते हैं, निश्चयनय की बात सुनते भी हैं, परन्तु निश्चयनय आत्मरमणता को कहते हैं, जो इस समय हो ही नहीं सकता है। इस समय सम्यक् अवलंबन की हमको आवश्यकता है, वह अवलंबन जिनेन्द्र की वीतराग मुद्रा है, उस वीतराग प्रतिमा के सन्मुख बहुत देर तक हमारे भाव स्थिर रह सकते हैं अथवा यों कह सकते हैं कि जितनी देर प्रतिमा के सामने हम अपना उपयोग लगाते हैं, हमारे परिणाम निर्मल हो जाते हैं।

ध्यान का महात्म्य यद्यपि बहुत बड़ा है, परन्तु मनोवृत्तियों की चंचलता के संस्कार तुरन्त वहाँ से उपयोग हटा देते हैं, इसलिए मन को एकाग्र करने के लिये जिनेन्द्र स्तवन जिनेन्द्र के गुणों का चिंतन करना चाहिये, जितने-जितने हम भक्ति रस में डूबते जायेंगे। परिणामों की भटकन दूर होती चली जायेगी और साथ में अतिशय पुण्य का बंध होगा। जितना-जितना भक्तिरस में डूबने का वीतराग के गुणों के सुमरण करने का अभ्यास बढायेंगे तो भावों में एकाग्रता आने लगेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक के लिये जिनपूजन, जिनदर्शन, स्तवन, चिन्तवन, तत्त्वचर्चा से बढ़कर विशेष पुण्योपार्जन का और कोई उपाय नहीं है। यही क्रम से संसार-मुक्ति पाने का उपाय है।

वर्तमान समय में कुछ लोग ऐसा कहने लग गये हैं कि शुद्धभाव होने चाहिये, मन्दिर में जाना या दर्शन करना आवश्यक नहीं है, घर में फोटू रखकर या परोक्ष नमस्कार करने से ही पुण्यबंध हो सकता है। ऐसा वो ही लोग कह सकते हैं जिनका जिनवाणी (शास्त्रों) पर श्रद्धान नहीं है और न जैन सिद्धान्त के अनुसार श्रावक क्रियाओं को ही करते हैं। जो थोड़ा कुछ करते भी हैं, उन्हें रूढिवादी कहकर अपनी मनमानी करते हैं, जो जिनदर्शन को प्रतिदिन करना आवश्यक नहीं समझते। उन्हें अपने आप को जैन मानना भूल है। बिना बाह्य आलंबन के अंतरंग सुधार होना बहुत कठिन है। जो कहते हैं हमारे तो भाव शुद्ध हैं, देवदर्शन से क्या होगा ? वे अपने आपको धोखा देते हैं, स्वयं के साथ छल करते हैं।

जिन मुनियों ने आत्मा को ही ध्येय बना लिया था, उन्होंने भी अनेक शास्त्रों से श्लोकों से जिनभक्ति की गंगा बहा दी है। मुनि मानतुंग ने भक्तामर की रचना की, जिसे पढ़कर-बोलकर मन भक्ति से भर जाता है। जिनभक्ति, जिनदर्शन की महिमा से तो सारे आगम (पुराण) भरे हुये हैं।

भगवान की भक्ति कोई शास्त्र नहीं है, कोई विचार नहीं है, कोई विवाद नहीं है, कोई संवाद नहीं है। भक्ति का अर्थ है – तन्मय हो जाना, लीन हो जाना। जैसे-जैसे भगवान के स्वरूप में लीनता आयेगी, वैसे-वैसे आंतरिक शक्ति का प्रादुर्भाव होता जायेगा। परम उल्लास, आंतरिक प्रसन्नता पैदा होना ही भक्ति का सार है। जब अपने में ऐसी दशा अनुभव करो, तो ही समझो कि भक्ति का रस उत्पन्न हो रहा है। भगवान के प्रति श्रद्धा-भक्ति का स्वरूप अनिर्वचनीय है, जो शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता है। शब्द सीमित हैं, वेद के हों, कुरान के हों, पुराण के हों, चाहे बाइबिल के हों, सिर्फ इशारे हैं। जैसे राह में मील के पत्थर सिर्फ रास्ता बतलाने के लिये हैं, परन्तु मंजिल पर पहुँचने के लिये तो रास्ते के पत्थरों को छोड़ते हुये स्वयं को चलना पड़ेगा, तभी मंजिल मिल सकती है।

भक्ति रस में डूबकर परम श्रद्धान से ही भक्ति का राज समझ में आता है। श्रद्धान, प्रतीति, विश्वास सब एकार्थ हैं। जब दृढ़ श्रद्धान होता है, तब ही सच्ची भक्ति उत्पन्न होती है। मनुष्य धार्मिक हो जाता है, दृष्टि बदल जाती है। धार्मिक व्यक्ति काँटों में भी फूल खोज लेता है, वह कभी दूसरे के दोष नहीं देखता है। भक्ति से ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। भक्त का हृदय सब प्रकार की चाह (इच्छा) रहित हो जाता है। किसी प्रकार की माँग नहीं रहती। भगवान के स्तवन-कीर्तन से अंतर के द्वार खुल जाते हैं, इसी का नाम जैनागम में सम्यग्दर्शन है। अभ्यास (पुरुषार्थ) बढ़ जाता है। जब अहिंसा, सत्य, विनय आदि गुण प्रकट हो जाते हैं और तुम्हीं हो मंजिल, तुम्हीं हो मार्ग, तुम्हीं हो खोजनवाले, तुम्हीं हो खोजे जाने वाले तथा ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान सब भेद मिटकर मनुष्य जीवन मुक्त हो जाता है। सिर्फ (केवल) ज्ञान ही रह जाता है।

श्री जिनदेव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है – श्रद्धा भक्ति (दर्शन) से उत्पन्न सम्यग्ज्ञान, दर्शन और ज्ञान के द्वारा वैराग्य अथवा अपने ही ज्ञान में लीनता अथवा स्वभाव में लीनता (रमणता) स्व में तल्लीन होना चारित्र यही मोक्षमार्ग है, यही प्रत्यक्ष सिद्ध है। मोक्ष का अर्थ है मुक्ति अर्थात् संस्कार के दु:खों से छुटकारा परम-आनन्द जन्म-मरण रहित होना है।

जो परम सुख प्राप्त करना चाहता है, उसे सर्व प्रथम भगवान की पूजा, गुरू सेवा, स्वाध्याय (जिनेन्द्र के बतलाये हुये, कहे हुये वचन शास्त्रों का अध्ययन) तप, और दान यह प्रतिदिन करना चाहिये।

जैसा श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है –

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मणा सावया तेय विणा।
झाणं झमणं मुक्खं जइ धम्मे तं विणा तहा सोपि ॥११॥

जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्ति रूपेण।
समाइट्ठी सावय धम्मो सो होइ मोक्ख, मग्गरओ ॥१२॥
रयणसार

अर्थ- दान, पूजा, श्रावक का मुख्य कर्त्तव्य है।

उपर्युक्त आर्ष वाक्यों से सिद्ध हो जाता है कि जिनभक्ति उस धर्म का अंग है, जो धर्म प्राणी को संसार दुख से निकाल कर मोक्ष सुख में ले जाता है, इसलिये जो जिनभक्ति को आस्रव, बंध का कारण समझते हैं, वे मिथ्या मार्ग के पोषक हैं।

जिणचरण बुरूहं णमंति जे परम भक्ति रायणा।
जे जम्म वेल्लि मूलं खणेति वरभाव सत्थेण ॥
॥भावपाहुड, १५३॥

अर्थ- जो पुरुष परम भक्ति अनुराग करि जिनेन्द्र के चरण कमल को नमे हैं, वे श्रेष्ठ भाव रूप शास्त्र से जन्म अर्थात् संसार रूपी बेल के मिथ्यात्वादि कर्म रूपी मूल (जड़) को क्षय करै हैं। जो यह कहते हैं कि पर का ध्यान व भक्ति करना मिथ्यात्व है। उसके लिये स्वामी पूज्यपाद कहते हैं –

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परोभवति तादृशा।
वर्तिदीपं यथोपास्यं भिन्ना भवति तादृशी ॥९२॥
समाधिशतक

अर्थ – यह जीव अपने से भिन्न अरहंत, सिद्ध के स्वरूप (परमात्मा) की उपासना करके उन्हीं जैसा परमात्मा हो जाता है। जैसे बत्ती दीपक से भिन्न होकर भी दीपक की उपासना करके दीपक स्वरूप हो जाती है।

भक्तामर स्तोत्र के दसवें श्लोक में श्री मानतुंगाचार्य कहते हैं कि हे जगभूषण जगदीश्वर! संसार में जो भक्त पुरुष आपके गुणों का कीर्तन करके आपका स्तवन करते हैं, वे आपके समान भगवान बन जाते हैं; तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है, क्योंकि वह स्वामी किस काम का जो अपने दास को अपने समान न बना सके।

एकीभाव के पहले पद में आचार्य वादिराज कहते हैं हे जिनसूर्य ! आपकी भक्ति मेरे जन्म-जन्म के एकत्र किये हुये दुख देने वाले कर्मों का नाश करने के लिये समर्थ है तो ऐसा कौन-सा ताप है जो आपकी भक्ति के द्वारा नहीं जीता जा सकता है अर्थात् जिनेन्द्र भक्ति के द्वारा अनेकों भव के संचित कर्मों का नाश हो जाता है।

श्री वीरसेन स्वामी धवल व महाधवल जैसे महान ग्रन्थों में लिखते हैं –

जिनबिंब दंसणेण णिधत्ताणेकाचिदस्य वि–
मिच्छत्तादि कम्म कलापस्य खय दंसणादो ॥
धवल पु.६ पृष्ठ ४२७

अर्थ – जिनबिम्ब दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप मिथ्यात्वादि कर्म कलाप का क्षय देखा जाता है। जिससे जिनबिम्ब दर्शन प्रथम सम्यक्त्व उत्पत्ति का कारण होता है।

अरहंत णमोकारो संपहिय बंधादो असंख्येज्जगुणा कम्म खयकारा। ओति तत्व वि मुणीणां पबुत्तिप्प संगादो ॥ जयधवल पु.१ पृष्ठ ९

अर्थ – अरहंत नमस्कार तत्कालीन बंध की अपेक्षा अनन्त गुणी कर्म निर्जरा का कारण है, इसलिये अरहंत नमस्कार में मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

सर्वार्थसिद्धि में श्री पूज्यपाद आचार्य कहते हैं कि चैत्य, गुरु और शास्त्र की पूजा आदि क्रिया सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली सम्यक्त्व क्रिया है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखते हैं – 'बहुरि त्रिलोक विषें जे अकृत्रिम बिम्ब विराजे हैं। मध्यलोक विषें विधिपूर्वक कृत्रिम जिनबिंब विराजे हैं, तिनके दर्शनादिक से स्वपर भेद-विज्ञान होय, कषाय मंद होय शान्तभाव होय हैं वा एक धर्मोपदेश बिना अन्य अपने हित की सिद्धि जैसे केवली के दर्शनादिक तें होय वैसे होय है। अरहंतादि के स्तवन रूप जो भाव होय हैं सो कषायों की मंदता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिये होय हैं तातें विशुद्ध परिणाम हैं, बहुरि समस्त कषायों के मिटाने का साधन हैं। तातें शुद्ध परिणाम का कारण हैं, ऐसे अरहंतादिक परम मंगल हैं, परम इष्ट मानने योग्य हैं।'

सर्वज्ञोपदेश के अनुसार कहे गये इन आर्ष वचनों से यह सिद्ध हो जाता है कि जिनेन्द्र भक्ति से संवर, निर्जरा कर्मों का क्षय तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस पंचम काल में संहनन व बुद्धि की हीनता के कारण विशेष चारित्र तथा विशेष श्रद्धा व ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये जिनेन्द्र भक्ति ही क्रम से मुक्ति का कारण है, क्योंकि इस समय (पंचमकाल) में भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए मनुष्यों के साक्षात् मुक्ति का अभाव है। कहा भी है –

सर्वांगभावगमतः खलु तत्त्वबोधो
मोक्षाय मृतमापि संप्रति दुर्घटेनः।
जाइया तथा कुतुबु तरुत्वयि भक्तिरेव,
देवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम्॥८७१॥ पं.व.प.

हे देव ! मुक्ति का कारणभूत जो तत्त्वज्ञान है, वह निश्चयतः समस्त आगम के जानने पर प्राप्त होता है सो मंदबुद्धि होने से वह हमें दुर्लभ है। इसप्रकार मोक्ष का कारणभूत जो चारित्र है, वह भी शरीर की दुर्बलता के कारण पूर्ण पालन नहीं हो सकता, इसलिये आपकी भक्ति ही मुझे मुक्ति का कारण होवे। पूर्वोपार्जित पुण्य से जो मेरी आपमें दृढ़ भक्ति व आस्था है, वही मुझे इस संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिए जहाज के समान होवे। श्री जिनेन्द्र दर्शन व पूजन से सम्यक्त्व व मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु केवल आपके नाम मात्र से मोहनीय कर्म का नाश हो जाता है। आगम प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि जिनभक्ति, पूजा, स्तवन, स्तुति, दर्शन मात्र आस्रव-बंध का कारण नहीं है, किन्तु संवर, निर्जरा व मोक्ष का भी कारण है। इसलिए जिनपूजा, भक्ति, दर्शन प्रत्येक श्रावक का एक आवश्यक कार्य है। वीतराग देव की मूर्ति के दर्शन से उनके अनन्त गुणों का स्मरण हो उठता है, उनके माध्यम से अपनी आत्मविभूतियों का अनुभव होता है। ❑

– ऊँचा कुआ, हल्दियों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर ● फोन नं. २५६३२८९

यस्मै प्राज्ञाः कथ्यन्ते मनुष्याः, प्रज्ञामूलं द्वीन्द्रियाणां प्रसादः।
मुह्यन्ति शोचन्ति तथेन्द्रियाणि, प्रज्ञालाभो नास्ति मूढ़ेन्द्रियस्य॥

– जिस बुद्धि की बुद्धिमान लोग कामना किया करते हैं, उस बुद्धि का मूल कारण इन्द्रियों की पवित्रता है। जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ मोह और शोक में डूबी रहती हैं, उस मोहाच्छन्न इन्द्रियों वाले व्यक्ति को सद्बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती अर्थात् वह विचार शील नहीं बन सकता। – शान्ति पर्व: महाभारत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीसवीं सदी के शलाका महापुरुष आ.श्री शान्तिसागरजी महाराज और दिगम्बरत्व

❑ प्रो.(डॉ.) राजाराम जैन

बीसवीं सदी में यदि किसी दिगम्बर जैनाचार्य का प्रभावक चरित्र व्यापक रूप में छाया रहा, तो वह है प्रात:स्मरणीय युग-प्रधान आचार्य शान्तिसागरजी (सन् १८७२-१९५५) महाराज का। उनका महनीय व्यक्तित्व, तप:तेज, असाधारण प्रतिभा, दूरदृष्टि एवं सहज करुणा-भाव इतना चमत्कारपूर्ण था कि जैन ही नहीं, जैनतर भी, रंक से लेकर समृद्ध-वर्ग भी, प्रशासकों से लेकर सामान्य-वर्ग के लोग भी उनके प्रति निस्तर भक्ति-भाव से ओत-प्रोत रहा करते थे। विरोधी-गण भी उनमें विवेक जागृत होने पर प्रायश्चित्त करते हुए देखे जाते थे। भारतीय संसद के प्रथम अध्यक्ष डॉ. जी. वी. मावलंकर, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर-संचालक गुरु गोलवेलकर, विश्वविख्यात लेखक, नोबेल पुरस्कार-विजेता एवं पत्रकार डॉ. लुई फिशर आदि उनके प्रशंसकों में से थे। देशरत्न डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जी तो प्रारम्भ से ही उनके प्रति नतमस्तक रहा करते थे।

आचार्य श्री शान्तिसागरजी उन ऐतिहासिक महापुरुषों में थे, जिन्होंने अनेक सदियों की दिगम्बर-मुनि-विहीन रिक्तता की पूर्ति की है। सम्राट शाहजहाँ के परममित्र महाकवि बनारसीदास (१७वीं सदी) के "अर्धकथानक" का जिन्होंने अध्ययन किया है, वे जानते ही हैं कि उन्हें दिगम्बर जैन मुनियों की कठोर चर्या की जानकारी तो जैन-ग्रन्थों से ज्ञात थी, किन्तु उनके साक्षात् दर्शनों के लिये वे अत्यन्त व्याकुल हो उठे थे। जब उन्हें उनके दर्शन प्राप्त नहीं हो सके, तो उन्होंने अपने तीन मित्रों – चन्द्रभान, उदयकरण तथा थानसिंह के साथ एक बन्द कमरे में नग्नता धारण कर ली और एक दर्पण के सम्मुख खड़े होकर निर्विकार-मन से अपने नग्न-स्वरूप को देखकर कल्पना की थी कि दिगम्बर जैन साधु भी इसी प्रकार के होते होंगे।

यही स्थिति सम्भवत: जैन भक्ति-पदों के सर्जक महाकवि भूधरदास के समय भी रही होगी। उन्हें भी सम्भवत: उनके दर्शन नहीं हो सके थे, इसीलिये उन्होंने भी उनकी भाव-कल्पना कर उनके विषय में – " ते गुरु मेरे उर वसो..... जैसे भक्ति-भरित अनेक पद्य लिखकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति की थी।

राष्ट्रसन्त आचार्य श्री विद्यानन्दजी को, जिनके लिये कि आचार्य शान्तिसागर जी ने प्रारम्भ में ही कहा था कि – "तुम साधु बनोगे तथा साधु ही रहोगे..... अपने जीवन के प्रथम चरण में लगभग १२वर्ष तक उन्हें सान्निध्य में रहने का सुअवसर मिला था। उनके विषय में वे (आचार्य विद्यान्दजी) कहा करते हैं कि– "महामना आचार्य शान्तिसागरजी के सानिध्य में रहने से अनिर्वचनीय आनन्द एवं शान्ति मिलती थी। उनके सम्मुख बैठने से ऐसा अनुभव होता था मानों उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों ने जीवन्त रूप धारण कर लिया है और जैसे हम उन्हीं धर्मों के मध्य घिरे हुए बैठे हों।"..."आ. विद्यानन्द जी ने कई बार उनकी योग-ध्यान की मुद्रा को देखकर कहा था। कि– "महामना यो न चलात् योगत:"अर्थात् वे (शान्तिसागर जी) ऐसे महामना थे, जो योग-ध्यान से कभी भी विचलित नहीं होते थे।

कुछ लोग कहते हैं कि आचार्य शान्तिसागर जी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कठोर तपस्वी एवं सुदृढ महाव्रती तो थे किन्तु कवि नहीं। मैं विनम्रतापूर्वक उनके इस कथन के प्रति अपनी असहमति व्यक्त करना चाहता हूँ मेरी दृष्टि से वे कवि भले ही न रहे हों, किन्तु महाकवि अवश्य थे। क्योंकि सच्चा महाकवि स्वस्थ एवं संरचनात्माक कल्पनाओं का धनी होता है। गद्य, पद्य एवं चम्पू की शैलियों से भी ऊपर उठकर वह राष्ट्रहित एवं समाजहित में अपने आचार, विचार तथा अर्थ-गर्भित सांकेतिक शब्दों की अभिव्यक्ति से ऐसे युग-सन्देश देता है, जो विराट रूप धारण कर इतिहास का रूप ले लेते हैं और जो अनेक खण्डों-प्रखण्डों का रूप धारण कर स्वर्णिम भविष्य के लिये स्थायी भूमिका तैयार करते हैं जिसमें गद्य, पद्य अथवा चम्पू तथा उनके रस, छन्द एवं अलंकार आदि सभी का समाहार स्वत: ही हो जाता है।

उक्त खण्डों-प्रखण्डों का यदि विषयवार वर्गीकरण करना चाहें तो उन्हें शौरसेनी जैनागम एवं आगमेतर-साहित्य का उद्धार, सम्पादन एवं प्रकाशन, दुर्लभ अप्रकाशित पाण्डुलिपियों की खोज, सुरक्षा एवं उनका सम्पादन-प्रकाशन, पण्डित-परम्परा के निर्माण के लिये जैन पाठशालाओं के खोलने की प्रेरणा, जैन-सिद्धान्तों एवं सामाजिक कार्य-कलापों के प्रचार-प्रसार तथा सामाजिक समन्वय के लिये जैन पत्रकारिता के लिये प्रोत्साहन, जैन इतिहास के लेखन पर विशेष बल, विरोधियों एवं निन्दकों पर सहिष्णुता एवं समभाव के बल पर विजय, ग्रामों-ग्रामों, नगरों-नगरों में विहार कर अपने चमत्कारी व्यक्तित्व एवं अमृतमय-वाणी से दक्षिण का उत्तर-भारत के साथ ऐक्य आदि के रूप सूत्र-शैली में व्यक्त कर सकते हैं।

दीक्षा के पूर्व-काल में सातगौड़ाजी (आचार्य शान्तिसागर जी) इतने बलिष्ठ पहलवान थे कि उनके विरोधी-जन भी उनसे लोहा लेने में बगलें झाँकने लगते थे, किन्तु सातगौड़ा जी ने अपनी बलिष्ठता का कभी भी दुरुपयोग नहीं किया बल्कि थके माँदे कमजोरों की मदद कर उसका सदुपयोग करने में उन्हें विशेष आनन्दानुभूति ही होती थी।

दीक्षापूर्व के समय (जब वे ३२ वर्ष के थे) की ही घटना है, वे अपने मित्रों के साथ सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिये गये। उस समय पर्वत का विकास आज जैसा नहीं हो पाया था, इस कारण वह स्वाभाविक रूप से काफी ककरीला-पथरीला तथा नुकीला था। उसकी चढ़ाई उस समय काफी कठिन मानी जाती थी। अत: पर्वत-वन्दना के समय जब उनका कोई साथी थक जाता था, तो वे उसे अपने कन्धे पर बैठाकर यात्रा करा देते थे। एक साथी को तो उन्होंने अपने कन्धे पर बैठाकर २४ टोंकों की वन्दना भी कराई थी।

वैराग्य की भावना तो उनके मन में प्रारम्भ से ही थी। आचार्य विद्यानन्द जी के शब्दों में – "वे चतुर्थकालीन संस्कार लेकर जन्मे थे....."। वे अपने माता-पिता के इतने आज्ञाकारी थे कि बलवती इच्छा होने पर भी उनकी इच्छा के विपरीत उन्होंने दीक्षा धारण नहीं की और उनकी इच्छानुसार ही वे अपने गृहकार्यों-खेतीबाड़ी तथा व्यापारादि में लगे रहे।

सन् १९०९ में जब उनके पिताजी श्री भीमगौडा पाटिल (न्यायाधीश) का स्वर्गवास हो गया, तब उन्होंने ४वर्षों के लिए एक दिन के अन्तराल से निर्दोष आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की; क्योंकि उनके मन में यह भावना घर किये हुई थी–

"युवैव धर्मशील: स्यात् अनित्यं खलु जीवितम्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति।"

अर्थात् युवावस्था से ही धर्मपालन करना चाहिये क्योंकि यह जीवन विनश्वर है। यह कौन जानता है कि आज ही उसकी मरण-बेला आ जायेगी?

सुअवसर मिलते ही, उन्होंने ४१वर्ष की आयु में अर्थात् सन् १९१३ में कर्नाटक के मुनि देवेन्द्रकीर्ति जी से विधिवत् क्षुल्लक-दीक्षा लेकर कागनौली में प्रथम चातुर्मास किया।

पुन: सन् १९१७ में ऐलकपद की दीक्षा तथा सन् १९१९ में मुनिपद, तत्पश्चात् अनेक भव्यात्माओं को दीक्षित कर विशाल मुनिसंघ का यशस्वी आचार्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद धारण किया। आचार्यकल्प (१) वीरसागर जी (२) सुधर्मसागर जी, (३) नेमसागर जी, (४) चन्द्रसागर जी, (५) कुन्थुसागर जी (६) पायसागरजी, (७) नमिसागर जी (८) चन्द्रकीर्ति जी (९) धर्मसागर जी-मेवाड (१०) वर्धमान सागर जी (दक्षिण) (११) ऐलक पन्नालालजी (झालरापाटन), (१२) पिहिताश्रवणी, आदि-आदि के अतिरिक्त भी अनेक ऐसे क्षुल्लक, व्रती, श्रावक-श्राविकाएँ उनसे दीक्षित होकर उनके संघ में प्रतिष्ठित थे, जिन्होंने देश के कोने-कोने में भ्रमण कर जैनत्व की पताका दीर्घकाल तक फहराई।

आचार्य श्री जैनधर्म और समाज के कैसे संरक्षक थे, उसकी जानकारी इस घटना से मिलती है। सन् १९४८ में वे जब फलटन में चातुर्मास कर रहे थे, तभी उन्हें विदित हुआ कि तत्कालीन बम्बई सरकार ने एक ऐसा विशेष कानून बनाया है, जो जैनधर्म एवं समाज का घोर विरोधी है। उसके विरोध में आचार्य श्री ने अभी तक का रिकार्ड-तोड़ अनशन कर, सारे देश में हड़कम्प मचा दिया था और आखिर में बम्बई-सरकार को अपनी गलती महसूस करा दी थी।

आचार्य श्री अपनी दीक्षा के ४२ वर्षों के जीवनकाल में लगभग २० हजार मील से भी अधिक की पदयात्रा की थी और सभी को उपदेशामृत का पान कराते हुए कुन्थलगिरि सिद्धक्षेत्र पर ३६ दिन का सल्लेखना-व्रत ग्रहण कर भाद्रपद कृष्णा द्वितीया के दिन प्रातःकाल ६.५० बजे णमोकार-मंत्र का स्मरण करते हुए शान्तचित्त रहकर समाधि ग्रहण की।

आचार्य श्री शान्तिसागरजी के उपदेशों की शैली अत्यन्त सरल, सरस तथा लोकभुक्त दृष्टान्तों से जडित रहने के कारण श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध किये रहती थी। जैन श्रोता तो उनके भक्त रहते ही थे, जैनेतर जनता तथा राजा-महाराजा, प्रशासक अथवा नवाब भी उनके प्रति नतमस्तक रहा करते थे।

आचार्य श्री ने एक बार परिग्रह-परिमाण-व्रत पर अपने प्रवचन-प्रसंग में कहा था "प्रकृति ने परोपकार हेतु विश्व को धन-समृद्धि का वरदान दिया है और मानव को उसका संरक्षक (ट्रस्टी) बनाया है। अतः मानव को चाहिये कि वह आवश्यकता के अनुसार सीमित धन-सम्पत्ति रखकर बाकी का धन परोपकार में लगाकर अपने परिग्रह-परिमाण-व्रत को सार्थक करे।"

चतुर्विध संघ को सम्बोधित करते हुए वे आचार्य सोमदेवसूरि द्वारा लिखित यशस्तिलक चम्पू की इस पंक्ति – "नग्नत्वं सहजं लोके विकारो वस्त्रवेष्टितम्" की व्याख्या करते हुए कहा करत थे कि – "नग्नत्व ही विश्व में सहज रूप है। शरीर पर वस्त्र धारण करना उपने विकारों को ही ढँकना है। दिगम्बर जैन मुनि की चर्या, दया-करुणा की आवृत्ति तथा उनका समस्त जीवन स्वहित के साथ-साथ विश्व के हितार्थ भी समर्पित रहता है और यह सब निर्विकार-नग्नत्व के कारण ही सम्भव है। वस्तुतः यही है मानव-जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि।"

आचार्य शान्तिसागर जी की कठोर दिगम्बर-चर्या से महात्मा गांधी इतने प्रभावित थे कि एक बार उन्होंने स्पष्ट कहा था कि– "मनुष्य मात्र की आदर्श स्थिति दिगम्बरत्व (नग्नत्व) की ही है। मुझे स्वयं ही नग्नावस्था प्रिय है।"

वस्तुतः नग्नावस्था ही प्राकृतिक जीवन है। जैनाचार्यों ने इसीलिए उसे 'यथाजात' (जधजात) कहा है। विश्व के प्रायः सभी प्रमुख धर्मों में अपनी-अपनी मान्यतानुसार उसकी प्रशंसा की गई है। तुर्किस्तान में अब्दान नामक एक दरवेश था, जो मदारजात (यथाजात-जधजात) अर्थात् नग्न रहकर ही अपनी साधना में लीन रहा करता था।

इस्लाम के इतिहास में अनेक दरवेशों (नग्न-फकीरों) की चर्चाएँ मिलती हैं, जिनमें सरमद नामक एक दरवेश का उदाहरण अत्यन्त प्रसिद्ध है। वह सम्राट औरंगजेब का समकालीन था। वह दिल्ली की सड़कों पर घूम-घूम कर अध्यात्मवाद का प्रचार करता रहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था। सुप्रसिद्ध योरुपीय घुमक्कड-इतिहासकार डॉ. बर्नियर उस समय भारत आया हुआ था और उसका उससे वार्तालाप भी हुआ था। सरमद की लोकप्रियता देखकर एक ईर्ष्यालु दरबारी ने औरंगजेब से उस दरवेश को फांसी की सजा सुनाने की प्रार्थना की, किन्तु उसने सरमद को फांसी की सजा न सुनाकर उसे कपड़े पहिनने की सलाह दी। उस सलाह को सुनकर सरमद ने जो सुन्दर तथा निर्भीक उत्तर दिया, वह उसी के शब्दों में देखिए –

"आंकस कि तुरा कुलाह सुलतानी दाद, मारा हम ओ असवाव परेशानी दाद, पोशानीद लवास हरकरा एंबे दीद, बे ऐवा रा लवास अर्यानी दाद।"

अर्थात् जिसने तुझको सुलतानी ताज दिया, उसी ने हम को परेशानी का सामान भी दे दिया। जिस किसी में कोई ऐब (दोष) पाया, उसको तो उसने लिबास (पोशाक) पहिना दिया और जिसमें कोई ऐब न पाया, उसको खुश होकर उसने नंगेपन (दिगम्बरत्व) का लिबास दे दिया।

यही नहीं, क्रिश्चियेनिटी (ईसाई धर्म) में तो प्रारम्भ से ही दिगम्बरत्व की बड़ी प्रतिष्ठा रही है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. बी. एन. पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ – "भारत और मानव-संस्कृति" इसरायल एवं यूनान में सहस्रों की संख्या में दिगम्बर जैन मुनियों की उपस्थिति की विस्तार पूर्वक चर्चा की है। बाइबिल में एक प्रसंग में कहा है – ".....And he stripped his clothes also and prophesied before samuel in like manner and lay down naked all that day and all that night. Wherefore they said, is Samual also among the prophes? - samuel, XIX-XXIV

At the same time spake the Lord by Isaih the son of Amoz, Saying - 'Go and Loose the sack....clothe from off thy lions and put off thy shoes from thy foot. And did so walking naked and bare foot.

- Isaih,XX-2

अर्थात् उसने उनका आदेश सुनते ही अपने वस्त्र उतार फेंके और सेम्युअल के सम्मुख ऐसी घोषणा कर दी और उस दिन पूरे दिन-रात वह नग्न ही बना रहा। इस पर उन्होंने कहा – 'क्या सेम्युअल भी पैगम्बरों में से है?'

उसी समय प्रभु ने अमोज के पुत्र ईसाइया से कहा कि – "जा और अपने वस्त्र उतार दे और अपने पैरों से जूते निकाल डाल और उसने भी तत्काल वही किया भी। उसी समय से वह दिगम्बर (नग्न) होकर नंगे पैरों से ही जगह-जगह विचरने लगा।"

दुर्भाग्य से बीसवीं सदी की विदेशी कृत्रिम संस्कृति इतनी प्रभावक सिद्ध हो रही है कि उसने भारत की अधिकांश जनता को अपनी चपेट में ले लिया है। किन्तु कृत्रिमता कभी भी स्थायी नहीं होती। धीरे-धीरे लोगों में विवेक का भी उदय हो रहा है और सम्भवत: उससे विरक्ति भी होने लगी है, भले ही उसकी गति अत्यन्त धीमी हो किन्तु एक दिन ऐसा भी अवश्य आयेगा कि लोग अपनी सहज स्वाभाविक स्थिति में लौटेंगे।

हेम्पशायर के बेडल्स स्कूल के सचिव श्री बरफोर्ड के अनुसार योरुप में अनेक इंजीनियर्स, प्रोफेसर्स, डॉक्टर्स, एडवोकेट्स आदि उच्चशिक्षा-प्राप्त व्यक्ति दिगम्बरवेश में रहना अपने लिये अधिक हितकारी मानने लगे हैं। एक प्रसंग में उनका कथन है कि – "Next year, as I say we shall be even more advanced and in time people will get quite used to the idea of mearing no clohes at all in the open and will realise its enormous aslue to health" - Amrita Bazar Patrika - 8/8/1931 अर्थात् एक वर्ष के भीतर ही ऐसा प्रतीत हो रहा है कि नग्न रहने की प्रथा विशेष रूप से विकसित हो जायेगी और कालक्रमानुसार मनुष्यों को खुले रूप से कपड़े पहिनने की जरूरत ही नहीं रहेगी। नग्न रहने से उन्हें स्वास्थ्य के लिये जो अचिन्तनीय लाभ मिलेगा, वह उन्हें तभी स्पष्ट ज्ञात हो सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लायसन (स्विट्जरलैण्ड) के सुप्रसिद्ध डॉक्टर रोलियर ने दिगम्बरत्व का गहन अध्ययन कर नग्न चिकित्सा-पद्धति का ही प्रचलन कर दिया है और अपनी इस चिकित्सा-पद्धति से अनेक प्रकार के रोगों का इलाज कर संसार में हलचल ही मचा दी है। उनका कथन है कि – "हमारी चिकित्सा प्रणाली के प्रमुख अंग हैं – (१) स्वच्छ वायु-सेवन, (२) नग्न रहकर धूप-सेवन, (३) नग्न रहकर भ्रमण एवं (४) नग्न रहकर दौड़ना।"

इनसाइक्लोपीडिया-ब्रिटैनिका में भी दिगम्बरत्व के पक्ष में सुन्दर विचार व्यक्त किये गये हैं। डॉक्टरों का यह दीर्घकालीन अनुभव है कि जब से मनुष्य स्वाभाविक (यथाजात) जीवन छोड़कर वस्त्रों में लिपटते गये, तभी से वे जुखाम, खाँसी, ज्वर एवं क्षय जैसी बीमारियों के शिकार होते गये और अल्पजीवी होने लगे।

जर्मनी के गेलेण्डे (Gelende) में तो एक ऐसा स्थान बनाया गया है, जहाँ सैकड़ों नर-नारियाँ निर्विकार मन से नग्न रहते हुए उक्त पद्धति से स्वास्थ्य लाभ करने लगे हैं।

इस प्रकार देश-विदेश के अनेक जैनेतर विद्वानों एवं चिकित्सकों ने दिगम्बरत्व की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। दुर्भाग्य से हम लोग अपने ही दिगम्बरत्व की गरिमा एवं महिमा भूलते जा रहे थे, किन्तु धन्य हैं वे प्रातःस्मरणीय चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराज, जिन्होंने इस सदी में अवतरित होकर हमारे में उस सिद्धान्त के विस्मृत गौरव को पुनः जागृत कर दिया है और हम अपने माथे को उन्नत कर गर्व के साथ रह रहे हैं।

यह परम प्रसन्नता का विषय है कि आचार्य-प्रवर पूज्य विद्यानन्दजी की प्रेरणा से समग्र जैनसमाज १९/७/०३ से उत्कृष्ट चारित्र एवं संयम के पावन प्रतीक चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी की १३१वीं जयन्ती पूरे एक वर्ष तक "संयम-वर्ष" के रूप में मनाया। समाज के सर्वांगीण विकास के ऐतिहासिक क्रम का यह एक विशेष अध्याय का रूप धारण करेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। ❐

– बी-५/४०, सी. सेन्टर ३४, धवलगिरि, पो. नोयड़ा (उ.प्र.)

बहुगाणं संवेगो जायदि सोमत्तणं च मिच्छाणं।
मग्गो य दीविदो भगवदो य आणाणुपालिया होदि॥२४८॥

अर्थ – बाह्य तप के प्रभाव से बहुत जीवों को संसार से भय उत्पन्न होता है। जैसे एक को युद्ध के लिये सजा तैयार देखकर अन्य अनेक जन भी युद्ध के लिये उद्यमी हो जाते हैं। वैसे ही एक को कर्म नाश करने में उद्यमी देखकर अनेक जन कर्म नाश करने के लिये उद्यमी हो जाते हैं तथा संसार पतन से भयभीत हो जाते हैं और मिथ्यादृष्टि जीवों के भी सौम्यता उत्पन्न होती है/सन्मुख हो जाते हैं। मार्ग/मुक्ति का मार्ग प्रकाशित होता है वा मुनि मार्ग दीपता हुआ प्रगट, दिखता है एवं भगवान की आज्ञा का पालन भी हो जाता है। अतः भगवान की यह आज्ञा है कि तप बिना काम, निद्रा, इन्द्रिय, विषय, कषाय नहीं जीते जाते, तप से ही कामादि जीते जाते हैं, और परमनिर्जरा करते हैं। इसलिए जिसने तप किया उसने भगवान की आज्ञा अंगीकार की।

– भगवती आराधना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्री शान्तिसागरजी का चरम मांगलिक प्रवचन

□ डॉ. सुदीप जैन

"करजोर भूधर बीनवै कब मिलिहिं वे मुनिराज,
यह आस मन की कब फलै, मम सरहिं सगरे काज।
संसार विषम विदेश में जे बिना कारण वीर,
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहु पातक पीर॥"

कविवर भूधरजी की इन पंक्तियों में अभिव्यक्त उद्‌गार न केवल दिगम्बर विरागी सन्तों के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा और भक्ति को ज्ञापित करते हैं, अपितु यह भी सूचित करते हैं कि उनके काल में ऐसे सन्तों के दर्शन प्राय: अप्राप्य थे।

यहाँ तक कि आचार्य श्री शान्तिसागरजी के पहले भी जिन चार आदिसागरजी नामवाले पूज्य मुनिराजों की चर्चा प्राप्त होती है, वे चारों ही परमपूज्य आचार्य श्री शान्तिसागरजी मुनिराज के समान वीतराग धर्म के प्रभावक नहीं बन पाये थे। वैयक्तिक साधना में उनका वैशिष्ट्य नि:सन्देह अनुपम था, किन्तु राष्ट्रीय स्तर पर विरागी-दिगम्बर सन्त के रूप में वीतराग धर्म की प्रभावना का जैसा अतुलनीय कार्य आचार्यश्री शान्तिसागरजी के द्वारा हुआ, वैसा अन्य किसी से सम्भव नहीं था। इसीलिए लुप्तप्राय: श्रमणचर्या के वे युगप्रवर्तक कहे गए। इसके साथ ही उग्र तपस्वियों के जिस अतिशय महिमावन्त तप का वर्णन हम आगमग्रन्थों में पढ़ते हैं, उनको अपने जीवन में जीवन्त करके अत्यन्त सहज चर्या के रूप में जिस प्रकार से उन्होंने चरितार्थ किया, उसके कारण चतुर्विध संघ द्वारा कृतज्ञतापूर्वक दिया गया चारित्र चक्रवर्ती पद भी पूर्णतया सटीक और सार्थक सिद्ध होता है।

उनके समय के प्रत्यक्षदर्शी धर्मप्राण श्रावक के द्वारा कहे गए ये वचन उनके समग्र व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करते हैं। "सौ बात की एक बात है कि सैकड़ों कर्मठ विद्वानों के सैकड़ों वर्षपर्यन्त रात-दिन अथक् परिश्रम करने पर जो समाजोत्थान एवं समाज कल्याण का कार्य अति कठिनता से हो सकता था, वह त्यागमूर्ति आचार्य श्री शान्तिसागरजी के विहार से कुछ ही दिनों में सरलतया हो रहा है।"

मंगलाचरण का वैशिष्ट्य – आचार्य श्री के अन्तिम उपदेश के प्रारम्भ में पूज्य आचार्यश्री ने एक अद्‌भुत मंगलाचरण प्रस्तुत किया है, जिसमें तीन तो ऐसे महामन्त्र हैं, जिनका विवेचन विशेषज्ञ विद्वान् ही कर सकते हैं। वे हैं – ॐ सिद्धाय नम:, ॐ जिनाय नम:, ॐ अर्हं सिद्धाय नम:। इसके बाद उन्होंने मंगलाचरण के समस्त पक्षों और उद्देश्यों को समाविष्ट करते हुए छह मंगल स्मरण रूप वंदन किए हैं।

इनमें प्रथम वंदन में कर्मभूमियों के अर्थात् ढाई द्वीप के पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों के भूत काल, भविष्य काल और वर्तमान काल की तीस चौबीसियों के सात सौ बीस तीर्थंकरों को वन्दन किया गया है, तथा द्वितीय वन्दन में विदेह क्षेत्र में विद्यमान बीस तीर्थंकर भगवन्तों को वन्दन किया गया है। इसप्रकार इन दो वन्दनों में इष्टदेवता स्मरण का अनुपालन हुआ है। इसके बाद वन्दन में वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकरों के प्रधान शिष्यों गणधरों को वन्दन कर विशिष्ट गुरु परम्परा का मंगल स्मरण करते हुए कृतज्ञता ज्ञापन का अनुपालन किया है। इसके साथ ही शेष तीव्र वन्दनों में क्रमश: ऋद्धिधारी मुनिराजों, अंत:कृत मुनिवरों एवं घोरोपसर्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विजयी मुनिराजों को उस शिष्टाचार परिपालन के रूप में वन्दित किया गया है, जिनके अनुगामी अथवा यथाशक्ति अनुसरणकर्ता वे नम्रतापूर्वक अपने आपको मानते थे। इस स्मरण को उनकी उग्र तपस्या की भावी सीढ़ी भी सम्भावित किया जा सकता है।

जिनवाणी की महिमा – मंगलाचरण के उपरान्त आचार्यश्री ने द्वादशांग जिनवाणी का महिमागान करते हुए उसे आत्महित का अन्यतम साधन बताया है। उन्होंने कहा कि जिनवाणी सरस्वती देवी अनन्त समुद्रप्रमाण है, उनके अनुसार जो जिनधर्म को धारण करेगा, उसका कल्याण निश्चित है। यदि जिनवाणी माँ के एक अक्षर ॐ को भी अपने जीवन में उतार लिया जाए तो भी जीव का कल्याण हो सकता है।

जिनधर्म की उदारता एवं प्रभाव – जिनवाणी की महिमा के बाद जिनधर्म की महिमा का गान पूज्य आचार्य श्री ने अनेक दृष्टान्तों के साथ किया है। सर्वप्रथम वे कहते हैं कि शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखरजी पर अपनी नटखट एवं चंचल क्रीड़ाओं के द्वारा काल व्यतीत करने वाले दो बन्दरों ने मात्र णमोकार मन्त्र के श्रवण से अपनी गति सुधारी और तिर्यंचगति से देवगति को प्राप्त हुए। इसके बाद सेठ सुदर्शन का दृष्टान्त देते हैं, जिसमें एक बैल को दिये गये उपदेश से उसकी देवगति प्राप्ति का वर्णन है। इसी प्रकार सप्त व्यसनों के विकट जाल में फँसे हुए अंजनचोर को भी णमोकार मन्त्र के प्रभाव से सुगतिगमन का वर्णन करते हैं। वीतराग धर्म के प्रभाव की पराकाष्ठा को बताते हुए वे कहते हैं कि कुत्ते जैसा निकृष्ट तिर्यंच भी जीवन्धरकुमार का उपदेश सुनकर देवगति को प्राप्त हुआ। इन सब जीवों की देवगति प्राप्ति कहने में आचार्यश्री का यह अभिप्राय कतई नहीं है कि जिनधर्म और जिनवाणी के श्रवण से मात्र देवगति मिलती है, अपितु वे कहना चाहते हैं कि ये जीव जिनधर्म के प्रभाव से देवगति प्राप्त करते हुए परम्परा से मोक्ष को प्राप्त हुए। इस प्रकार जब ऐसे तिर्यंच जीव भी जिनधर्म के प्रभाव से आत्मकल्याण कर सकते हैं तो वीतराग जैनकुल में उत्पन्न श्रावकों के द्वारा यदि इस पतित पावन जैनधर्म को श्रद्धापूर्वक अपनाया जाएगा तो उन्हें अवश्य ही मोक्षप्राप्ति होगी। इसप्रकार उन्हें जिनधर्म की महिमा और उनके कल्याण का दृढ़ आश्वासन देते हुए पूज्य आचार्यश्री ने यह बताया कि यदि आत्मकल्याण करना ही है तो वीतरागी देव-गुरु-धर्म में दृढ़ श्रद्धान रखना होगा।

जिनप्रणीत वस्तु-व्यवस्था के विवेचन का सार : भेदविज्ञान – इसप्रकार भव्य जीवों को उनके अवश्यम्भावी कल्याण के प्रति दृढ़ता से आश्वस्त करते हुए पूज्य आचार्यश्री ने जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा वर्णित वस्तुव्यवस्था में जीवादि द्रव्यों का संक्षिप्त उल्लेख किया और विशेष रूप से जीव और पुद्गल के भिन्न-भिन्न लक्षण बताए। इस उद्देश्य से जीवों को अनादिकाल से पुद्गलों के प्रति एकत्व और ममत्व की जो अनिवार भ्रान्ति है, उसे वे दूर करना चाहते हैं और भेदविज्ञान का महामन्त्र देना चाहते हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि पुद्गल से आत्मा के भेदविज्ञान के बिना यह जीव मोहनीय कर्म का बन्ध करता हुआ संसार में भटक रहा है तथा इस मनुष्य भव की सार्थकता आत्महित साधनरूप पुरुषार्थ करने में है और इस पुरुषार्थ की सिद्धि भेदविज्ञान के द्वारा ही हो सकती है।

यद्यपि अपने अज्ञानमय भावों से संसारी जीव आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियों का बन्ध करता है, फिर भी एकमात्र मोहनीय कर्म के दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय रूप अंशों के प्रभाव से जीव के जो परिणाम होते हैं, वे ही नवीन कर्मबंध के कारण होते हैं। इसीलिए आचार्यश्री ने भेदविज्ञान की प्रेरणा के बाद भव्य जीवों को मोहनीय कर्म के प्रति विशेष रूप से सावधान किया है।

मोहकर्म की घातकता – इस बात को वे न केवल उपदेशरूप में कहते हैं, बल्कि विशेष प्रेरणा देने के लिए वे यह कहते हैं कि "मोहनीय कर्म को छोड़ो, यह मेरा आदेश भी है।"

सम्यग्दर्शन की प्रेरणा – इसके बाद मोहकर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के त्याग की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए उन्होंने सर्वप्रथम दर्शन मोहनीय कर्म अथवा मिथ्यात्व को छोड़ने की प्रेरणा दी और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। सम्यग्दर्शन को पाने के लिए उपयोगी साहित्य के रूप में उन्होंने दो टूक शब्दों में प्रमुखता से युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द के परमागम रूप ग्रन्थों को नामोल्लेखित किया। इनके साथ ही सम्यक्त्व में बाधक परिणामों की विशेषता को जानने के लिए उन्होंने करणानुयोग के प्रतिनिधि ग्रन्थ गोम्मटसार की भी सम्यग्दर्शन के लिए उपादेयता प्ररूपित की। निश्चय-व्यवहार का अभूतपूर्व संतुलन उनके इस प्ररूपण में दृष्टिगोचर होता है।

मध्यम मंगल विधान – इतना प्ररूपण करने के बाद आचार्यश्री शान्तिसागरजी मुनिराज पुनः मध्य मंगल के रूप में ॐ सिद्धाय नमः का मंगलघोष करते हैं। यह प्रकरण के परिवर्तन का भी सूचक है और मंगल-विधान को भी इंगित करता है।

आत्मचिन्तन ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है – इस प्रकार मध्यमंगल करने के बाद आचार्यश्री शान्तिसागरजी मुनिराज भव्य जीवों को आत्महित-साधन के लिए कुछ प्रायोगिक बिन्दुओं का प्ररूपण करते हैं। इनके अन्तर्गत उन्होंने सर्वाधिक वरीयता आत्म-चिन्तन को प्रदान की है। परमानन्द स्तोत्र में भी कहा गया है कि उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यात् अर्थात् निज आत्मतत्त्व का चिन्तन जीवन का सर्वोत्कृष्ट कार्य है। व्यवहारधर्म के रूप में तीर्थयात्रा आदि धार्मिक कार्यों को वे उत्कृष्ट पुण्यबन्ध का साधन तो बताते हैं, किन्तु उसे कर्म निर्जरा का साधन नहीं मानते। वे कहते हैं कि "फिर आपको क्या करना चाहिए ? दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय करना चाहिए। किससे उसका क्षय होता है ? एक आत्मचिन्तन से होता है। कर्म-निर्जरा किससे होती है? आत्मचिन्तन से होती है। अनन्त कर्मों की निर्जरा के लिए आत्मचिन्तन साधन है। आत्मचिन्तन किए बिना कर्मों की निर्जरा होती नहीं, केवलज्ञान होता नहीं, केवलज्ञान के बिना मोक्षप्राप्ति नहीं है।"

आत्मचिन्तन के प्रायोगिक निर्देश – इसके बाद वे आत्मचिन्तन के लिए कुछ प्रायोगिक निर्देश करते हुए कहते हैं कि "चौबीसों घण्टों में छह घड़ी उत्कृष्ट कही गई है, चार घड़ी मध्य मानी गई है, दो घड़ी जघन्य कही गई है। जितना समय मिले, उतना समय आत्मचिन्तन करें। कम से कम १०-१५ मिनट तो करें। आत्मचिन्तन किए बिना सम्यक्त्व प्राप्ति नहीं होती है और सम्यक्त्व प्राप्ति के बिना कर्मों का बन्धन नहीं छूटता, जन्म-मरण नहीं छूटता।"

संयम की प्रेरणा – इस प्रकार मोक्ष महल की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन का निर्देश एवं प्रेरणा दोनों प्रदान करते हुए आचार्यश्री शान्तिसागरजी मुनिराज बताते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव ही वास्तव में संयम को अंगीकार कर सकता है। वे कहते हैं कि "सम्यक्त्व होने पर संयम के पीछे लगना चाहिए। यह चारित्र मोहनीय कर्म का उदय है कि सम्यक्त्व होकर ६६ सागर तक रहता है, परन्तु मोक्ष नहीं होता। क्यों ? चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने से। इसलिए चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करने के लिए संयम को ही धारण करना चाहिए। संयम के बिना चारित्रमोहनीय कर्म का नाश नहीं होता। इसलिए कैसे भी हो, यथाशक्ति संयम अवश्य धारण करना चाहिए। इसके लिए डरो मत।"

संयम को कर्म-निर्जरा का प्रधान कारण बताते हुए वे इसे केवलज्ञान का साधक एवं सिद्धि प्रदायक बताते हैं। इतना कथन करने के बाद आचार्यश्री पुनः एक बार ॐ सिद्धाय नमः कहकर एक और मध्यमंगल करते हैं। यह मध्यमंगल स्पष्टरूप से प्रकरण परिवर्तन का परिचायक है, क्योंकि अब वे समाधि की अवस्था का प्रेरक निरूपण कर रहे हैं। वे कहते हैं कि गृहस्थों को सविकल्प समाधि होती है, जबकि मुनिराजों को पूर्ण निर्विकल्प समाधि होती है। मुनिपद के लिए निर्ग्रन्थता को अंगीकार करने की प्रेरणा वे आचार्य अमृतचन्द को लगभग चरितार्थ करते हुए देते हैं। आचार्य अमृतचन्द ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में यह स्पष्ट रूप से कहा है कि भव्य जीवों को सर्वप्रथम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनिधर्म अंगीकार करने की ही प्रेरणा देनी चाहिए। जो ऐसा नहीं करता है वह निग्रह का स्थान अर्थात् दण्ड का पात्र है। फिर यदि जीव अपनी कमजोरी से मुनिधर्म को अंगीकार करने में असमर्थता व्यक्त करे तो श्रावधर्म को अंगीकार करने की प्रेरणा देनी चाहिए।

मुनिपद का उपदेश – सम्भवत: इसी तथ्य को दृष्टिगत रखकर उन्होंने कहा कि "वस्त्र छोड़े बिना मुनिपद नहीं होता है। भाईयो ! डरो मत, मुनिपद धारण करो।" किन्तु उनके इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि बिना विचार और अभ्यास के, मात्र भावुकता में मुनिपद को अंगीकार किया जाए। यह बात प्रेरणा के रूप में ही ठीक थी, क्योंकि जब उन्होंने दीक्षागुरु से सीधे मुनिदीक्षा देने का निवेदन किया था, तो उन्होंने उन्हें पहले क्षुल्लक दीक्षा देकर निर्ग्रन्थ श्रमणाचार्य का अभ्यास कर पारंगत होने की बात कही थी और क्रमश: क्षुल्लक और ऐलक वर्षों तक अभ्यास करने के बाद उन्हें मुनिदीक्षा मिली थी। स्वयं जिस प्रक्रिया को अपनाया हो, उसका विरोध वे भला कैसे कर सकते थे। इसीलिए मुनिधर्म की प्रेरणा देने के साथ-साथ वे श्रावक के छह आवश्यक कर्मों देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान की प्रेरणा देते हैं और इन्हें असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या इन छह आरम्भ रूप कर्मों को क्षय करने के लिए आवश्यक बताते हैं। इसके साथ ही वे पुन: स्पष्ट करते हैं कि देवपूजा आदि क्रियाएँ ही व्यवहार हैं, इनसे साक्षात् मोक्ष का साधन नहीं होता। वे कहते हैं कि "छह आरम्भजनित कर्मों का क्षय करने के लिए छह क्रियाओं को करने की आवश्यकता है। यह व्यवहार हुआ। उससे यथार्थ में मोक्ष नहीं होता; ऐहिक सुख मिलेगा, पंचेन्द्रिय सुख मिलेगा, परन्तु मोक्ष नहीं मिलेगा। मोक्ष किससे मिलता है ? मोक्ष केवल आत्मचिन्तन से मिलता है। बाकी किसी भी कर्म से, क्रिया से, कार्य से और किसी कारण से मोक्ष नहीं मिलता।"

जिनवाणी शरणं – इन सब कार्यों के साधन के लिए वे पुन: जिनवाणी माँ की शरण लेने को कहते हैं, क्योंकि जिनवाणी ही गृहस्थ के लिए अपेक्षाकृत सदा उपलब्ध उपदेशक और मार्गदर्शक है।

सारांश – अन्त में अपने मंगल प्रवचन का सारांश बताते हुए वे धर्मस्य मूलं दया कहकर अहिंसामयी आचरण की प्रेरणा देते हैं और अहिंसक जीवन अपनाकर सम्यग्दर्शन अंगीकार करने और संयम का पालन करने से ही आत्महित होगा – ऐसा कहकर वे अपने मंगल प्रवचन की पूर्णता घोषित करते हैं।

आत्मकथ्य – हम विचार करें कि जिनवाणी के द्वारा प्रतिपादित समस्त तत्त्वज्ञान को एक अन्यतम आदर्श के रूप में कम से कम शब्दों में शास्त्रोक्त विधिपूर्वक जिस प्रकार इस मंगल प्रवचन में समेटा गया है, वैसा संतुलन और सारगर्भित रूप बड़े-बड़े शास्त्रियों और धुरन्धर विद्वानों, व्याख्यान वाचस्पतियों के उद्बोधनों में भी इतनी समग्रता के साथ प्राप्त नहीं होता है। कितना ही अच्छा होता कि यदि परमपूज्य आचार्यश्री शान्तिसागरजी मुनिराज के समस्त प्रवचनों को इसी प्रकार संजोकर प्रकाशित किया गया होता, तो आज उनके मंगल प्रवचनों के रूप में एक अमूल्य निधि समाज के पास होती। फिर भी, उनका यह एक प्रवचन ही समाज के लिए और भव्य जीवों के लिए आत्महितकारी मार्गदर्शन करने में पर्याप्त समर्थ है। आवश्यकता है इसके एक-एक शब्द की गहराई को बिना किसी पूर्वाग्रह के समझने और उसे निष्ठापूर्वक आत्मसात् करने की।

उनके इस मंगल प्रवचन को इस पुनीत प्रसंग में देश की ही नहीं, विश्वभर की धर्मप्राण जनता जिज्ञासापूर्वक जाने, इस दृष्टि से इसके व्यापक प्रचार की महती आवश्यकता है।

❐ बी-३२, छत्तरपुर एक्सटेंशन,
नंदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षु.जिनेन्द्र वर्णी एक सिमटा-सा विराट व्यक्तित्व

❑ प्रो.(डॉ.) सुदर्शन लाल जैन, वाराणसी

अत्यन्त क्षीणकाय, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, मौन साधक, दृढ़ संकल्पी, एकान्तप्रिय, अध्यात्मयोगी, अपरिग्रही क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी का जन्म अक्टूबर सन् १४ मई २२ में पानीपत (हरियाणा) में हुआ था। आपके पिता श्री जय भगवानजी एक ख्यातिप्राप्त वकील तथा जैन सिद्धान्तों के मर्मज्ञ थे।

आपका शरीर बचपन से ही दुर्बल और अस्वस्थ रहा है। टायफाइट ज्वर ने कई बार बचपन में आक्रमण किया। श्वास का रोग पिताजी से विरासत में मिला। सन् १९३८ में क्षयरोग के कारण आपका एक फेफड़ा हमेशा के लिए बन्द कर दिया गया। डॉक्टरों ने मांसाहार और अण्डे का प्रयोग करने की सलाह दी, परन्तु जीवन के मूल्य पर इस सलाह को आपने स्वीकार नहीं किया। आपने कांड-लीवर आयल तथा लीवर-एक्सट्रेक्ट इन्जेक्शन भी लेना स्वीकार नहीं किया। इस भय से कि कहीं कोई कदाचित् दवा में कुछ मिलाकर न खिला देवे। आपने अस्पताल की औषधि का भी त्याग कर दिया। आपकी दृढ़ संकल्प-शक्ति का प्रभाव है कि भयंकर से भयंकर झटकों के बावजूद भी आपका जर्जर शरीर नष्ट नहीं हुआ।

धर्म के प्रति झुकाव – बचपन में आपकी रुचि धार्मिक कार्यों में नहीं थी, आप न तो मन्दिर जाते थे और न शास्त्रादि पढ़ते-सुनते थे। एक बार सन् १९४९ में पूर्यषण पर्व के दिन मूसलाधार वर्षा हुई। घर के सभी लोग मन्दिर गए थे। आप काफी देर तक रोते रहे, फिर पानी में भीगते हुए मन्दिर गए तथा वहाँ गीले वस्त्रों में ही बैठकर शास्त्र सुनने लगे। अहं ब्रह्मास्मि शब्द सुनकर आपके धार्मिक विचारों ने अंगड़ाई लेना आरम्भ कर दी। फलत: शास्त्र स्वाध्याय आपके जीवन का अभिन्न अंग बन गया। शास्त्र-स्वाध्याय का ही फल है कि आपके द्वारा निम्न अमूल्य ग्रन्थों का प्रणयन हो सका।

रचनाएँ –

१. शान्तिपथप्रदर्शक (१९६०) आध्यात्मिक प्रवचनों का संग्रह। इसमें जैनधर्म और दर्शन का सांगोपांग विवेचन है। अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

२. श्रद्धा-बिन्दु (१९६१) इसमें ऋषियों के द्वारा प्रदर्शित विधि-विधानों को अन्धरूढी मानने वालों की दृष्टि का परिमार्जन है।

३. नयदर्पण (१९६५) जैन न्याय विषयक प्रवचनों का संग्रह। इसमें सप्तभंगी आदि जटिल सिद्धान्तों का सरल भाषा में सांगोपांग विवेचन है।

४. कुन्दकुन्द दर्शन (१९६६) कुन्दकुन्दाचार्य के तीन सूत्रों दंसणमूलो धम्मो, वत्थु-सहावो धम्मो तथा चरित्तं खलु धम्मो का सयुक्तिक एवं समन्वयात्मक विवेचन है, जो वेदान्त दर्शन से समानता रखता है।

५. कर्मसिद्धान्त कोश (१९६८) कर्म-सिद्धान्त का सार इसमें वर्णित है।

६. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश (१९७०) अपूर्व कोश ग्रन्थ है, जो चार भागों में ज्ञानपीठ से प्रकाशित है। इसमें वर्णीजी के व्यापक वैदुष्य का पता चलता है।

७. सत्यदर्शन (१९७२) दश दर्शनों का समन्वयात्मक परिचय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. वर्णी दर्शन (१९७४) पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी की जीवन झाँकी।

९. समणसुत्तं (१९७४) श्रीमद्भगवद्गीता तथा बाइबिल की तरह समस्त जैनों का प्रामाणिक ग्रन्थ। इसकी रचना के प्रेरक हैं राष्ट्रसन्त विनोबा भावे।

१०. पदार्थविज्ञान (१९७७) षड्द्रव्यों का वैज्ञानिक परिचय।

११. कर्मरहस्य (१९८१) कर्म सिद्धान्त का रहस्य।

अन्य ग्रन्थ –

१. जैन सिद्धान्त शिक्षण (१९७६) प्रश्नोत्तर पद्धति से जैन सिद्धान्तों का विवेचन।

२. Science towards monism (1970) पिताश्री जय भगवान के कतिपय लेखों का संकलन।

३. जैन तीर्थक्षेत्र मानचित्र (१९७४)। समस्त जैन तीर्थक्षेत्रों का परिचय।

इन ग्रन्थों में शान्तिपथप्रदर्शक, समणसुत्तं तथा जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश बहुत प्रचलित और उपयोगी ग्रन्थ हैं। कुछ कृतियाँ अभी अप्रकाशित हैं। आपके दृढ़ संकल्प के समक्ष आपका जर्जर शरीर अति कष्टसाध्य इस साधना में रूकावट नहीं बन सका।

विराट् व्यक्तित्व – बाह्याचरण की आपने कभी उपेक्षा नहीं की। अन्तरंग साधना के साथ बाह्य साधना की ऐसी मैत्री अन्यत्र प्राय: दुर्लभ है। पौष और माघ मास की कड़कड़ाती सर्दी में भी पतली-सी धोती एवं सूती चादर से मौन-साधना करना आपकी आचार-दृढ़ता तथा कष्ट-सहिष्णुता की साक्षी है। वज्रादपि कठोराणि मृदुनि कुसुमादपि आत्मसाधना में वज्र से भी अधिक कठोर थे तथा परोपकार में फूल से भी अधिक सुकुमार थे।

इलेक्ट्रिक तथा वायरलैस प्रौद्योगिकी में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी तथा कलकत्ता में सन् १९५१ में एम. ई. एस. कान्ट्रक्टर भी हो गए थे। साधनों की सुलभता और अच्छे व्यापार के बावजूद जब सांसारिक माया में मन न रमा तो अपने दोनों छोटे भाईयों को सब सम्पत्ति सम्हलवाकर सन् १९५७ में अणुव्रत धारण करके गृह त्याग दिया। आध्यात्मिक सन्त क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी का सानिध्य पाकर ईसरी में सन् १९६१ में क्षुल्लक दीक्षा ले ली। कालान्तर में अस्वस्थता के कारण क्षुल्लक अवस्था को सरस्वती की आराधना में अनुकूल न देखकर सत्यनिष्ठापूर्वक पुन: ब्रह्मचर्य अवस्था धारण कर ली। ऐसा होने पर भी नि:स्पृहता में कोई कमी नहीं आने दी। २४ मई, सन् १९८३ को सविधि समाधिमरण पूर्वक शरीर त्याग किया।

साम्प्रदायिकता एवं रूढ़िवादिता से आप कोसों दूर रहते थे। वैज्ञानिक कसौटी से आत्मशोधन में लीन रहते थे। लोक-दिखावा से बहुत दूर रहते थे। एकान्तप्रेमी थे। सभी धर्मों के सन्तों के प्रति समताभाव रखते थे तथा उनसे विचार-विमर्श करने उनके पास जाने में हिचकिचाते नहीं थे।

बनारस नगरी में – बनारस में आपने भदैनी के छेदीलालजी के जैन मन्दिर में रहकर बहुत लम्बी ज्ञान-साधना की है।

प्रवास – वाराणसी में लगभग १५ वर्षों तक रहे, जहाँ मुन्नी बाबू, उनकी माँ, उनका परिवार तथा श्री नानकचन्द्रजी सपरिवार आपकी सेवा में सदा रहते थे। बनारस से आपका बड़ा प्रेम था। बनारस नगरी सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ तथा तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जन्मभूमि है। समीपस्थ सारनाथ ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ की तथा चन्द्रपुरी आठवें चन्द्रप्रभु की जन्मभूमि है। वर्णीजी ने सारनाथ को भी अपनी साधना का क्षेत्र बनाया था। बनारस में ही पण्डितराज गोपीनाथ कविराजजी से भी आपने कई सिद्धान्तों पर करीब एक माह तक चर्चा की। कविराजजी आपसे बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने आपकी फोटो अपने कक्ष में अनेक उच्च कोटि के सन्तों के मध्य लगवाई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री जिनेन्द्र वर्णीजी ने अपनी साधना के लगभग दो दशक वाराणसी में बिताये। यहीं रहकर आपने जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, समणसुत्तं को अन्तिम रूप दिया। कृतज्ञ समाज ने आपका एक विग्रह (स्मारक) सारनाथ में बनाया, जहाँ देश-विदेश से आने वाले पर्यटकों को उनके सम्बन्ध में थोड़ी जानकारी मिलती है।

ऐसे महामानव, जिसने अपने कृश शरीर से इतना बड़ा कार्य किया, जो अपने आचरण में सदैव ईमानदार रहे और जिन्होंने अपनी सल्लेखना-अवधि में अक्षरश: वही कर दिखाया जैसा कि आपने शांतिपथ प्रदर्शक में वर्णन किया है। ऐसे सम्प्रदायवाद से दूर रहने वाले, एकाकी, कर्मठ संत, दिखावे से दूर रहने वाले और जैन एकता (समणसुत्तं) की नींव रखने वाले की स्मृति जिज्ञासुओं के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहती है। अभी हम सब उस महान् आत्मा के सम्बन्ध में शायद कम जानते हैं, जिसकी कथनी करनी में कोई फर्क नहीं रहा और उस एक व्यक्ति ने अपने छोटे से जीवन काल में वह कर दिखाया, जिसे सैकड़ों व्यक्ति मिलकर भी शायद अंजाम न दे सकें। -- ऐसे एकाकी, सरल, शांति, क्षमाशील, कर्मठ व्यक्तित्व को हमारा शतश: नमन है। ❐

अपने भीतर झाँको

❐ धर्मचन्द जैन, सूरत

अपने भीतर झाँको करलो दूर बुराई सारी,
जिससे फिर हँस उठे खुशी से भारतमाता प्यारी।

यह शराब है जहर, इसे भूले से कभी न छूना,
पल में कर देती अबलाओं की माँगों को सूना।
जब तक घर में वास करेगी यह मदिरा मतवाली,
आ पायेगी कभी न तेरे आँगन में खुशहाली।
क्यों करती अपनी माताओं, बहनों को दुखियारी।
अपने भीतर झाँको करलो दूर बुराई सारी।।

अपनी बुद्धि और श्रमबल से लाखों करो कमाई,
लोभ पाप का बाप कभी तुम जुआ न खेलो भाई।
देख देश की दशा आँख में आँसू भर-भर आये,
ले गाँधी का नाम, लाटरी खुद सरकार चलाये।
इसी जुए में बड़े बड़ों ने सारी दौलत हारी।
अपने भीतर झाँको करलो दूर बुराई सारी।।

यह दहेज की प्रथा विवश कन्याओं की हत्यारी,
इससे नारी की मर्यादा मिली धूल में सारी।
नारी पूजित जहाँ वहीं सारे देवों की बस्ती,
कहने वाले भारत में ही नारी कितनी सस्ती।
माँ का हो अपमान अगर तो इज्जत कहाँ तुम्हारी।
अपने भीतर झाँको करलो दूर बुराई सारी।।

रक्षक भक्षक बने और है यहाँ न्याय भी अंधा,
नेताजी की शह पर होता दो नम्बर का धंधा।
है चुनाव या छीना-झपटी, लोकतन्त्र यह कैसा,
पैसा है ईमान और भगवान हमारा पैसा।
अब करलो आमूलचूल परिवर्तन की तैयारी।
अपने भीतर झाँको करलो दूर बुराई सारी।।

❐ अरिहंत टैक्सटाइल्स मार्केट, रिंग रोड, सूरत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजस्थानी जैन सन्तों की साहित्य-साधना

❑ डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल

भारतीय इतिहास में राजस्थान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक ओर यहाँ की भूमि का कण-कण वीरता एवं शौर्य के लिये प्रसिद्ध रहा है तो दूसरी ओर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के गौरवस्थल भी यहाँ पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। यदि राजस्थान के वीर योद्धाओं ने जन्मभूमि की रक्षार्थ हँसते-हँसते प्राणों को न्योछावर किया तो यहाँ होनेवाले साधु-सन्तों, आचार्यों एवं विद्वानों ने साहित्य की महती सेवा की और अपनी रचनाओं एवं कृतियों द्वारा जनता में देशभक्ति, कर्त्तव्यनिष्ठा एवं नैतिकता का प्रचार किया। यहाँ के रणथम्भौर, कुम्भलगढ़, चित्तौड़, भरतपुर, मंडोर जैसे दुर्ग यदि वीरता, देशभक्ति एवं त्याग के प्रतीक हैं तो जैसलमेर, नागौर, बीकानेर, अजमेर, जयपुर, आमेर, डूँगरपुर, सागवाड़ा, टोडारायसिंह आदि कितने ही ग्राम एवं नगर राजस्थानी ग्रन्थकारों, साहित्योपासकों एवं सन्तों के पवित्र स्थल हैं। इन्होंने अनेक संकटों एवं झंझावातों के मध्य भी साहित्य की अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखा। वास्तव में राजस्थान की भूमि पावन एवं महान है तथा उसका प्रत्येक कण वन्दनीय है।

राजस्थान की इस पावन भूमि पर अनेकों विद्वान सन्त हुए, जिन्होंने अपनी कृतियों द्वारा भारतीय साहित्य के भण्डार को इतना अधिक भरा कि वह कभी खाली नहीं हो सकता। यहाँ सन्तों की परम्परा चलती ही रही, कभी उसमें व्यवधान नहीं आया। सगुण एवं निर्गुण दोनों ही भक्ति की धाराओं के सन्त यहाँ होते रहे और उन्होंने अपने आध्यात्मिक प्रवचनों, गीत-काव्यों एवं मुक्तक छन्दों द्वारा जन-साधारण को उठाये रखा। इस दृष्टि से मीरा, दादूदयाल, सुन्दरदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इधर जैन सन्तों का तो राजस्थान सैकड़ों वर्षों तक केन्द्र रहा है। डूँगरपुर, सागवाड़ा, नागौर, आमेर, अजमेर, बीकानेर, जैसलमेर, चित्तौड़ आदि इन सन्तों के मुख्य स्थान थे, जहाँ से वे राजस्थान में ही नहीं, किन्तु भारत के अन्य प्रदेशों में भी विहार करके अपने ज्ञान एवं आत्मसाधना से जन-साधारण का जीवन ऊँचा उठाने का प्रयास करते। ये सन्त विविध भाषाओं के ज्ञाता होते थे तथा भाषा-विशेष से कभी मोह नहीं रखते थे। जिस किसी भाषा में जनता द्वारा कृतियों की मांग की जाती उसी भाषा में वे अपनी लेखनी चलाते तथा उसे अपनी आत्मानुभूति से परिप्लावित कर देते। कभी वे रास एवं कथा-कहानी के रूप में तथा कभी फागु, बेलि, शतक एवं बारहखड़ी के रूप में पाठकों को अध्यात्म-रस पान कराया करते। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी एवं गुजराती आदि सभी भाषाएँ इनकी अपनी भाषा रहीं। प्रान्तवाद के झगड़े में कभी नहीं पड़े, क्योंकि इन सन्तों की साहित्य रचना का उद्देश्य सदैव ही आत्म-उन्नति एवं जनकल्याण रहा। लेखक का अपना विश्वास है कि वेद, स्मृति, उपनिषद्, पुराण, रामायण एवं महाभारत-काल के ऋषियों एवं सन्तों के पश्चात् भारतीय साहित्य की जितनी सेवा एवं उसकी सुरक्षा जैन सन्तों ने की है उतनी अधिक सेवा किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म के साधुवर्ग द्वारा नहीं हो सकी है। राजस्थान के इन सन्तों ने स्वयं तो विविध भाषाओं में सैकड़ों हजारों कृतियों का सृजन किया ही, किन्तु अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, साधुओं, कवियों एवं लेखकों की रचनाओं को बड़े प्रेम, श्रद्धा एवं उत्साह से संग्रह भी किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक-एक ग्रन्थ की अनेकानेक प्रतियाँ लिखवा कर विभिन्न ग्रन्थ-भण्डारों में विराजमान कीं और जनता को उन्हें पढ़ने एवं स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहित किया। राजस्थान के आज सैकड़ों हस्तलिखित ग्रन्थभण्डार उनकी साहित्य-सेवा के ज्वलन्त उदाहरण हैं। जैन सन्त साहित्य-संग्रह की दृष्टि से कभी जातिवाद एवं सम्प्रदाय के चक्कर में नहीं पड़े, किन्तु जहाँ से भी अच्छा एवं कल्याणकारी साहित्य उपलब्ध हुआ वहीं से उसका संग्रह करके शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत किया गया। साहित्य-संग्रह की दृष्टि से इन्होंने स्थान-स्थान पर ग्रन्थभण्डार स्थापित किये। इन्हीं सन्तों की साहित्यिक सेवा के परिणामस्वरूप राजस्थान के जैन ग्रन्थभण्डारों में डेढ़-दो लाख हस्तलिखित ग्रन्थ अब भी उपलब्ध होते हैं। ग्रन्थसंग्रह के अतिरिक्त इन्होंने जैनेतर विद्वानों द्वारा लिखित काव्यों एवं अन्य ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं और उनके पठन-पाठन में सहायता पहुँचाई।

राजस्थान के जैन ग्रन्थ-भण्डारों में अकेले जैसलमेर के जैन ग्रन्थ-संग्रहालय ही ऐसे संग्रहालय हैं, जिनकी तुलना भारत के किसी प्राचीन एवं बड़े से बड़े ग्रंथ-संग्रहालय से की जा सकती है। उनमें अधिकांश ताड़पत्र पर लिखी हुई प्रतियाँ हैं और वे सभी राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति हैं। ताड़पत्र पर लिखी हुई इतनी प्राचीन प्रतियाँ अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है। श्री जिनचन्द्र सूरि ने संवत् १४९७ में बृहद् ज्ञानभण्डार की स्थापना करके साहित्य की सैकड़ों अमूल्य निधियों को नष्ट होने से बचाया। जैसलमेर के इन भण्डारों को देखकर कर्नल टाड, डॉ. बूह्लर, डॉ. जैकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वान एवं भाण्डारकर, दलाल जैसे भारतीय विद्वान आश्चर्यचकित रह गये। द्रोणाचार्यकृत ओघनिर्युक्ति वृत्ति की इस भण्डार में सबसे प्राचीन प्रति है जिसकी संवत् ११९७ में पाहिल ने प्रतिलिपि की थी।[1] जैनागमों एवं ग्रन्थों की प्रतियों के अतिरिक्त दण्डि कवि के काव्यादर्श की संवत् ११६१ की, मम्मट के काव्यप्रकाश की संवत् १२१५ की, रुद्रट कवि के काव्यालंकार पर नमि साधु की टीका सहित संवत् १२०६ एवं कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित की १४वीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ संग्रहीत की हुई हैं। विमल सूरि कृत प्राकृत के महाकाव्य पउमचरिय की संवत् १२०४ की जो प्रति है, वह सम्भवत: अब तक उपलब्ध प्रतियों में प्राचीनतम प्रति है। इसीतरह उद्योतन सूरिकृत कुवलय माला की प्रति भी अत्यधिक प्राचीन है, जो १२६१ में लिखी हुई है। कालिदास, माघ, भारवि, हर्ष, हलायुध, भट्टी आदि महाकवियों द्वारा रचित काव्यों की प्राचीनतम प्रतियाँ एवं उनकी टीकाएँ यहाँ के भण्डारों के अतिरिक्त आमेर, अजमेर, नागौर, बीकानेर के भण्डारों में भी संग्रहीत हैं। न्यायशास्त्र के ग्रन्थों में सांख्यतत्त्वकौमुदी, पातंजलयोगदर्शन, न्यायबिन्दु, न्यायकंदली, खंडन-खंड काव्य, गोतमीय न्यायसूत्रवृत्ति आदि की कितनी ही प्राचीन एवं सुन्दर प्रतियाँ जैन सन्तों द्वारा प्रतिलिपि की हुई इन भण्डारों में संग्रहीत हैं। नाटक साहित्य में मुद्राराक्षस, वेणीसंहार, अनर्घराघव एवं प्रबोधचन्द्रोदय के नाम उल्लेखनीय हैं। जैन सन्तों ने केवल संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य के संग्रह में ही रुचि नहीं ली, किन्तु हिन्दी एवं राजस्थानी रचनाओं के संग्रह में भी उतना ही प्रशंसनीय परिश्रम किया। कबीरदास एवं उनके पंथ के कवियों द्वारा लिखा हुआ अधिकांश साहित्य आज आमेर शास्त्रभण्डार में मिलेगा। इसी तरह पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो की महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ बीकानेर एवं कोटा के शास्त्रभण्डारों में संग्रहीत हैं। कृष्ण-रुक्मणिबेलि, रसिकप्रिया एवं बिहारी सतसई की तो गद्य-पद्य टीका सहित कितनी ही प्रतियाँ इन भण्डारों में खोज करने पर प्राप्त हुई हैं।

राजस्थान के जैन सन्त साहित्य के सच्चे साधक थे। आत्मचिन्तन एवं आध्यात्मिक चर्चा के अतिरिक्त इन्हें जो भी समय मिलता, वे उसका पूरा सदुपयोग साहित्य रचना में करते थे। वे स्वयं ग्रन्थ लिखते, दूसरों से लिखवाते एवं भक्तों को लिखवाने का उपदेश देते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी रचनाओं के अन्त में इस तरह के कार्य की अत्यधिक प्रशंसा करते। इसके दो उदाहरण देखिये –

१. जो पढइ पढावइ एक चित्तु,
सइ लिहइ लिहावइ जो णिरुत्तु।
आयण्णइं मण्णइं जो पसत्थु,
परिभावइ अहिणिसु एउ सत्थु॥
जिप्पइ ण कसायहि इंदिएहिं,
तो लियइ ण सो पासंडिएहि।
तहो दुक्किय कम्मु असेसु जाइ,
सो लहए मोक्ख सुक्खभावइ॥

– श्रीचन्द्रकृत रत्नकरण्ड

२. मनोहार प्रबन्ध ए गुंथ्यो करि विवेक।
प्रद्युमन गुण सूत्रिकरी, सब वन कुसुम अनेक॥१०॥
भवीयण गुणि कंठि करो, एह अपूरव हार।
घरि मंगल लक्ष्मी घणी, पुण्य तणो नहिं पार॥११॥
भणि भणाति सांभलि, लिखि लिखावइ एह।
देवेन्द्रकीर्ति गच्छपती कहि, स्वर्ग मुक्ति लहि तेह।

– भ. देवेन्द्रकीर्ति कृत प्रद्युम्नप्रबन्ध

इसी तरह कवि सधारु ने तो ग्रन्थ के पढ़ने, पढ़ाने, लिखने और लिखवाने का जो फल बतलाया है वह और भी आकर्षक है –

ऐहु चरितु जो वांचइ कोइ,
सो नर स्वर्ग देवता होइ।
हलुवइ धर्म्म खपइ सो देव,
मुकति वरंगणि मागइ एम्ब॥६९७॥
जो फुणि सुणइ मनह धरि भाउ,
असुभ कर्म ते दूरि हि जाइ।
जोर वखाणइ माणुसु कवणु,
तहि कहु तूसइ देव परदवणु॥
अरु लिखि जो लिखियावइ साथु,
सो सुर होइ महागुण राथु।
जोर पढावइ गुण किउ विलउ,
सो नर पावइ कंचण भलउ॥६९८॥
यहु चरितु पुन भंडारू,
जो वरु पढइ सु नर मह सारु।
तहि परदमणु तुही फल देई,
संपति पुत्तु अवरु जसु होई॥७००॥

ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने में बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। शुद्ध प्रतिलिपि करना, सुन्दर एवं सुवाच्य अक्षर लिखना एवं दिन भर कमर झुकाये ग्रन्थलेखन का कार्य प्रत्येक के लिये सम्भव नहीं था। उसे तो सन्त एवं संयमी विद्वान ही सम्पन्न कर सकते थे। इसलिये वे ग्रन्थ के अन्त में कभी-कभी उसकी सुरक्षा के लिये निम्न शब्दों में पाठकों का ध्यान आकर्षित किया करते थे –

भग्नपृष्टि कटिग्रीवा, वक्रदृष्टिरधो मुखम्।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत्॥

इन सन्तों के सुरक्षा के विशेष नियमों के कारण राजस्थान में ग्रन्थों का एक विशाल संग्रह मिलता है। कितने ही ग्रन्थ-संग्रहालय तो अब भी ऐसे हैं, जिनकी किसी भी विद्वान द्वारा छानबीन नहीं की गई है। लेखक को राजस्थान के ग्रन्थ भण्डारों पर शोध-निबन्ध लिखने के अवसर पर राजस्थान के १०० से भी अधिक भण्डारों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है।

यदि मुस्लिमयुग में धर्मान्ध शासकों द्वारा इन शास्त्रभण्डारों का विनाश नहीं किया जाता एवं हमारी ही लापरवाही से सैकड़ों-हजारों ग्रन्थ चूहों, दीमक एवं शीलन से नष्ट नहीं होते तो पता नहीं आज कितनी अधिक संख्या में इन भण्डारों में ग्रन्थ उपलब्ध होते। फिर भी जो कुछ अवशिष्ट हैं, उनका यदि विविध दृष्टियों से अध्ययन कर लिया जावे, उनकी सम्यक् रीति से ग्रन्थसूचियाँ प्रकाशित कर दी जावें तथा प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति के लिए वे सुलभ हो सकें तो हमारे आचार्यों, साधुओं एवं कवियों द्वारा की हुई साहित्य-साधना का वास्तविक उपयोग हो सकता है। जैसलमेर, नागौर, बीकानेर, चुरू, आमेर, जयपुर, अजमेर,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भरतपुर, कामा आदि स्थानों के संग्रहीत ग्रन्थभण्डारों की आधुनिक पद्धति से व्यवस्था होनी चाहिए। उन्हें रिसर्च-केन्द्र बना दिया जाना चाहिए, जिससे प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा पर रिसर्च करने वाले विद्यार्थियों द्वारा उनका सही रूप से उपयोग किया जा सके। क्योंकि उक्त सभी भाषाओं में लिखित अधिकांश साहित्य राजस्थान के इन भण्डारों में उपलब्ध होता है। यदि ताड़पत्र पर लिखी हुई प्राचीनतम प्रतियाँ जैसलमेर के ग्रन्थ भण्डारों में संग्रहीत हैं तो कागज पर लिखी हुई संवत् १३१९ की सबसे प्राचीन प्रति जयपुर के शास्त्रभण्डार में संग्रहीत है। अभी कुछ वर्ष पूर्व जयपुर के एक भण्डार में हिन्दी की एक अत्यधिक प्राचीन कृति जिनदत्तचौपाई (रचनाकाल सं. १३५४) उपलब्ध हुई है, जो हिन्दी भाषा की एक अनुपम कृति है। प्रसन्नता की बात है कि इधर १०-१५ वर्षों से भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में जैन साहित्य पर भी रिसर्च किया जाना प्रारम्भ हुआ है। विद्यार्थियों का उधर और भी अधिक झुकाव हो सकता है यदि हम इन भण्डारों को शोधकेन्द्र के रूप में परिवर्तित कर दें और उनको अपने शोधप्रबन्ध लिखने में पूरी सुविधाएँ प्रदान करें। अब यहाँ राजस्थान के कुछ प्रमुख सन्तों की भाषानुसार साहित्यिक सेवाओं पर प्रकाश डाला जा रहा है –

प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य –

जम्बूद्वीप पण्णत्ति के रचयिता आचार्य पद्मनन्दि राजस्थानी सन्त थे। इसमें २३८९ प्राकृत गाथाएँ हैं, जिनमें जम्बूद्वीप का वर्णन किया गया है। प्रज्ञप्ति की रचना बारां (कोटा) नगर में हुई थी। उन दिनों मेवाड़ पर राजा शक्ति या सक्ति का शासन था और बारां मेवाड़ के अधीन था। ग्रन्थकार ने अपने आपको वीरनन्दि का प्रशिष्य एवं बलनन्दि का शिष्य लिखा है। हरिभद्र सूरि राजस्थान के दूसरे सन्त थे जो प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के जबर्दस्त विद्वान थे। इनका सम्बन्ध चित्तौड़ से था। आगम ग्रन्थों पर उनका पूर्ण अधिकार था। इन्होंने अनुयोगद्वार सूत्र, आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, नन्दीसूत्र, प्रज्ञापना सूत्र आदि आगम ग्रन्थों पर संस्कृत में विस्तृत टीकाएँ लिखीं और उनके स्वाध्याय में वृद्धि की। न्यायशास्त्र के ये प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्होंने अनेकान्त-जयपताका, अनेकान्तवाद प्रवेश जैसे दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की। समराइच्चकहा प्राकृत-भाषा की इनकी सुन्दर कथाकृति है, जो गद्य-पद्य दोनों में ही लिखी हुई है। इसमें ९ प्रकरण हैं, जिनमें परस्पर विरोधी दो पुरुषों के साथ-साथ चलने वाले ९ जन्मान्तरों का वर्णन किया गया है। इसका प्राकृतिक वर्णन एवं भावचित्रण दोनों ही सुन्दर हैं। धूर्ताख्यान भी इनकी अच्छी रचना है। हरिभद्र सूरि के योगबिन्दु एवं योगदृष्टिसमुच्चय भी दर्शनशास्त्र की अच्छी रचनाएँ मानी जाती हैं।

महेश्वर सूरि भी राजस्थानी सन्त थे। इनकी प्राकृत भाषा की ज्ञानपञ्चमीकहा तथा अपभ्रंश की संयममंजरीकहा प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। जैन दृष्टिकोण से लिखी गई दोनों ही कृतियों में कितनी ही सुन्दर कथाएँ हैं। ज्ञानपंचमीकहा में जयसेन, नंद, भद्रा, वीर, कमल गुणानुराग, विमल, धरण, देवी और भविष्यदत्त की कथाएँ हैं। कथाएँ सुन्दर, रोचक एवं धाराप्रवाह में वर्णित हैं तथा एक बार प्रारम्भ करने के पश्चात् उसे छोड़ने को मन नहीं चाहता।

अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि हरिषेण भी चित्तौड़ के निवासी थे। इनके पिता का नाम गोवर्द्धन था। धक्कड़ उनकी जाति थी तथा श्री उजपुर से उनका निकास हुआ था। इन्होंने अपनी कृति धम्मपरिक्खा संवत् १०४४ में अचलपुर में समाप्त की थी। धम्मपरिक्खा अपभ्रंश की सुन्दर कृति है, जिसकी ११ संधियों में १०० कथाओं का वर्णन किया गया है। यह कथा-कृति जैन समाज में बहुत प्रिय रही। राजस्थान में इसका विशेष प्रचार था। इसलिए यहाँ के कितने ही ग्रन्थभण्डारों में इस कृति की पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धम्मपरिक्खा के अतिरिक्त राजस्थान के ग्रन्थ-संग्रहालयों में अपभ्रंश भाषा की १०० से भी अधिक रचनाएँ मिलती हैं। स्वयम्भू, पुष्पदन्त, वीर, नयनन्दि, सिंह, लक्ष्मण (लाखू), रइधू आदि कवियों की रचनाएँ राजस्थान में विशेष रूप से प्रिय रही हैं। यहाँ के भट्टारकों एवं यतियों ने अपभ्रंश कृतियों की प्रतिलिपियाँ करवाकर भण्डारों में स्थापित करने में विशेष रुचि ली और यह परम्परा १५वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक अधिक रही। अपभ्रंश की इन कृतियों के लिये जयपुर, आमेर एवं नागौर के भण्डार विशेषत: उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश साहित्य का अधिकांश भाग इन्हीं भण्डारों में संग्रहीत है।[१]

संस्कृत साहित्य –

राजस्थान के अधिकांश सन्त संस्कृत के भी विद्वान थे। संस्कृत साहित्य से उन्हें विशेष रुचि थी और इस भाषा में उन्होंने श्रावकों के लिए पुराण, काव्य, चरित्र, कथा, स्तोत्र एवं पूजा साहित्य का भी सृजन किया था। १७वीं शताब्दी तक संस्कृत रचनाओं को पढ़ने की जनसाधारण में विशेष रुचि रही, इसीलिए प्राकृत एवं अपभ्रंश ग्रन्थों पर भी संस्कृत में टीकाएँ एवं टिप्पण लिखे जाते रहे। किसी विषय पर यदि नवीन रचनाओं का लिखा जाना सम्भव नहीं हुआ तो प्राचीन साहित्य की प्रतिलिपियाँ करवा कर शास्त्र भण्डारों में रखी गयीं। राजस्थान के सिद्धर्षि सम्भवत: प्रथम जैन सन्त थे, जिन्होंने उपदेशमाला पर संस्कृत टीका लिखी और उपमितिभवप्रपंच कथा को संवत् ९०६ में समाप्त किया। चन्द्रकेवलिचरित इनकी एक और रचना है, जिसे इन्होंने संवत् ९७४ में पूर्ण किया था। १२वीं शताब्दी में होनेवाले आचार्य हेमचन्द्र से भी राजस्थानी जनता कम उपकृत नहीं है। इनके द्वारा लिखे हुये साहित्य का इस प्रदेश में विशेष प्रचार रहा। यही कारण है उनके द्वारा निबद्ध साहित्य दोनों ही सम्प्रदायों के शास्त्रभण्डारों में समान रूप से पाया जाता है। हेमचन्द्राचार्य संस्कृत के उद्भट विद्वान थे और उन्होंने जो कुछ इस भाषा में लिखा वह प्रत्येक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। १५वीं शताब्दी में राजस्थान में भट्टारक सकलकीर्ति का उदय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सकलकीर्ति संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। ये पहिले मुनि थे और बाद में इन्होंने अपने आपको भट्टारक घोषित किया था तथा संवत् १४४२ में गलियाकोट में एक भट्टारक गादी की स्थापना की। इन्होंने २८ से भी अधिक संस्कृत रचनाएँ लिखी, जो राजस्थान के विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों में उपलब्ध होती हैं। सकलकीर्ति के पश्चात् उनकी परम्परा में होनेवाले भट्टारक भुवनकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, भट्टारक ज्ञानभूषण, विजयकीर्ति, शुभचन्द, सकलभूषण, सुमतिकीर्ति, वादिभूषण आदि अनेक शिष्य संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान थे। इन सन्तों ने संस्कृत भाषा के कितने ही ग्रन्थ लिखे, श्रावकों से आग्रह करके ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाईं और शास्त्र-भण्डारों में विराजमान कीं। ब्रह्म जिनदास की १२ से अधिक रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें रामचरित (पद्मपुराण), हरिवंशपुराण एवं जम्बूस्वामीचरित के नाम उल्लेखनीय हैं।

भट्टारक ज्ञानभूषण की अकेली तत्त्वज्ञानतरंगिणी (सं. १५६०) उनकी संस्कृत की विद्वत्ता को बतलाने के लिये पर्याप्त है। शुभचन्द्र तो अपने समय के प्रसिद्ध भट्टारक थे। इनकी संस्कृत रचनाएँ प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रही हैं। इनकी २४ संस्कृत रचनाएँ तो उपलब्ध हो चुकी हैं। ये षट्भाषा कवि चक्रवर्ती कहलाते थे। तथा त्रिविध-विद्याधर (शब्दागम, युक्त्यागम तथा परमागम के ज्ञाता) थे। इनकी प्रसिद्ध कृतियों में चन्द्रप्रभचरित्र, करकुण्डचरित्र, कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, जीवन्धर चरित्र, पाण्डव पुराण, श्रेणिक चरित्र, चारित्रशुद्धि विधान आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आचार्य सोमकीर्ति १५वीं शताब्दी के उद्भट विद्वान थे। ये काष्ठासंघ में होनेवाले ८७वें भट्टारक थे तथा भीमसेन के शिष्य थे। इन्होंने संस्कृत भाषा में सप्तव्यसन कथा, प्रद्युम्नचरित्र एवं यशोधरचरित्र रचनाएँ कीं। तीनों ही लोकप्रिय रचनाएँ हैं और शास्त्रभण्डारों में मिलती हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान ब्र. रायमल्ल ने भक्तामर स्तोत्र की वृत्ति लिखकर अपनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत विद्वत्ता का परिचय दिया। ब्र. कामराज ने सकलकीर्ति के आदिपुराण को देखकर सं. १५६० में जय-पुराण की रचना की। सेनगण के प्रसिद्ध भट्टारक सोमसेन ने विराट नगर में शक संवत् १६५६ में पद्मपुराण की रचना की। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ योगचिन्तामणि के संग्रहकर्त्ता थे नागपुरीय तपोगच्छ सन्त हर्षकीर्ति सूरि। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम वैद्यकसार संग्रह भी है। इस ग्रन्थ की प्रतियाँ राजस्थान के बहुत से भण्डारों में उपलब्ध होती हैं।

१५वीं शताब्दी में जिनदत्तसूरि ने जैसलमेर में बृहद् ज्ञानभण्डार की स्थापना की। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इनके शिष्य कमलसंयमोपाध्याय ने संवत् १५४४ में उत्तराध्ययन पर संस्कृत टीका लिखी। इनके अतिरिक्त जैसलमेर में और भी कितने ही सन्त हुए, जो संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इधर आमेर, जयपुर, श्रीमहावीरजी, अजमेर एवं नागौर भी भट्टारकों के केन्द्र रहे। ये अधिकांश भट्टारक संस्कृत के विद्वान होते थे। इनके द्वारा लिखवाये बहुत से ग्रन्थ राजस्थान के कितने ही भण्डारों में उपलब्ध होते हैं।

हिन्दी व राजस्थानी साहित्य –

राजस्थान में हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में काव्य रचना बहुत पहिले प्रारम्भ हो गई थी। जनसाधारण की इस भाषा की ओर रुचि देखकर जैन सन्तों ने हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा को अपना लिया और इसमें छोटी रचनाएँ लिखी जाने लगी। यद्यपि १७-१८ वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में कृतियाँ लिखी जाती रही एवं संस्कृत ग्रन्थों के पठन-पाठन में जनता की उतनी ही रुचि बनी रही जितनी पहिले थी, किन्तु १३-१४ वीं शताब्दी से ही जन साधारण की रुचि हिन्दी रचनाओं की ओर बढ़ती गयी और उसमें नये-नये ग्रन्थ लिखे जाते रहे और उन्हें शास्त्र भण्डारों में विराजमान किया जाता रहा। राजस्थान में हिन्दी का प्रथम सन्त कवि कौन था, यह तो अभी खोज का विषय है और इसमें विद्वानों के विभिन्न मत हो सकते हैं, लेकिन इतना अवश्य है कि यहाँ १३ वीं शताब्दी से अपभ्रंश रचनाओं के साथ-साथ हिन्दी रचनायें भी लिखी जाने लगी। राजस्थान में जैन सन्तों ने हिन्दी को उस समय अपनाया था जब इस भाषा में लिखना विद्वत्ता से परे माना जाता था तथा इसे संस्कृत के विद्वान देशी भाषा कहकर संबोधित किया करते थे। किन्तु जैन सन्तों ने उनकी कुछ भी परवाह नहीं की और जन साधारण की इच्छा एवं अनुरोध को ध्यान में रखकर हिन्दी साहित्य का सर्जन करते रहे। पहिले यह कार्य छोटी-छोटी रचनाओं से प्रारंभ किया गया फिर रास, चरित, बेलि, फागु, पुराण एवं काव्य लिखे जाने लगे। १४ वीं शताब्दी में लिखा हुआ "जिनदत्त चौपई" हिन्दी का सुन्दर काव्य है, जो कुछ ही समय पहिले जयपुर के एक जैन भण्डार में उपलब्ध हुआ है। पद स्तवन एवं स्तोत्र भी खूब लिखे जाने लगे। फिर व्याकरण, छन्द, अलंकार, वैद्यक, गणित, ज्योतिष, नीति, ऐतिहासिक औपदेशिक, संवाद आदि विषयों को भी नहीं छोड़ा गया और इनमें अच्छा साहित्य लिखा गया। हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा का यह सारा साहित्य राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में संग्रहीत है। हिन्दी एवं राजस्थानी में लिखा हुआ इन सन्तों का साहित्य अभी अज्ञात अवस्था में पड़ा हुआ है और उस पर बहुत कम प्रकाश डाला जा सका है। राजस्थान में सैकड़ों जैन सन्त हुए हैं, जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य की महती सेवा की है, लेकिन हम प्रमादवश उनकी अमूल्य सेवाओं को भुला बैठे हैं। अब साहित्य को शास्त्र भण्डारों में अथवा आलमारियों में बंद करके रखने का समय नहीं है, किन्तु उसे बिना किसी डर अथवा हिचकिचाहट के विद्वानों एवं पाठकों के सामने रखने का है।

भरतेश्वर बाहुबली रास संभवतः प्रथम राजस्थानी कृति है, जो जैन सन्त शालिभद्रसूरि द्वारा १३वीं शताब्दी में लिखी गयी। इसमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत एवं बाहुबली के जीवन का संक्षिप्त चित्रण है। भरत एवं बाहुबली के युद्ध का रोचक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्णन है। इसके पश्चात् विजयसेनसूरि का रेवंतगिरिरास (सं. १२८८), सुमतिगणि का नेमिनाथ रास (सं. १२७०), विनयप्रभ का गौतमरास (सं. १४१२) आदि कितने ही रास लिखे गये।

१५वीं शताब्दी से तो हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य में रचनाओं की एक बाढ़-सी आ गयी। भट्टारक सकलकीर्ति ने संस्कृत में रचनाएँ निबद्ध करने के साथ-साथ कुछ रचनाएँ राजस्थानी भाषा में भी लिखीं, जिससे उस समय की साहित्यिक रुचि का पता लगता है। सकलकीर्ति की राजस्थानी रचनाओं में आराधना-प्रतिबोधसार, मुक्तावलिगीत, णमोकारगीत, सार-सिखामणि रास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सकलकीर्ति के एक शिष्य ब्रह्म जिनदास ने ६० से भी अधिक रचनाएँ लिखकर हिन्दी साहित्य में एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया। इन रचनाओं में कितनी ही रचनाएँ तो तुलसीदास की रामायण से भी अधिक बड़ी हैं। इनकी राम-सीता के जीवन पर भी एक से अधिक रचनाएँ हैं। ब्रह्म जिनदास की अब तक ३३ रासा ग्रन्थ, २ पुराण, ७ गीत एवं स्तवन, ६ पूजाएँ और ७ स्फुट रचनाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। इन रचनाओं में रामसीतारास, श्रीपाल रास, यशोधर रास, भविष्यदत्त रास, परमहंस रास, हरिवंश पुराण, आदिनाथ पुराण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भट्टारक सकलकीर्ति की शिष्य परम्परा में होने वाले सभी भट्टारकों ने हिन्दी भाषा में रचनाएँ लिखने में पर्याप्त रुचि ली।

खरतर गच्छ के आचार्य जिनराजसूरि के शिष्य महोपाध्याय जयसागर १५-१६ वीं शताब्दी के विद्वान थे। इन्होंने राजस्थानी भाषा में ३२ से भी अधिक रचनाएँ लिखीं। जिनमें विनती, स्तवन एवं स्तोत्र आदि हैं। ऋषिवर्धनसूरि की नल-दमयन्ती रास (सं. १५१२) प्रमुख रचना है। मतिसागर १६वीं शताब्दी के विद्वान थे। राजस्थानी भाषा में इनकी कितनी ही रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें धन्नाराास (सं. १५१४) नेमिनाथ वसंत, मयणरेहा रास, इलापुत्र चरित्र, नेमिनाथ गीत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ब्रह्म बूचराज १६वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि थे। मयण-जुज्झ इनकी प्रथम रचना थी, जो इन्होंने संवत् १५८४ में समाप्त की थी। इनके अन्य ग्रन्थ में संतोष तिलक जयमाल, चेतन-पुद्गल धमाल आदि उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। ये दोनों ही रूपक रचनाएँ है, जो नाटक साहित्य के अन्तर्गत आती हैं। सन्त विद्याभूषण रामसेन परम्परा के यति थे। इन्होंने सोजत नगर में भविष्यदत्त रास को संवत् १६०० में समाप्त किया था। धर्मसमुद्र गणि खरतरगच्छीय विवेकसिंह के शिष्य थे, जिन्होंने "सुमित्रकुमार रास" को जालौर में संवत् १५६७ में तथा "प्रभाकर गुणाकर चौपई" को संवत् १५७३ में मेवाड़ प्रदेश में समाप्त किया है। शकुंतला रास इनकी बहुत छोटी रचना है, जो संभवत: इस तरह की प्रथम रचना है। पार्श्वचन्द्रसूरि अपने समय के प्रभावशाली सन्त कवि थे। इन्होंने ५० से अधिक रचनाएँ राजस्थानी भाषा को समर्पित करके साहित्यसेवा का सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया। इनका जन्म संवत् १५३८ में तथा स्वर्गवास संवत् १६१२ में हुआ था। राजस्थान के अन्य सन्त कवियों में विनय समुद्र, कुशल लाभ, हरिकलश, कनकसोम, हेमरत्नसूरि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुशल लाभ खरतरगच्छ के सन्त थे। इनके द्वारा लिखी हुई "माधवानल चौपई" (संवत् १६१६) एवं "ढोला-मारवणरी चौपई" राजस्थानी भाषा की अत्यधिक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, जो लोक-कथानकों पर आधारित हैं। इसी तरह हरिकलश भी इसी खरतरगच्छ के साधु थे जो अपने समय के प्रसिद्ध विद्वानों में से थे। इनका अधिकतर विहार जोधपुर एवं बीकानेर प्रदेश में हुआ और अपने जीवन में २७-२८ रचनाएँ लिखीं। सभी रचनाएँ राजस्थानी भाषा की हैं।

१७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रह्म रायमल्ल एक अच्छे संत हुये, जिनकी हनुमत चौपई, भविष्यदत्तकथा, प्रद्युम्नरास, सुदर्शनरास आदि अत्यधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचनाएँ हैं। इन्होंने स्थान-स्थान पर घूमकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काव्य रचना की और जन साधारण का इस ओर ध्यान आकृष्ट किया। इन्होंने गढ़ हरसौर, गढ़ रणथम्भौर एवं सांगानेर आदि स्थानों का अपनी रचनाओं में अच्छा वर्णन किया है। आनन्दघन आध्यात्मिक सन्त थे। इनकी आनन्दघन बहोत्तरी एवं आनन्दघन चौबीसी उच्च स्तर की रचनाएँ हैं। विद्वानों के मतानुसार इनका जन्म संवत् १६६० एवं मृत्यु संवत् १७३० में हुई। ब्रह्म कपूरचंद ने संवत् १६९७ में पार्श्वनाथरासो को समाप्त किया था। इनके कितने ही पद मिलते हैं। इनका जन्म आनन्दपुर में हुआ था। हर्षकीर्ति भी १७वीं शताब्दी के प्रसिद्ध राजस्थानी कवि थे। ''चतुर्गति वेलि'' इनकी प्रसिद्ध रचना है, जिसे इन्होंने संवत् १६८३ में समाप्त किया था। इनकी अन्य रचनाओं में षट्लेश्याकवित्त, पंचमगति बेलि, कर्महिंडोलना, सीमंधर की जकड़ी, नेमिनाथ राजमती गीत, मोरडा आदि उल्लेखनीय हैं। इनके कितने ही पद भी मिलते हैं, जो भक्ति एवं वैराग्य रस से ओत-प्रोत हैं।

''समयसुन्दर'' राजस्थानी भाषा के अच्छे विद्वान थे। ''श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी'' के शब्दों में कवि का ज्ञान-परिसर बहुत ही विस्तृत है। वह किसी भी वर्ण्य विषय को बिना आयास के सहज ही संभाल लेता है। इन्होंने संस्कृत में २५ तथा हिन्दी-राजस्थानी में २३ ग्रन्थ लिखे। इन्होंने सात छत्तीसियों की भी रचना की। कवि बहुमुखी प्रतिभा एवं असाधारण योग्यता वाले विद्वान थे। इन्होंने सिन्ध, पंजाब, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, सौराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तों में विहार किया और उनमें विहार करते हुए विभिन्न ग्रन्थों की रचना भी की। राजस्थान में इन्होंने सबसे अधिक भ्रमण किया और अपने समय में एक साहित्यिक वातावरण-सा बनाने में सफल हुए। ये संगीत के भी अच्छे जानकार थे और अपनी रचनाओं को कभी-कभी गाकर भी सुनाया करते थे।

राजस्थान का बागड प्रदेश गुजरात प्रान्त से लगा हुआ है। इसलिए गुजरात में होने वाले बहुत से भट्टारक एवं सन्त राजस्थान प्रदेश को भी पवित्र करते अपने चरण कमलों से। यहाँ साहित्य रचना करते एवं अपने भक्तों को उनका रसास्वादन कराते। इन सन्तों में भ. रत्नकीर्ति, भ. अभयचन्द्र, भ. अभयनन्दी, भ. शुभचन्द्र, ब्रह्म. जयसागर, मुनि कल्याणकीर्ति, श्रीपाल, गणेश आदि संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा के अच्छे विद्वान थे। इनकी कितनी ही रचनाएँ रिखवदेव, डूंगरपुर, सागवाडा एवं उदयपुर के शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध हुई हैं। रत्नकीर्ति के नेमिनाथ फाग, नेमिनाथ बारहमासा एवं कितने ही पद उल्लेखनीय हैं। उनके पदों में मिठास एवं भक्ति का रसास्वादन करने को मिलता है। नेमि-राजुल के विवाह से सम्बन्धित प्रसंग पर ही इनकी रचनाओं का एवं पदों का मुख्य विषय है। एक पद देखिये –

राग – देशाख

सखि को मिलावो नेमि नरिंदा॥
ता बिन तन-मन-यौवन रजत है,
चारु चन्दन अरु चंदा॥ सखि.॥
कानन भुवन मेरे जीया लागत,
दुसह मदन को फंदा।
तात मात अरु सजनी रजनी
वे अति दुख को कंदा॥ सखि.॥
तुम तो संकर सुख के दाता,
करम काट किये मंदा।
रतनकीरति प्रभु परम दयालु,
सेवत अमर नरिंदा॥ सखि.॥

कुमुदचन्द्र की साहित्य-साधना अपने गुरु रत्नकीर्ति से भी आगे बढ़ चुकी थी। ये बारडोली के जैन सन्त के नाम से प्रसिद्ध थे। इनकी अब तक कितनी ही रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं। इनकी बड़ी रचनाओं में आदिनाथ विवाहलो, नेमीश्वर हमची एवं भरत-बाहुबली छन्द हैं। शेष रचनायें पद, गीत एवं विनतियों के रूप में हैं। इनके पद सजीव हैं। उनमें कवि की अन्तरात्मा के दर्शन होने लगते हैं। शब्दों का चयन एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ की सरलता उनमें स्पष्ट नजर आती है। एक पद देखिये –

मैं तो नरभव वादि गमायो,
न कियो जप तप व्रत विधि सुन्दर,
काम भलो न कमायो॥ मैं तो. ॥
विकट लोभ तें कपट कूट करी,
निपट विषै लपटायो।
विटल कुटिल शठ संगति बैठो,
साधु निकट विघटायो॥ मैं तो. ॥
कृपण भयो कछु दान न दीनो,
दिन दिन दाम मिलायो।
जब जोवन जंजाल पड्यो तब
परत्रिया तनु चित्त लायो॥ मैं तो. ॥
अंत समय कोउ संग न आवत
झूठहिं पाप लगायो।
कुमुदचन्द्र कहे चूक परी मोही
प्रभु पद जस नहीं गायो॥ मैं तो. ॥

इन भट्टारकों के शिष्य-प्रशिष्य भी साहित्य के परम साधक थे और उनकी कितनी ही रचनायें उपलब्ध होती हैं। वास्तव में वह युग संत-साहित्य का युग था।

इधर आमेर, अजमेर एवं नागौर में भी भट्टारकों की गादियाँ थी और वहाँ से भट्टारक अपने-अपने क्षेत्रों में साहित्य एवं संस्कृति की जागृति के लिए विहार किया करते थे। दिल्ली के भट्टारकपट्ट से आमेर का सीधा सम्बन्ध था और वहीं से नागौर एवं ग्वालियर में भट्टारकों के स्वतन्त्र पट्ट स्थापित हुए थे। भ. सुरेन्द्रकीर्ति (सं. १७२२), भ. जगत्कीर्ति (सं. १७३३) एवं भ. देवेन्द्रकीर्ति (सं. १७७०) का पट्टाभिषेक आमेर में ही हुआ था। ये सब जैन सन्त थे और साहित्य के सच्चे उपासक थे। आमेर, शास्त्र भण्डार, नागौर एवं अजमेर के भट्टारकीय शास्त्र भण्डार इन्हीं भट्टारकों की साहित्य-सेवा का सच्चा स्वरूप है।

संवत् १८०० से आगे इन सन्तों में विद्वत्ता की कमी आने लगी। वे नवीन रचना करने के स्थान पर प्राचीन रचनाओं की प्रतियों को पुन: लिखवाकर भण्डारों में संग्रहीत करने में ही अधिक व्यस्त रहे। यह भी उनकी साहित्योपासना की एक सही दिशा थी, जिसके कारण बहुत से ग्रन्थों की प्रतियाँ हमें आज इन भण्डारों में सुरक्षित रूप में मिलती हैं।

इस प्रकार राजस्थान के इन जैन सन्तों ने भारतीय साहित्य की जो अपूर्व एवं महती सेवा की, वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में लिखने योग्य है। उनकी इस सेवा की जितनी अधिक प्रशंसा की जायेगी कम ही रहेगी। ❐

सर्वज्ञ प्ररूपित जो श्रुत, उसके अर्थ में निरंतर प्रवृत्तिरूप जो भावना उससे श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है। श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है और ज्ञान की उत्पत्ति से अवगाढ़ सम्यग्दर्शन होता है तथा सर्वघाति कर्मों की निर्जरा का कारण शुक्लध्यान नामक तप होता है, यथाख्यात नामक चारित्र और परिपूर्ण इन्द्रिय संयम होता है तथा पहले जो प्रतिज्ञा धारण की थी कि मैं अपने आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप परिणामों को रचने में प्रवर्तन करता हूँ वह उपयोग की प्रतिज्ञा सुखरूप क्लेशरहित आराधना में अचलित परिपूर्ण करता हूँ। इसलिए श्रुत की भावना ही श्रेष्ठ है और जिनेन्द्र भगवान के वचन में लीन है मन जिनका तथा यत्न पूर्वक योग/तप उसकी भावना करने वाले पुरुष की रत्नत्रय में उद्यमरूप जो स्मृति/स्मरण उसे बिगाड़ने में परिषह भी समर्थ नहीं होते हैं। – भगवती आराधना, गाथा-१९९ व २०० का अर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानवीय मूल्यों के सजग प्रहरी : जैनपुराण

– पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

जैन पुराणों के मूल प्रयोजन और पावन उद्देश्यों पर ज्यों-ज्यों गहराई से दृष्टिपात करता हूँ, गंभीरता से विचार करता हूँ तो मुझे इनकी विशाल दृष्टि, भव्य भूमिका, पावन उद्देश्य न केवल मानवीय मूल्यों के सजग प्रहरी की सीमा तक ही दिखाई देते हैं, बल्कि ये जैन पुराण हमें मुक्तिमार्ग के मार्गदर्शक के रूप में भी दृष्टिगत होते हैं।

वस्तुतः जैन पुराण वर्तमान में मानव जीवन को सफल, सुखद और यशस्वी बनाने में अत्यधिक उपयोगी भूमिका निभाते हैं; क्योंकि ये मानव जगत को सदाचार का संदेश तो देते ही हैं, नैतिकता का उपदेश भी देते हैं, सत्य अहिंसा मय आचरण करने का मार्गदर्शन भी करते हैं। इतना ही नहीं ये पारलौकिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए भी सार्थक हैं; क्योंकि ये पुण्य के फल में प्राप्त क्षणिक (नाशवान) सुखद संयोग एवं दीर्घकालीन दुःखद पाप के उदय में प्राप्त फल बताकर एवं उन दुःखद संयोगों से वैराग्य उत्पन्न कराकर जीवों को मुक्तिमार्ग में लगाते हैं।

जैन पुराणों के कथानकों में शलाका पुरुषों के वर्तमान जीवन परिचय के साथ उनके अनेक पूर्वभवों की चर्चा भी होती है। उनमें बताया गया है कि वे इस वर्तमान मानव जन्म के पहले कहाँ-कहाँ किन-किन योनियों में जन्म-मरण करते हुए दुःख भुगतते रहे हैं। अपने-अपने पाप-पुण्य के अनुसार चारों गतियों में कैसे-कैसे उतार-चढ़ाव में जीते रहे हैं।

इस चर्चा से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि ये जीवात्मायें जन्म के पहले भी थे और मरण के बाद भी रहेंगे। जीवों का अस्तित्व अनादि-अनन्त है। वे कभी नष्ट नहीं होते, मात्र उनकी पर्यायें पलटती हैं।

इसी संदर्भ में जैन पुराणों में यह भी कहा गया है कि परलोक के जीवन को सुखी बनाने के लिए मानव को काम-क्रोध, मद-मोह, लोभ-क्षोभ आदि विकारी भावों से बचकर इनका नाश करके दया, क्षमा, निरभिमानता, सरलता, निर्लोभता, सत्य, शौच, संयम आदि धर्मों का पालन करना चाहिए, अन्यथा भविष्य में भव-भव में चार गति चौरासी लाख योनियों में भटकना होगा।

मानवीय मूल्यों का तात्पर्य मानव के उन उच्च एवं आदर्श गुणों से हैं, जिनका अनुकरण करने से मानवों का गौरव बढ़ता है, घर में, समाज में, राष्ट्र में सम्मान बढ़ता है, प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। ऐसे मानवीय मूल्यों के धारक व्यक्ति के हृदय में स्वाभिमान और आत्म-विश्वास पैदा होता है, उसकी सुशुप्त शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। फिर वह बड़े-से-बड़े कार्य करने में सक्षम हो जाता है।

जैनपुराण ऐसे मानवीय मूल्यों के सजग प्रहरी तो हैं हीं, और भी बहुत कुछ हैं उन पुराणों में, उनके अध्ययन, मनन, चिन्तन से यह आत्मा-परमात्मा बनने का पथ भी प्राप्त कर लेता है। जो व्यक्ति एक बार भी जैन पुराणों को श्रद्धा से पढ़ता है, उसके जीवन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथानायकों के आदर्श जीवन से प्रभावित होकर उन जैसा बनने का भाव जाग्रत हुए बिना नहीं रहता। वह यथाशक्ति वैसा ही बनने का प्रयास करने लगता है।

जैनपुराणों की मूलकथा वस्तु 169 पुण्य पुरुषों एवं 63 शलाका पुरुषों के आदर्श जीवन दर्शन पर आधारित होती है। 63 शलाका पुरुषों में 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण, 9 बलभद्र होते हैं तथा 169 पुण्य पुरुषों में 24 तीर्थंकर, 24 तीर्थंकर के 24 पिता, 24 मातायें, 24 कामदेव, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण, 9 बलभद्र, 9 नारद, 11 रुद्र, 12 चक्रवर्ती एवं 14 कुलकर होते हैं।

आचार्यों ने पुराण पुरुषों का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा है कि – ''जो पुरुष विकारों, कषायों और वासनाओं के दास न बनकर स्वावलम्बी होकर अपने रत्नत्रयधर्म को उज्ज्वल बनाते हुए आत्मविकास के क्षेत्र में वर्द्धमान होते हैं, उन जितेन्द्रिय मनस्वी मानवों को पुराणपुरुष कहते हैं।

जैनपुराणों के कथानायक ये उपर्युक्त पुण्य पुरुष ही हैं, परन्तु इनके साथ ऐसी बहुत सी उपकथायें भी होती हैं जो बीच-बीच में इन्हीं पुराण पुरुषों के परिवारजनों से सम्बन्धित होती हैं तथा इनके पूर्वभवों से सम्बन्धित होतीं है, जिनमें इन्हीं पुराण पुरुषों के पूर्वभवों में अज्ञान और कषाय चक्र से हुए पुण्य-पाप के फल के अनुसार उनके चरित्रों का चित्रण होता है, जहाँ बताया जाता है कि यदि इन तीर्थंकर जैसे पुराण पुरुषों से भी पूर्वभवों में जाने-अनजाने भूलें हुईं हैं तो उन्हें भी सागरों पर्यंत चतुर्गति के भयंकर दुःखों को भोगना ही पड़ा है। उदाहरणार्थ – भगवान महावीर ने मारीचि के भव में तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के विरुद्ध मिथ्या मत का प्रचार किया और स्वयं को तीर्थंकर तुल्य बताकर अहंकार किया तो उसके फल में उन्हें भी सागरोंपर्यंत संसार में परिभ्रमण करना पड़ा।

इन सबसे पाठकों को जहाँ उनके आदर्श जीवन से सद्गुण प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है, वहीं पापाचरण से बचने की शिक्षा भी मिलती है। इस तरह जैनपुराण जहाँ अपने आदर्श पात्रों के उत्कृष्ट चरित्रों द्वारा पाठकों के हृदय पटल पर, उनके समग्र जीवन पर ऐसी छाप छोड़ते हैं, ऐसे चित्र अंकित करते हैं जो मानवीय मूल्यों के विकास में, उनके नैतिक मूल्यों और अहिंसक आचरण में तो चार चाँद लगाते ही हैं, उन्हें रत्नत्रय की आराधना का उपदेश देकर उन्हें पारलौकिक कल्याण करने का मार्गदर्शन भी देते हैं, निगोद से निकाल कर मुक्ति तक पहुँचने का पथ प्रदर्शन भी करते हैं।

पाठकगण पद्मपुराण में राम जैसे कथा नायकों के आदर्श जीवन से प्रभावित होकर मानवीय मूल्यों के महत्व से अभिभूत होते हैं और अमानवीय कृत्य करने वाले मानकषायी रावण जैसे खलनायकों की नरक गति होने जैसी दुर्दशा देखकर उन दुर्गुणों से दूर रहने का प्रयास करते हैं।

प्रायः सभी जैन पुराणों के कथानकों में वर्तमान मानवजन्म से पूर्व जन्मों की कहानियाँ भी होतीं हैं। उनके माध्यम से अपने पूर्वकृत पुण्य-पाप के फल में प्राप्त ऐसी सुगतियों-दुर्गतियों के उल्लेख भी होते हैं, जिनमें लौकिक सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। इससे भी पाठक सजग हो जाते हैं, और मानवीय मूल्यों को अपनाने लगते हैं, ताकि भविष्य में उनकी दुर्गति न हो।

जैनपुराणों में मानवीय मूल्यों में श्रावक के आठ मूलगुणों के रूप स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह पापों का त्याग तथा मद्य-मांस-मधु का सेवन न करना बताया गया है। इनके साथ ही सात दुर्व्यसनों का त्याग करना बताया गया है। वे सात व्यसन इसप्रकार हैं –

जुआ खेलना, माँस खाना, शराब पीना, वेश्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवन, शिकार करना, चोरी करना और परस्त्री सेवन। ये सातों दुर्व्यसन दुःखदायक हैं, पाप की जड़ हैं और कुगति में ले जानेवाले हैं।

इनके अतिरिक्त अन्याय, अनीति और अभक्ष्य का सेवन न करना भी मानवीय मूल्यों में सम्मलित हैं। काम, क्रोध को जीतना इन्द्रियों के विषयों के आधीन न होना भी मानवीय मूल्यों के अन्तर्गत आते हैं। मानव के सकारात्मक मूल्यों में दया, क्षमा, निरभिमानता, सरलता, निर्लोभता, पवित्रता, सत्यता, संयमित जीवन का होना मानव के प्राथमिक कर्तव्यों में आते हैं।

इन सबकी चर्चा प्रायः सभी पुराणों में किसी न किसी रूप में मिलती है। सर्वाधिक चर्चित और लोकप्रिय जैन पुराणों में पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, आदिपुराण, उत्तरपुराण ऐसे पुराण हैं जो गाँव-गाँव में प्रतिदिन की शास्त्र सभाओं में पढ़े-सुने जाते हैं। इन सभी पुराणों में मानवीय मूल्यों की महिमा कथानायकों के आदर्श चरित्रों के माध्यम से गाई गई है। जैसे पद्मपुराण में आदर्श एवं आज्ञाकारी पुत्र के रूप में भगवान राम, भातृ प्रेम के लिए समर्पित त्याग की मूर्ति नारायण लक्ष्मण और उनके अनुज भरत तथा राम की आदर्श माता कौशल्या, पति की सहगामिनी सती सीता मानवीय मूल्यों के ज्वलन्त उदाहरण हैं। हरिवंशपुराण में तीर्थंकर भगवान नेमीनाथ, नारायण श्रीकृष्ण तथा कौरवों-पाण्डवों के राग-विराग में झूलते विविध रूप भी मानवीय मूल्यों का दिग्दर्शन कराते ही हैं।

महापुराण के प्रथम-द्वितीय भाग के रूप में आदि पुराण और उत्तर पुराण हैं, उनमें मुख्यतः 24 तीर्थंकरों के जीवन चरित्रों का विस्तृत वर्णन हैं साथ ही उनके पूर्व भवों का, 63 शलाका पुरुषों के आदर्श चरित्रों का चित्रण है। आदिपुराण में आदि तीर्थंकर आदिनाथ और चक्रवर्ती भरत तथा तपस्वी बाहूबली के समग्र जीवन की ऐसी-ऐसी घटनायें हैं जो मानवीय मूल्यों का उद्घाटन करती हुई अत्यन्त सशक्त शैली में आत्मा से परमात्मा बनने की कथा कहती हैं। पाठक उन्हें पढ़कर यह प्रेरणा लेते हैं कि हम अपने मानवीय गुणों को इसतरह विकसित करें ताकि पुनर्जन्म में हमारी अधोगति न हो और कालान्तर में हम यथाशीघ्र इस संसार सागर से पार होकर अनन्तकाल तक मुक्ति महल में जाकर रहें।

जैनपुराणों के कथनानुसार मानवीय मूल्यों की मर्यादा केवल मानव के हितों तक ही सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि प्राणि मात्र की प्राण रक्षा एवं उनके सुख-दुःख के प्रति करुणा से भरपूर भी होना चाहिए। मानवीय पीड़ा और अन्य प्राणियों की पीड़ा को समान समझना चाहिए। इसी बात की पुष्टि में मांसाहारियों को मार्गदर्शन देते हुए कहा गया है –

मनुज प्रकृति से शाकाहारी, मांस उसे अनुकूल नहीं है।
पशु भी मानव जैसे प्राणी, वे मेवा फल-फूल नहीं हैं॥

वर्तमान मानवीय मूल्यों का दंभ भरने वाले अनेक राजनेता, समाजसेवक और धर्मगुरु भी जीव-जन्तुओं के प्राण पीड़न के प्रति अत्यन्त निर्दय देखे जाते हैं। यद्यपि जैन पुराणों में भी आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा पर पूरी तरह प्रतिबन्ध नहीं है; परन्तु संकल्पी हिंसा का तो सम्पूर्ण रूप से न करने की बात अत्यन्त दृढ़ता से कही है तथा आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा से बचने के लिए सतत प्रयत्नशील रहने का उपदेश जैन पुराण देते हैं।

यहाँ ज्ञातव्य है कि सम्पूर्ण जिनागम चार अनुयोगों में विभक्त है। द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोग। समस्त पुराण साहित्य प्रथमानुयोग की श्रेणी में आता है। द्वादशांग में 'दृष्टिवाद नाम के बारहवें अंग के तीसरे भेद का नाम प्रथमानुयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने प्रथमानुयोग का स्वरूप निम्न प्रकार लिखा है –

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधि समाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः॥

अन्वयार्थ :– (समीचीनः बोधः) सम्यग्ज्ञान (प्रथमानुयोग अर्थख्यानं) प्रथमानुयोग के कथन को (बोधति) जानता है। वह प्रथमानुयोग (चरितं पुराणमपि पुण्य) चरित्र और पुराण के रूप में पुण्य पुरुषों का कथन करता है। (बोधि-समाधि-निधानं) वह प्रथमानुयोग रत्नत्रय की प्राप्ति का निधान है, उत्पत्ति स्थान है। (पुण्यं) पुण्य होने का कारण है। अतः उसे पुण्य स्वरूप कहा है।

चरित्र और पुराण का अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं कि **"एक पुरुषाश्रिता कथा चरितं'** एक पुरुष संबंधी कथन को चरित कहते हैं तथा **त्रिषष्ठि शलाका पुरुषाश्रिता कथा पुराणं** अर्थात् त्रेषठ शलाका पुरुषों सम्बन्धी कथा को पुराण कहते हैं। **'तदुभयमपि प्रथमानुयोग शब्दाभिधेयं'** चरित एवं पुराण – इन दोनों को प्रथमानुयोग कहा है।"

पुराणों के कथानकों में कथावस्तु को सर्वांगीण एवं प्रयोजनों की पूर्ति हेतु कुछ कथन काल्पनिक भी होते हैं। जैसे कि – तीर्थंकरों के कल्याणकों में इन्द्रगण आये और उन्होंने स्तुति की। यह तो सत्य है तथा इन्द्र ने स्तुति अपनी भाषा में अन्य प्रकार की थी और ग्रन्थकार ने अपनी भाषा में अन्य प्रकार से ही स्तुति करना लिखा; परन्तु स्तुति का प्रयोजन अन्यथा नहीं हुआ।

पुराणों का प्रयोजन प्रगट करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं कि "प्रथमानुयोग में तो संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है। जो जीव तुच्छबुद्धि हों, वे भी उससे धर्मसन्मुख होते हैं; क्योंकि वे जीव सूक्ष्म निरूपण को नहीं पहिचानते, लौकिक कथाओं को जानते हैं, उनके पढ़ने में उनका उपयोग लगता है। तथा प्रथमानुयोग में सरल कथन होने से उसे वे भली-भाँति समझ जाते हैं। पुराणों में महन्तपुरुषों के पुण्य-पाप की कथाएँ तो हैं, परन्तु प्रयोजन जहाँ-तहाँ पाप को छुड़ाकर धर्म में लगाने का प्रगट करते हैं; इसलिये वे जीव कथाओं के लालच से तो उन्हें पढ़ते-सुनते हैं और फिर पाप को बुरा, धर्म को भला जानकर धर्म में रुचिवंत होते हैं। इसप्रकार आत्मबुद्धियों को समझाने के लिये यह अनुयोग प्रयोजनवान है।"

इस तरह हम देखते हैं कि जैन पुराण मानवीय मूल्यों के सगज प्रहरी तो हैं ही, प्राणीमात्र की जीवन की सुरक्षा करने में मददगार, उन्हें अभयदान देने-दिलाने में सक्रिय भूमिका निभाने वाले और आत्मार्थियों को, मुमुक्षुओं को मुक्ति का मार्ग दिखाने में भी अग्रगण्य हैं।

– प्राचार्य
श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय
ए-4, बापूनगर, जयपुर – 302015

सरलार्थ :– क्रोधादि कषाय रूपी रोगों के लिए सच्ची औषधि शास्त्र है; सातिशय पुण्य परिणाम एवं पुण्यकर्म के बंध के लिए सर्वोत्तम कारण शास्त्र है; जीवादि सात तत्त्वों, छह द्रव्यों, नौ पदार्थों के सम्यक् परिज्ञान के लिए शास्त्र ही चक्षु है और इसभव तथा परभव के सर्व प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए भी शास्त्र ही है।

– योगसार प्राभृत,४२९ : आचार्य अमितगति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन एवं जैनेतर साहित्य में सीता निर्वासन

❑ डॉ. (श्रीमती) बीना अग्रवाल

रामायण हमारे देश का राष्ट्रीय महाकाव्य है। न केवल हमारे देश के विभिन्न प्रान्तों की अलग-अलग भाषाओं में रामकथा की रचना हुई अपितु सम्पूर्ण पूर्व एशिया में भी रामकथा का प्रचार-प्रसार पाया जाता है। देश, काल और भाषा की सीमाओं का अतिक्रमण कर रामचरित जन जन के मानस में प्रतिष्ठित होने के साथ ही व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों से अनुप्राणित कर रहा है। वाल्मीकि रामायण भारतीय संस्कृति में आदि काव्य के रूप में स्वीकृत है, तथापि विद्वानों के अनुसार इसकी रचना और संकलन काल में कम से कम दो तीन शताब्दियाँ लगी होंगी व कालान्तर में भी इसमें प्रक्षेप होते रहे। रामायण के सात काण्डों में से प्रथम बालकाण्ड और अन्तिम उत्तरकाण्ड को कई भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है। इस प्रकार प्रामाणिक रामचरित राम के राज्याभिषेक तक ही माना जाता है। लोकमानस तथा जनजीवन को आध्यात्मिक आदर्श एवं भक्ति के रंग में रंगनेवाले लोकनायक तुलसी ने अपने रामचरितमानस में भी राम के राज्याभिषेक व रामराज्य का ही वर्णन किया है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न कालों एवं भाषाओं में रची हुई अनेक रामकथाओं में भी सीता का निर्वासन चित्रित नहीं किया गया है। प्रस्तुत लेख में जैन एवं जैनेतर साहित्य में सीता निर्वासन की उपलब्धि एवं स्वरूप का विवेचन किया गया है।

विभिन्न भाषाओं में रचित रामकथायें और उनमें सीता निर्वासन की स्थिति –

अध्यात्म रामायण (१५०० ई.) ब्रह्माण्ड पुराण का एक अंश है। भविष्य पुराण के अनुसार रामशर्मन् अथवा रामानन्द इसके रचयिता हैं। उस काल में वेदान्तादि दर्शनों का बोलबाला था, इसलिए इस ग्रन्थ में राम का दार्शनिक सत्ता ब्रह्म के रूप में चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थ में ज्ञान, कर्म, भक्ति का समन्वय देखने को मिलता है।

कम्ब रामायण – दक्षिण भारत में महाकवि कम्बन द्वारा ११७८ ई. में तमिल भाषा में रचित रामायणम् के अनुसार राम विष्णु के अवतार हैं, वे ही प्रणव से वाच्य हैं, समस्त विश्व के आदि कारण हैं। सीता लक्ष्मी की अवतार हैं। भगवान से अभिन्न होने के कारण वे जगत् का सर्जन करने वाली एवं मोक्षदात्री हैं। सीता त्याग का प्रसंग इस ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं। रामराज्य का भी विस्तृत वर्णन नहीं है।

रंगनाथ रामायण – गोनबुद्धा रेड्डी द्वारा १३०० ई. में तेलुगु में रचित है। पिता की इच्छापूर्ति के लिए रामकाव्य का निर्माण करके और पिता विट्ठलनाथ के नाम के पर्याय द्वारा श्री रंगनाथ रामायण नाम दिया। रमणीय भावुकता से ओतप्रोत होने के साथ ही यह सरस, सुगम व सुगेय भी है। सीता निर्वास इसमें भी वर्णित नहीं है। रामेश्वरम् में शिवलिंग की स्थापना और अयोध्या में राम के राजतिलक से काव्य की समाप्ति होती है।

तोरवेरामायण – नरहरि द्वारा १५०० ई. में प्रस्तुत वाल्मीकि रामायण का कन्नड रूपांतरण है। वाल्मीकि रामायण में लवकुश राम को कथा सुनाते हैं, जबकि इस काव्य में महर्षि वाल्मीकि कुश और लव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के दशरथ द्वारा पुत्रकामेष्टि यज्ञ किए जाने के से लेकर आगे तक की कथा सुनाते हैं। राम के राज्याभिषेक और भरत को युवराज पद की प्राप्ति के साथ काव्य समाप्त होता है।

अध्यात्म रामायण -- एषुत्तच्छनकृत मलयालम भाषा में १६वीं शती में रचित रामकथा है। सीता त्याग इस ग्रन्थ में भी वर्णित नहीं है। शम्भूदेव पार्वती को रामकथा सुनाते हैं। सीता मूल प्रकृति के रूप में पति परमात्मा के सान्निध्य में जगत्सृष्टि करती है।

बंगला रामायण – १५वीं शती में कृत्तिवास द्वारा रचित है। इसमें सीता वनवास के तीन कारण १. लोकापवाद, २. रजक वृत्तान्त, ३. सीता द्वारा रावण का चित्र बनाना बताये गये हैं। लव-कुश का राम से युद्ध होता है और अन्त में सीता पाताल में समा जाती है। राम सीता आदि का चित्रण सामान्य मानव चरित्र के रूप में मिलता है। सीता निर्वासन में तारा का शाप उल्लेखनीय है।

असमीया रामायण – १५वीं शती में श्री माधव कन्दली द्वारा रचित है। सीता निर्वासन के सन्दर्भ में तारा का शाप कारण है। लव-कुश के द्वारा रामायण गान और राम परिचय के पश्चात् राम के समक्ष उपस्थित सीता भयंकर क्रोध करती है और फिर पाताल में प्रविष्ट हो जाती है।

उड़िया रामायण – १६वीं शती में बलरामदास द्वारा शिवपार्वती संवाद के रूप में रचित है। सीता की रक्षा हेतु लक्ष्मण तीन रेखाएँ खींचते हैं। तारा का शान, सीता का परित्याग व पाताल प्रवेश इसमें वर्णित है। राम के स्वर्ग प्रस्थान के समय सीता की स्वर्ण प्रतिमा वामा होकर साथ जाती है और स्वर्ग में सीता को प्रणाम कर अदृश्य हो जाती है। नाथ परम्परा का प्रभाव और तन्त्र-मन्त्र का चित्रण मिलता है। सीता निर्वासन से दुःखी राम को लक्ष्मण योगदर्शन का उपदेश देते हैं।

भावार्थ रामायण – १६वीं शती में मराठी भाषा में एकनाथ ने रचना की। सीता निर्वासन, राम के यज्ञ में लव-कुश द्वारा रामायण का गान, वाल्मीकि मुनि द्वारा सीता के पातिव्रत्य का बखान और सीता के पाताल प्रवेश एवं अन्य कारण से लक्ष्मण का भी पाताल प्रवेश वर्णित है। सीता दृढ़, साहसी और स्पष्टवादिनी है।

गिरधर रामायण – १८वीं शती में गुजराती कवि गिरधरदास ने रचना की। इसमें कृष्ण भक्ति व राम भक्ति का समन्वय देखने को मिलता है। रामकथा का समापन, श्रीकृष्णार्पणमस्तु के साथ किया गया है। सीता योगमाया व लक्ष्मीरूप एवं राम विष्णुरूप बताये गये हैं। छाया सीता का हरण होता है। सीता निर्वासन के कारण पूर्व में दिया गया शुक का शाप माना गया है।

पंजाबी रामायण – १८६८ ई-१९४६ में पंजाबी भाषा में श्री रामलभाया दिलशाद ने रचना की। रामकथा के कुछ मार्मिक और प्रभावशाली प्रसंगों का विस्तार व स्पष्टतापूर्ण वर्णन किया गया है। सीता निर्वासन, लव-कुश का जन्म, अश्वमेध यज्ञ व सीता का पाताल प्रवेश इस ग्रन्थ में वर्णित है। राम, सीता आदि का लौकिक रूप में चित्रण है। रामकथा को पारलौकिकता के रहस्यपूर्ण वातावरण से दूर लौकिकता के स्वच्छ वायुमण्डल में प्रस्तुत किया गया है।

भानुभक्तको रामायण – १९वीं शती में नेपाली भाषा में श्रीभानुभक्त द्वारा रचित है।

बौद्ध धर्म में रामकथा सम्बन्धी तीन जातक सुरक्षित हैं – दशरथ जातक, अनामकम् जातकम् एवं दशरथकथानकम्। इसमें से दशरथ जातक अधिक प्रसिद्ध हुआ है।

बौद्धों की भाँति जैनियों ने भी रामकथा को अपनाया है और यहाँ एक विस्तृत रामकथा साहित्य उपलब्ध होता है। जैन रामकथाओं के प्रमुख पात्र राम लक्ष्मण और रावण भी जैन धर्मावलम्बी माने गये हैं और इन्हें जैनियों के त्रिषष्टि महापुरुषों में भी गिना गया है। साथ ही वानर एवं राक्षसों को विद्याधर वंश की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न शाखाओं के अन्तर्गत माना गया है।

विमलसूरि का पउम चरियं (चौथी शती ई.) शुद्ध जैन महाराष्ट्री में रचित है। संस्कृत में रविषेणाचार्य ने ६६० ई. में पद्मचरित नाम से रचना की है। इसके अतिरिक्त प्राकृत में शीलाचार्य कृत चउपन्नमहापुरिसचरियं के अंतर्गत रामलक्खणचरियम् (९वीं शती), भद्रेश्वर कृत कहावली (११वीं शती) के अंतर्गत रामायणम और भवनतुंगसूरि कृत सीयाचरियं तथा रामलक्ख चरियं जैन रामकथा के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। संस्कृत में रविषेणकृत पद्मचरित (६७८ ई.), हेमचन्द्र कृत त्रिशष्टिशलाकापुरुष चरित (१२वीं शती) के अन्तर्गत जैन रामायण, हेमचन्द्र कृत योगशास्त्र की टीका के अन्तर्गत सीतारावण कथानकम्, ब्रह्म जिनदासकृत रामायण अथवा रामदेव पुराण (१५वीं शती) पद्मदेव विजयगणिकृत रामचरित (१६वीं शती) आचार्य गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, आचार्य सोमप्रभकृत लघुत्रिषष्टि शलाकापुरुष, मेधविजयगणिवरकृत लघुत्रिषष्टि शलाकापुरुष (१७वीं शती) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

इसके अतिरिक्त विभिन्न कथा ग्रन्थों में भी रामकथाएँ पाई जाती हैं। हरिषेणकृत कथा कोष (१०वीं शती) में रामायणकथानकम् (कथा नं. ८४) एवं सीता कथानकम् (कथा नं. ८९), रामचन्द्र मुमुक्षकृत पुण्याश्रवकथाकोष (१३३१ ई.) में लवकुशकथा, धनेश्वरकृत शत्रुंजय माहात्म्य के नवें सर्ग में रामकथा उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त कन्नड भाषा में नागचन्द्रकृत पम्परामायण (११वीं शती), कुमुदेन्दुकृत रामायण (१६वीं शती), देवचन्द्रकृत रामकथावतार (१८वीं शती) और चन्द्रसागरवणीकृत जिन रामायण (१९वीं शती) जैन रामकथा के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

जैन साहित्य में रामकथा के दो रूप मिलते हैं। एक पउमचरियं और रविषेणकृत पद्मपुराण का तथा दूसरा गुणभद्राचार्यकृत उत्तर पुराण का। दोनों कथाओं के स्वरूप में व्याप्त अन्तर है। जैन रामायण के रूप में पद्मपुराण की कथा को ही अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। उत्तर पुराण की कथा अत्यधिक संक्षिप्त है। उसमें राम का वनवास, पंचवटी, दण्डकवन, जटायु, शूर्पणखा, खरदूषण आदि के प्रसंगों का भी अभाव है। नारद से सीता के रूप की प्रशंसा सुनने के बाद चित्रकूट नामक वन से रावण सीता का हरण कर लेता है और उसके उद्धार के लिए लंका में राम-रावण युद्ध होता है। रावण को मारकर राम दिग्विजय कर के लौटते हैं और बनारस में राज्य करते हैं। सीता निर्वासन की कथा इसमें नहीं है। लक्ष्मण के आसध्य रोग से ग्रसित होकर मर जाने पर राम उनके पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राजपद और सीता के पुत्र अतिंजय को युवराज पद पर अभिषिक्त करके जिनदीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।

पउमचरियं में प्रारंभिक बीस सर्गों में रावण का चरित्र विस्तार से वर्णित है। वह एक धर्मभीरु जैनी है, जो जिनमंदिरों का जीर्णोद्धार करवाता है तथा पशुबलि वाले यज्ञों पर रोक लगाता है।

दशरथ और जनक की वंशावली के पश्चात् दशरथ का अपराजिता, सुमित्रा तथा कैकयी के साथ विवाह हो जाता है। राजा दशरथ युद्ध में प्राणरक्षा करने के एवज में कैकयी को वर देते हैं। राजा जनक के विदेहा नामक महारानी से पुत्री सीता व पुत्र भामण्डल का जन्म होता है। म्लेच्छों के विरुद्ध राजा जनक की सहायता के कारण राम-सीता का विवाह निश्चित होता है। सीता स्वयंवर के अवसर पर रामधनुष चढ़ाते हैं और विवाह सम्पन्न होता है। दशरथ के वैराग्य होने पर कैकेयी अपने वरदान के बल पर भरत के लिए राज्य माँग लेती है और राम, लक्ष्मण और सीता दक्षिण में चले जाते हैं। (वनवास का कारण और अवधि स्पष्ट नहीं है) कैकेयी के पश्चाताप करने पर भरत राम से राज्य स्वीकार करने का अनुरोध करते हैं और उनके अस्वीकार करने पर स्वयं शासन करते हैं। साथ ही जैन मुनि के समक्ष यह प्रतिज्ञा करते हैं कि राम के प्रत्यागम पर वे दीक्षा ले लेंगे। वनगमन का वृतान्त लोकप्रसिद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाल्मीकीय रामायण से अत्यधिक भिन्न है। राम, लक्ष्मण अनेक राजाओं को परास्त करते हैं एवं उनकी कन्याओं को विवाह में स्वीकार करते हैं। सीता हरण का प्रसंग भी कुछ अन्तर के साथ वर्णित है। चन्द्रनखा और खरदूषण के पुत्र शम्बूक ने सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति के लिए १२ वर्ष तक साधना की और जब वह उसे प्राप्त होता है, तभी संयोगवश वहाँ पहुँचे हुए लक्ष्मण उस खड्ग को उठाकर शम्बूक का सिर काट देते हैं। चन्द्रनखा विलाप करने के पश्चात् राम-लक्ष्मण की पत्नी बनने का प्रस्ताव भी रखती है। शम्बूक वध की सूचना खरदूषण एवं रावण को मिलती है, तो वे युद्ध के लिए आते हैं। रावण सीता पर आसक्त होकर उसका हरण कर लेता है। राम और सुग्रीव की मित्रता वृतान्त के अन्तर्गत राम साहसगति को मारकर सुग्रीव को उसका राज्य व पत्नी लौटाते हैं और सुग्रीव अपनी १३ कन्याओं को उन्हें समर्पित करते हैं। हनुमान लंका जाकर सीता का संदेश लाकर राम को देते हैं। युद्ध वर्णन के अन्तर्गत भी कई अंतर दिखाई देते हैं। सीता का भाई भामण्डल भी युद्ध में भाग लेता है। रावण बहुरूपा विद्या को सिद्ध करके सीता को धमकी देता है कि राम का वध करके वह सीता के साथ अवश्य रमण करेगा। किन्तु सीता का राम के प्रति अटल प्रेम देखकर वह स्वयं ही (राम को युद्ध में हराने के पश्चात्) उसे सौंपने का निश्चय करते हैं। लंका में प्रवेश करके राम सर्वप्रथम सीता से मिलते जाते हैं।

सीता के साथ राम लंका में छह वर्ष तक निवास करते हैं। अयोध्या में नारद कौशल्या को दुःखी देखकर लंका में आकर राम, लक्ष्मण, सीता से उनके दुःख का वर्णन करते हैं। राम पुष्पक विमान पर आरुढ़ होकर अयोध्या लौटते हैं।

राम राज्याभिषेक के पश्चात् लक्ष्मण शत्रुघ्न आदि राजाओं को इच्छित देश प्रदान करते हैं। राम, सीता जिन मन्दिरों में पूजा-उपासना करते हैं। कुछ प्रजाजन राम से सीता विषयक अपवाद का निवेदन करते हैं, यह समाचार लक्ष्मण को मिलने पर वे उन सभी दुष्टों को नष्ट करना चाहते हैं, किन्तु राम लोकापवाद के कारण सीता के त्याग का निश्चय कर लेते हैं। वे कृतान्तवक्त्र सेनापति को बुलाकर जिन मन्दिरों के दर्शन करने के बहाने से सीता को जंगल में छुड़वा देते हैं। सेनापति सीता से उनके निर्वासन के विषय में विनम्रतापूर्वक निवेदन करता है।[1] सीता राम को सन्देश देती है कि जिस प्रकार आपने मुझे छोड़ दिया है, उसी प्रकार जिन भक्ति का त्याग कभी मत करना। सम्यग्दर्शन को न छोड़ें, मुझे छोड़ने से एक जन्म में दुःख होगा, जबकि सम्यग्ज्ञान के न रहने से जन्मान्तरों तक दुःख उठाना पड़ेगा। राज्य, स्त्री आदि प्राप्त होकर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन स्थिर सुख को देने वाला है। एक बार हाथ में आया हुआ यह रत्न यदि सागर में गिर जाये जो पुनः प्राप्त नहीं हो सकता ?

वन में राजा वज्रजंघ द्वारा पूछे जाने पर सीता अपने निर्वासन के विषय में कहती है कि मेरे पति ने यश की रक्षा के लिए मुझे वन में छोड़ दिया –

चिन्तितं ममे ततो भर्त्रा प्रेक्षापूर्वविधायिना।
लोकस्वभाव वक्रोऽयं नान्यथा याति वश्यताम्॥६९॥

वरं प्रियजने त्यक्ते मृत्युरप्यनुसेवितः।
यशसो नोपधातोऽयं कल्पान्तवस्थित॥७०॥

साहं जनपरीवादद्विदुषा तेन बिभ्यता।
संयक्तता परमेऽरण्ये दोषेण परिवर्जिता॥७१॥

विशुद्धकुलजातस्य क्षत्रियस्य सुचेतसः।
विज्ञातसर्वशास्त्रस्य भवत्येवेदमीहितम्॥७२॥

– पद्मपुराण ९८: ६९-७२

राम के लिए सीता वियोग अत्यधिक कठिन था। यद्यपि आठ हजार रानियाँ उसकी निरन्तर सेवा कर रही थीं।

सहस्रैरष्टभिः स्त्रीणां सेव्यमानोऽपि सन्ततम्।
वैदेही मनसा रामो निमेषमपि नात्यजत्॥९९. १०८

वज्रजंघ के राजमहल में दोनों कुमारों लवण,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंकुश का विधिवत् पालन पोषण करते हुए राजधर्म, जिनधर्म आदि की शिक्षा-दीक्षा दी जाती है। विवाह के प्रसंग में पौण्डरीकपुर के राजा पृथु से युद्ध करके उनकी कन्या से विवाह करके वे पुनः माता के समीप आकर सुखपूर्वक रहते हैं।

श्रीराम के सेनापति कृतान्तवक्त्र से सीता त्याग के स्थल का पता कर उस स्थान पर आए हुए नारदजी ने उन दोनों कुमारों को देखा व उनके पूछने पर राम-लक्ष्मण का पूरा वृतान्त सुनाया। राम ने प्रजानुरंजन के कारण धर्मपत्नी सीता का परित्याग किया। सीता के चरित्र की अत्यधिक प्रशंसा करते हुए नारद ने लोकापवाद के कारण राम द्वारा सीता त्याग के विषय में बताया तो अंकुश ने कहा कि यह आचरण उनके कुल की शोभा के अनुरूप नहीं है। हम अयोध्या पर चढ़ाई करके उन्हें जीतेंगे। यह सुनकर सीता के अत्यधिक उत्कण्ठित होने पर कुमारों ने उससे व्याकुलता का कारण पूछा और सीता ने संपूर्ण वृतान्त कह सुनाया, किन्तु उन्हें युद्ध से विरत नहीं कर सकी। सेनाओं के परस्पर युद्ध के साथ ही राम का लवण के साथ और लक्ष्मण का लवणांकुश के साथ युद्ध हुआ। दोनों कुमारों के जन्म का वृतान्त ज्ञान होने पर राम-लक्ष्मण ने हर्षित होकर उन्हें स्वीकार किया और इसे देखकर सीता पुनः पौण्डरीकपुर लौट आयी।

(पद्मपुराण ९९-१०३ पर्व)

हनुमानादि के द्वारा सीता को पुनः स्वीकार करने की प्रार्थना करने पर राम कहते हैं –

अनघं वेदि सीतायाः शीलमुत्तचेतसः।
प्राप्तायाः परिवादं तु पश्यामि वदनं कथम्॥

समस्त भूतले लोकं प्रत्याययतु जानकी।
ततस्तया सतं वासो भवेदेव कृतोऽन्यथा॥

– पद्मपुराण १०४. ४-५

यद्यपि मैं सीता को निष्पाप मानता हूँ, किन्तु जब तक पृथ्वी पर सभी लोग इसके उत्तमशील को स्वीकार नहीं कर लेते, मैं उसके साथ निवास नहीं कर सकता हूँ। अतः समस्त देशवासी, राजाओं एवं विद्याधरों की सभा का आयोजन किया जाए। राम की आज्ञा से भामण्डल, विभीषण आदि राजाओं द्वारा सीता से आग्रह करने पर सीता का उत्तर है –

सम्भाषिता सुगम्भीरा सीतास्रपिहितेक्षणा।
आत्माभिनिन्दनाप्राय जगाद परिमन्थरम्॥

असज्जनवचोदावदग्धान्यंगानि साम्प्रतम्।
क्षीरोदधिजलेनापि न मे गच्छन्ति निर्वृत्तिम्॥

– पद्मपुराण १०४. २४-५

दुर्जनों की वाणी से जले हुए मेरे तन-मन को क्षीरसागर के जल से भी शान्ति नहीं हो सकती है। तदनन्तर राजाओं के अनुनय-विनय से द्रवित होकर सीता राम के पास आती है। पुनः राम द्वारा चारित्र्य की शुद्धि का प्रश्न उठाने पर अग्निपरीक्षा का संकल्प करती है। तब सिद्धार्थ शपथपूर्वक उनके उत्तमशील की घोषणा करते हैं और समस्त मानव और विद्याधर सीता के सतीत्व को स्वीकार करते हैं। तथापि सीता राम के द्वारा तैयार की गई चिता में प्रवेश करके अपनी शुद्धता प्रमाणित करती है। पृथ्वी को विदीर्ण करके जल की वापी बनती है, जिसमें एक सहस्रदल कमल के मध्य स्थित सिंहासन पर उत्तम देवियों के द्वारा सीता को बिठाया जाता है एवं राम उन्हें स्वीकार करने को तत्पर होते हैं, किन्तु सीता पृथ्वीमति आर्यिका से जिनदीक्षा ग्रहण कर लेती है। (वही १०४-१०५ पर्व)

वाल्मीकि रामायण में यद्यपि उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त माना गया है और इस दृष्टि से सीता निर्वासन पर भी एक प्रश्नचिह्न उपस्थित होता है। राम के धीर-गंभीर एक पत्नी परायण चित्त के साथ भी इस की संगति स्थापित करना दुष्कर है। तथापि युद्ध की समाप्ति पर राम और सीता के मिलन से लेकर राम के राज्याभिषेक एवं पुनः लोकापवाद के कारण सीता त्याग की घटनाओं पर दृष्टि डालना उचित होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राम-रावण युद्ध की समाप्ति पर देवता स्वयं सीता के पातिव्रत्य की प्रशंसा करते हैं और प्रसन्नतापूर्वक स्वर्ग चले जाते हैं।[३]

राम हनुमान को अपने कुशल समाचार के साथ सीता के पास भेजते हैं व उनसे सीता का संदेश लेकर आने को कहते हैं। इस प्रसंग में भी सीता को धर्मपथ पर स्थित बताया गया है – एवमुक्ता हनुमता सीता धर्मपथे स्थिता। युद्ध ११३. १६

हनुमान राम को यह संदेश लाकर देते हैं कि जिनके लिए आपने समुद्र बन्धन और यह घनघोर युद्ध किया था वह मैथिली आपसे मिलना चाहती है।[४] तब राम विभीषण को आदेश देते हैं कि सीता को आभूषणादि से सुसज्जित करके शीघ्र उपस्थित करें।[५] जब सीता राम के पास आती हैं तो राम एक साथ क्रोध, प्रसन्नता और दीनता की अनुभूति करते हैं।[६]

प्रिय पत्नी को समीप पाकर हर्ष की अनुभूति के साथ ही 'लोग क्या कहेंगे' से राम का हृदय टुकड़े-टुकड़े हो रहा है और वे सीता से अपने पौरुषेय दर्प से परिपूर्ण वचन करते हैं –

यत् कर्तव्यं मनुष्येण धर्षणां प्रतिमार्जता।
तत् कृतं रावणं हत्वा मयेदं मानकांक्षिणा॥१३॥

विदितश्चातु भद्रं ते योऽयं रणपरिश्रमः।
सुतीर्णः सुहृदां वीर्यान्न त्वदर्थं मया कृतः॥१५॥

रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वतः।
प्रख्यातमात्मवंशस्य न्यंग च परिमार्जता॥१६॥

प्राप्तचारित्रसन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढ़ा॥१७॥

– युद्धकाण्ड ११५. १३-१७

तुम व्याकुल नेत्र के लिए रोशनी की भाँति मुझे अत्यधिक अप्रिय हो, इसलिए दसों दिशाओं में कहीं भी चली जाओ, मुझे तुम से कोई प्रयोजन नहीं है। दूसरे के घर में रहने वाली स्त्री को कोई भी कुलीन पुरुष सौहार्द्र के लोभ से, मन से स्वीकार नहीं कर सकेगा। लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सुग्रीव, विभीषण या अन्य राक्षस किसी के भी साथ इच्छानुसार निवास कर सकती हो। रावण तुम्हारे दिव्य रूप को देखकर तुम से अधिक दूर नहीं रह सका होगा। (वही १८-२४)

तब पतिपरायणा सीता आत्म-विश्वासपूर्वक कहती है कि मेरे वश में जो हृदय है, वह सदैव तुम में ही लगा रहा है। शरीर पर मेरा वश नहीं है और आपके साथ जो इतने वर्षों का संबंध रहा है, उसके बाद भी यदि आप मुझ पर विश्वास नहीं करते हैं तो मैं निश्चय ही मृत हूँ। (वही ११६. ९-१०) वे लक्ष्मण से चिता तैयार करने को कहती हैं और राम की प्रदक्षिणा करके चिता पर आरूढ़ होते हुए कहती हैं –

कर्मणा मनसा वाचा तथा नातिचराम्यहम्।
राघवं सर्व धर्मज्ञं तथा मां पातु पावकः॥२७॥

– वही ११६. २७

उनके अग्नि प्रवेश के पश्चात् प्रातःकालीन सूर्य के समान अरूणपीत कान्ति वाली सीताजी को लेकर मूर्तिमान अग्निदेव ने श्रीराम को समर्पित करते हैं –

अब्रवीत् तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः।
एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते॥ (वही ५)

राम को स्वयं सीता के सतीत्व पर दृढ़ विश्वास था और वे सीता को स्वयं से उसी तरह अभिन्न मानते थे, जैसे सूर्य से उसकी प्रभा। जिस प्रकार स्वाभिमानी पुरुष अपनी कीर्ति का त्याग कभी नहीं कर सकता है, उसी प्रकार राम सीता को कभी नहीं छोड़ सकते हैं –

नेयमर्हति वैकल्व्यं रावणान्तःपुरे सती।
अनन्या हि मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा॥१९॥
विशुद्धा त्रिषु लोकेषु मैथिली जनकात्मजा।
न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा॥२०॥

– वही ११८. १९-२०

राम के इस कथन की दृष्टि से भी सीता निर्वासन विवेचनीय है, क्योंकि सम्पूर्ण रामायण में यह उद्घोष मिलता है – रामोद्विर्नाभिभाषते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राज्याभिषेक के पश्चात् राम शुभ अवसर पर पधारे हुए अतिथियों को भेंट आदि प्रदान कर ससम्मान विदा कर देते हैं एवं न्यायपूर्वक शासन करते हैं। इसी क्रम में गुप्तचर भद्र से पुरवासियों के विचार जानना चाहते हैं। यह जानकर कि पुरवासियों में रावण के घर में रही हुई सीता को राम द्वारा स्वीकार कर लेने के विषय में इस कारण से रोष है कि हमें हमारी स्त्रियों के विषय में यही सहन करना पड़ेगा क्या ? –

लंकामपि पुरा नीतामशोकवनिकां गताम्।
रक्षसां वशमापन्नां कथं रामो न कुत्स्यति॥१८॥

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते॥१९॥

उत्तर ४४.

भद्र के इस कथन के विषय में सुहृद सभासदों द्वारा असहमति प्रकट किए जाने पर राम सभा को विसर्जित करके तीनों भाईयों को बुलवाकर प्रजा में फैले हुए प्रवाद के विषय में बताते हैं। साथ ही यह भी कि लंका में हुई अग्नि परीक्षा में सभी देवताओं ने उन्हें निष्पाप माना था और स्वयं महेन्द्र ने उन्हें पुनः सौंपा था।[७]

राम की अन्तरात्मा भी जानकी को निष्पाप समझती है –

अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम्।
ततो गृहीत्वा वैदेहीमयोध्यामहमागतः।

– उत्तर ४५. १०-११

तथापि पुरवासियों के अपवाद के कारण वे अपनी अपकीर्ति से भयभीत हैं और लोक निन्दा के भय से वे अपने प्राणों को अथवा बन्धुओं को भी त्याग सकते हैं। तो सीता का त्याग कौन सी बड़ी बात है। (वही १२-१५) वे अपने भाईयों से किसी तरह का परामर्श किए बिना लक्ष्मण को आज्ञा देते हैं कि दूसरे दिन सीता को राम राज्य की सीमा के पार वाल्मीकि के आश्रम के निकट निर्जन वन में त्याग दें। वे इस विषय में उन्हें कुछ कहने या विचार करने की अनुमति भी प्रदान नहीं करते। लक्ष्मण बड़े दुःख के साथ सीता के आश्रम के समीप ले जाकर निवेदन करते हैं –

सा त्वं त्यक्ता नृपतिना निर्दोषा मम सन्निधौ।१३॥

पौरापवादभीतेन ग्राह्यं देवि न तेऽन्यथा।
आश्रमान्तेषु च मया त्यक्तव्या त्वं भविष्यसि।१४॥

राज्ञः शासनमादाय तथैव किल दौहृदम्।

– उत्तर ४७. १३-१५

सीता की शुद्धता हो जाने पर लोकापवाद के कारण दी गई राजाज्ञा का पालन करना लक्ष्मण के लिए आवश्यक है। अपने त्याग के अवसर पर पति के लिए दिया गया वैदेही का संदेश मार्मिक होने के साथ ही उनकी पतिपरायणता के साथ ही आत्म सम्मान को सूचित करने वाला है। वे राम को राजा के रूप में सम्बोधित करती हैं – वक्तव्यश्चैव नृपति धर्मेण सुसमाहितः (१४)। साथ ही यह भी कि स्त्री के लिए पति ही बन्धु, गुरु और देवता होता है, इसलिए स्त्री को अपने प्राणों के द्वारा भी पति के प्रिय कार्य को करना चाहिए। (चाहे वह स्वयं उसका त्याग ही क्यों न हो)

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धु पतिर्गुरुः।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः॥१७॥

– उत्तर ४८

वे यह कहती हैं कि आज वे गर्भवती हैं, इसका लक्ष्मण विश्वास कर लें (कालान्तर में इस विषय में उनके चरित्र पर फिर कोई लांछन न लगे)।

वाल्मीकि रामायण में राम के द्वारा सीता त्याग के मूल काल में भृगु ऋषि द्वारा दिए गए पत्नी वियोग विषयक शाप को बताया गया है। (उत्तर ५१ सर्ग) सीता वाल्मीकि के आश्रम में दो पुत्रों को जन्म देती है। जिनकी शिक्षा-दीक्षा के साथ ही मुनि वाल्मीकि उन्हें रामकथा भी कण्ठस्थ कराते हैं। राम द्वारा अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर दोनों मुनिकुमार लव और कुश रामकथा का गायन करते हैं और उन्हें राम के पुत्र के रूप में पहचाना जाता है। राम सीता को बुलवाकर पुनः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनकी शुद्धता प्रमाणित करवाना चाहते हैं। वाल्मीकि मुनि सीता की शुद्धि की विस्तार से घोषणा (९६ सर्ग) करते हैं एवं जन समुदाय उस पर विश्वास करता है, किन्तु स्वाभिमानिनी सीता पृथ्वी से प्रार्थना करती है कि यदि उन्होंने मन, कर्म, वचन से राम के अतिरिक्त किसी भी पुरुष का ध्यान नहीं किया है तो पृथ्वी अपने हृदय में उन्हें स्थान दे।[८] तब भूतल से एक सिंहासन प्रकट होता है और पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवी उन्हें उस पर बिठा कर पुनः भूतल में प्रविष्ट हो जाती है।

रामकथा जो युगों-युगों से जनमानस की प्रेरणा का स्रोत है, में सीता निर्वासन का प्रसंग विशेष रूप से सामान्य स्त्रियों को विपरीत परिस्थितियों में चारित्रिक दृढ़ता की शिक्षा देने के लिए निरूपित प्रतीत होता है। जैसे कि पुरवासियों की आशंका से भी स्पष्ट है कि हमें अपनी स्त्रियों को भी ऐसी स्थिति में स्वीकारना होगा। धर्मसूत्रकारों की दृष्टि से देखें तो व्यभिचारिणी नारी भी गर्भावस्था में पति, पुत्रादि के द्वारा सुरक्षा पाने की अधिकारिणी होती है।[९] ऐसी स्थिति में पति राम नहीं तो राजा राम के द्वारा अपनी प्रजा के रूप में सीता की सुरक्षा व्यवस्था सुनिश्चित नहीं करना आदर्श रामराज्य में किस प्रकार उचित कहा जा सकता है? इस संदर्भ में दण्ड विधान का नियम याद आता है कि सामान्य जन को दण्ड का भय दिखाकर अनुशासित करना हो तो किसी बलशाली की छोटी सी त्रुटि पर अतुलनीय दण्ड दे दें, तो देखने वाला स्वतः भयभीत होकर गलती का साहस ही नहीं करेगा। जो भी हो रामकथा का आश्रय लेकर रचना करने वाले अन्य परकालीन कवियों को भी यह बात गले नहीं उतरी तो कुछ ने इस प्रसंग को चित्रित ही नहीं किया और कुछ ने इस संदर्भ में बालि की पत्नी तारा के शाप की अवधारणा की और कुछ ने सीता के द्वारा रावण का चित्र बनाने का काल्पनिक प्रसंग जोड़ा। रामचरित में परिमार्जन हुआ या नहीं, किन्तु सीता निर्वासन के माध्यम से तत्कालीन से लेकर आधुनिक युग तक नारी की स्थिति, उसका जीवन, उसका चरित्र आदि सम्पूर्ण समाज के विवेचन का विषय बनते रहे हैं। ❐

– अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

---

१. स्वाम्यादेशस्य कृत्यत्वाद्वक्तव्यत्वान्नियोगतः। कथञ्चिद्रोदनं कृत्वा यथावत्स न्यवेदयत् ॥१०७
विषाग्निशस्त्र सदृशं शुभे दुर्जनभाषितम्। श्रुत्वा देवेन दुष्कीर्तिः परमं भयमीयुषा ॥१०८
सन्त्यज्य दुस्त्यजं स्नेह दोहदानां नियोगतः। त्यक्तासि देवि रामेण श्रमणेन रतिर्यथा ॥१०९
स्वामिन्यस्ति प्रकारोऽसौ नैव येन स विष्णुना। अनुनीतस्तवार्थेन न तथाप्यत्यजद् ग्रहम् ॥११०
तस्मिन् स्वामिनि नीरागशरणं तेऽस्ति न क्वचित्। धर्मसम्बन्धमुक्ताया जीवे सौख्यस्थितेरिव ॥१११ – पद्मपुराण ९७

२. संसाराद् दुःखनिर्घोरान्मुच्यन्ते येन देहिनः। भव्यास्तद्दर्शनं सम्यगाराधयितुमर्हसि ॥१२०
साम्राज्यादपि पद्माभ तदैव बहुमन्यते। नश्यत्येव पुनः राज्यं दर्शनं स्थिरसौख्यदम् ॥१२१
तदभव्यजुगुप्सतो भीतेन पुरुषोत्तम। न कथञ्चित्त्वया त्याज्यं नितान्तं तद्धि दुर्लभम् ।।१२२
रत्नं प्राणितलं प्राप्तं परिभ्रष्टं महादधौ। उपायेन पुनः केन संगति प्रतिपद्यते ॥१२३
क्षिप्तामृतफलं कूपे महापत्ति भयंकरे। परं प्रपद्यते दुःख पश्चात्तापहतः शिशु ॥१२४
यस्य यत्सदृशं तस्य प्रवदत्वनिवारतः। को ह्यस्य जगतः कर्तुं शक्नोति मुखबन्धनम् ॥१२५
श्रृण्वताऽपि त्वया तत्तत्स्वार्थनाशनकारणम्। पडेनेव न कर्तव्यं हृदये गुणभूषण ॥१२६

३. अनुरागं च वीर्यं च मारूतेर्लक्ष्मणस्य च। पतिव्रतात्वं सीताया हनूमति पराक्रमम् ॥३
कथयन्तो महाभागा जग्मुहृष्टा यथागतम् ।४ – युद्ध ११२

४. यन्निमित्तोऽयमारम्भ कर्मणां यः फलोदयः। तं देवीं शोकसन्तप्तां द्रष्टुमर्हसि मैथिलीम् ॥२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा हि शोकसमाविष्टा वाष्पपर्याकुलेक्षणा। मैथिली विजयं श्रुत्वा द्रष्टुं त्वामाभिकांक्षति ॥३ – युद्धकाण्ड ११४

५. दिव्यांगरांगा वैदेहीं दिव्याभरणभूषिताम्। इह सीतां शिरःस्नातामुपस्थापय मा चिरम् ॥७ – युद्धकाण्ड ११४

६. तामागतामुपश्रुत्य रक्षोगृहचिरोषिताम्। रोषं हर्षं च दैन्यं च राघवः प्राप शत्रुहा ॥१७ – युद्धकाण्ड ११४

७. प्रत्ययार्थं ततः सीता विवेश ज्वलनं तदा। प्रत्यक्षं तव सौमित्रे देवानां हव्यवाहनः ॥७
अपापां मैथिलीमाह वायुश्चाकाशगोचरः। चन्द्रादित्यौ च शंसेते सुराणां सन्निधौ पुरा ॥८
ऋषिणां चैव सर्वेषामपापां जनकात्मजाम्। एवं शुद्धसमाचारा देवगन्धर्व सन्निधौ ॥९
लंकाद्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेशिता ॥१० – उत्तर ४५

८. यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये। तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥१४
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समार्चये। तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥१५
यथैतत् सत्यमुक्तं मे वेदिम् रामात् परं न च। तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥१५ – उत्तरकाण्ड ९७

९. हताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनाम्। परिभूतामधःशय्यां वासयेदव्यभिचारिणीम् ॥७०
सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम्। पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो हतः ॥७१
व्यभिचारादृतौ शुद्धिर्गर्भे त्यागो विधीयते। गर्भभर्तृवधादौ च तथा महति पातके ॥७२ – याज्ञवल्क्यस्मृति १

२०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के समय राम, लक्ष्मण, रावण, हनुमान आदि हुए हैं। राम को अपने जीवन के अन्तिम समय में संसार से वैराग्य हुआ। तो शान्ति प्राप्त करने के लिए जो अपनी इच्छा व्यक्त की, उसका उल्लेख योगवाशिष्ठ ग्रन्थ में मिलता है –

नाहं रामो न वाञ्छा न च मे विषयेषु मनः।
शान्तिमासितुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

मैं न तो राम हूँ (रमन्ते योगिनः यस्मिन् स रामः – योगी जिसमें रमण करे – ऐसा महायोगी या ईश्वर), न मुझे कोई अच्छा है, न मेरा मन विषयों में लगता है। मैं तो जिनेन्द्र भगवान के समान अपनी आत्मा में ही शान्ति प्राप्त करना चाहता हूँ।

– योग वाशिष्ठ के उक्त श्लोक से सिद्ध होता है कि राम-लक्ष्मण के समय में जैन तीर्थंकर आत्म-धर्म का प्रचार कर रहे थे। तभी उनके समान शान्त बनने की इच्छा राम के हृदय में उत्पन्न हुई।

– मुनि श्री विद्यानन्दजी, विश्वधर्म की रूपरेखा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य ज्ञानसागर का सारस्वत योगदान

❑ डॉ. शिवसागर त्रिपाठी

भारत राष्ट्र में वैदिक और श्रमण संस्कृति सतत प्रवहमान है। भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक २४ तीर्थंकरों की प्रेरणा से ओत-प्रोत श्रमण संस्कृति के इतिहास में सुदीर्घ मुनि परम्परा रही है, जिसने अपनी आचारचर्या और तपश्चर्या से भक्तजन का पथप्रदर्शन किया है। इनमें कतिपय सारस्वत-साधना को भी प्रश्रय दिया। इनमें आचार्य ज्ञानसागर (मूलतः पं. भूरामल शास्त्री , पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के सहपाठी थे) अन्यतम हैं जिनका साहित्य, धर्म, दर्शन आदि क्षेत्रों में अक्षुण्ण अवदान चिरस्मणीय रहेगा। यहाँ कतिपय बिन्दु प्रस्तुत हैं –

१. आप द्वारा लिखित ३० पुस्तकों का एक विशाल रचना-सन्दोह है, जिसमें ५ महाकाव्य (जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय , भद्रोदय, समुद्रदत्तचरित, वीरशर्माभ्युदय, अप्रकाशित-अनुपलब्ध) और एक चम्पूकाव्य (दयोदय) सहित ११ संस्कृत रचनाएँ (मुनिमनोरंजनाशीति, हितसम्पादक, भक्तिसंग्रह, प्रवचनसार, सम्यक्त्वसार शतक) १० हिन्दी रचानाएँ ऋषभचरित्र, गुणसुन्दर वृतान्त, भाग्य- परीक्षा, पवित्र मानव जीवन, सरल जैन विवाह विधि, कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन, इतिहास के पन्ने, सचित्त विवेचन, सचित्त विचार, स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म, ऋषि कैसा होता है। टीकादि ग्रन्थ (प्रवचनसार, समयसार, तत्वार्थ-दीपिका, नियमसार, अष्टपाहुड, मानवधर्म-शान्तिनाथ पूजन विधान, विवेकोदय देवागम स्तोत्र) हैं।

२. संस्कृत में महाकाव्य लेखन की एक परम्परा रही है। पहले रामायण और महाभारत वीरकाव्य और फिर निर्धारित मानदण्डों के परिप्रेक्ष्य में अन्य पश्चिम में ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में इलियड, ओडिसी, ट्रूनीड आदि महाकाव्य लिखे गए, पर आज वहाँ यह परम्परा लुप्तप्राय है। भारत में आज भी प्रत्येक भाषा में महाकाव्य लिखे जा रहे हैं। संस्कृत में तो सर्वाधिक महाकाव्य लिखे गए हैं। विवेच्य महाकवि ने उक्त ५ महाकाव्य लिखकर जैन साहित्य में चौदहवीं शताब्दी के बाद भी विच्छिन्न शृंखला को जोड़ा है।

३. कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि कवि परम्परा में उपेक्षित अवश्य रहे हैं, पर निश्चय ही आपने नैषध के बाद अवरुद्ध काव्यधारा को प्रवाहित करके संस्कृत साहित्य भण्डार की अभिवृद्धि की है।

४. अकेला 'जयोदय महाकाव्य' ही आचार्यवर की प्रतिभा का उत्कृष्ट निदर्शन है। इसमें उपमाद्यलंकार, छटा, अन्त्यानुप्रास पर साधिकारता-वैशिष्टच, अर्थगौरव, पदलालित्य, प्रखर पाण्डित्य और स्वारस्य एकत्र द्रष्टव्य है। अतः इसे बृहत्त्रयी (किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, नैषधीय चरित) के साथ मिलकर बृहच्चतुष्टयी के अन्तर्गत रखने का साहस किया गया है।

५. आचार्य श्री जैन अनुशासन के अप्रतिम विद्वान हैं, अतः उनकी रचनाओं की कथावस्तु के स्रोत वैदिक साहित्य या सनातन पुरणादि नहीं, अपितु आगम ग्रन्थ, जैन ढांचे में ढले जैन पुराणादि और कथाकोश आदि हैं।

६. इसी प्रकार रचनाओं में पात्रानुशीलन एवं चारित्र्यचर्या अपने ढंग की है। इनके चरित नायक देवी-देवता या ऋषि नहीं, संयमी महापुरुष या दैगम्बरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीक्षा के पात्र रहे हैं। वे राजा, व्यापारी, शूद्र आदि भी हो सकते हैं। देवी-देवता, व्यन्तर आदि उनके सहायक रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। कोई वर्ग उपेक्षित नहीं है। दुष्टनिग्रह और शिष्यनुग्रह की बात कही अवश्य है, पर मूल उद्देश्य रत्नत्रय और महाव्रतादि के आलम्बन से मोक्ष प्राप्ति ही है।

७. पूर्ववर्ती रचनाओं में सामग्री प्राय: राजदरबारों या भू लोकेत्तर लोकों की होती थी। आचार्य श्री ने यथास्थान यथावसर उक्त सन्दर्भों को लेते हुए भी जनसाधारण के जीवन के संबद्ध चित्रण किया। फलत: राजवर्ग और जनवर्ग दोनों पक्षों की सफल अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है।

८. आचार्य प्रवर ने समाज के अर्द्धाङ्ग महिला वर्ग को उपेक्षित नहीं किया है। वे उन्हें समान अधिकार देने के पक्षधर थे। घर की व्यवस्था उनका क्षेत्र अवश्य है, पर समाज और राष्ट्र के प्रति भी उनका दायित्व होता है। साथ ही वे यथावसर उनके दुर्गुणों और निर्बलताओं का संकेत करने से नहीं चूके हैं।

९. अपनी रचनाओं के वर्ण्य विषय में पौराणिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों को अपनाते हुए भी वर्तमान का चित्रण किया है। कवि अपने समय का प्रतिनिधि जो होता है। कविवर की रचनाओं में समसामयिक युग का सच्चा चित्रण मिलता है। फलत: प्रासंगिकता का भाव बराबर बना रहता है, अत: प्रसंग उबाऊ नहीं लगता।

१०. आपने परम्परया काव्यशास्त्र सम्मत सालंकरण, सुवर्णा, सरसा और सुबोधा कृतियाँ लिखी हैं, जिनका उद्देश्य काव्य लेखादि के व्याज से जैन सिद्धान्त निरूपण रहा है। महाकवि अश्वघोष का भी यही उद्देश्य था, वहीं से प्रेरणा ली हुई प्रतीत होती है। दार्शनिक रचनाओं में पूर्वाचार्यानुमोदित, सिद्धान्त पक्षीय और आगम सम्मत पक्ष, खण्डन-मण्डन, शंका-समाधान आदि प्रस्तुत किये हैं और उन्हें रूपकों, उदाहरणों और बोध कथाओं के द्वारा सरल और सुबोध बनाने का प्रयास भी किया है, फिर भी अनेकत्र शुष्क, नीरस और उबाऊ लगते हैं। अत: आपने काव्यों की रचना कर उक्त विषय को आख्यानों और पात्रों के माध्यम से सरस और हृदय बनाने का प्रयास किया है, जिसे शर्करामिश्रित कटौषधि के रूप में माना जा सकता है।

११. संस्कृत काव्यों में कृत्रिमता का सूत्रपात महाकवि भारवि ने किया था, जिसका विस्तार माघ, श्रीहर्ष आदि में उत्तरोत्तर हुआ। श्लिष्ट और द्वायाश्रय, त्रयाश्रय काव्य लिखे गए। अगर काव्य के रूप में चित्रकाव्य लिखे गए। आचार्य श्री की रचनाओं में शब्दार्थालंकारों का प्राचुर्य है, भूयोविद्यता है, पाण्डित्य प्रदर्शन भी है तथा चक्रबन्ध, पानबन्ध, कलशबन्ध, खड्गबन्ध आदि के रूप में चित्रकाव्य भी है। इस प्रकार महाकवि ने प्रचलित अधिकांश शैलियों का अवलम्बन करते हुए भी सरलता, सहजता और जन-सामान्य की रुचि का ध्यान रखा है। उनका यह योगदान प्रेरणा-स्रोत रहा है। फलत: उनसे प्रेरित और प्रभावित साहित्य-सर्जना होती रही।

१२. आचार्य श्री की रचनाओं में छन्दो- वैविध्य ही परम्परागत छन्दों के अतिरिक्त रागरागिनी आश्रित गीत भी हैं। आपने जयोदय में ४५, वीरोदय में १८, सुदर्शनोदय में १९, भद्रोदय में १२, दयोदय में ११ और मुनि मनोरञ्जनाशीति में ३ प्रकार के छन्दों के प्रयोग से सरलता लाने के प्रयास किया है। इसप्रकार छन्दोऽनुरोध की प्रेरणा दी है।

१३. परम्परया रस को ब्रह्मानन्द सहोदर बताकर रसोन्मेष पर बल दिया गया है। और शृंगार को रसराज कहा गया है। बाद में यह संज्ञा वीर, करुण और अद्भुत को भी दी गई। पर आचार्य श्री की रचनाओं में जैन परम्परा में शान्त रस की निष्पत्ति से ब्रह्मानन्द प्राप्त किया गया है और उसी में मोक्ष पुरुषार्थ की सत्ता का आभास किया गया है। आपके पट्टशिष्य आचार्य विद्यासागर ने तो शृंगार का व्युत्पत्ति परक अर्थ अपने ढंग से करके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शान्त को ही शृंगार अर्थात् सर्वोच्च कहा है – अध्यात्म शृंग. राति इति शृंगार: एव शान्त:।

(सुनीतिशतकम् २२)

१४. उल्लेख्य है कि भरत मुनि एवं परवर्ती आचार्यों ने भी शान्त रस को स्थान नहीं दिया – 'अष्टौ नास्ये रसा: स्मृता:।[3] परवर्ती काल में रस विस्तार मात्र दृश्य में नहीं श्रव्य में भी हो गया, तो निवृत्ति परक शान्त को भी काव्य शास्त्रियों ने मान्यता दी। अत: शान्त रस परक रचनाएँ लिखी गई, विशेषत: जैन परम्परा में। आचार्यश्री की सभी रचनाओं में अंगीरस शान्त है। अत: शान्त रस की प्रस्थापना और प्रचारणा में इनका योगदान स्तुत्य है।

१५. दर्शन के क्षेत्र में आचार्य प्रवर ने अनेकान्तवाद को सरल शैली में, सोदाहरण अभिव्यक्त किया है। अथ च धर्म, कर्म, योग, समिति, आत्मा, गुप्ति, उपयोग, गुणस्थान, नय निरुपण, सप्तभंग, दिग्व्रत, शिक्षाव्रत, महाव्रत, स्वाध्याय, ध्यान, द्रव्य आदि यथास्थान सहज और सरल रूप में विवेचित किये हैं। परम्परया चार प्रमाण माने जाते हैं, पर आचार्य श्री ने प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त स्मृति को भी प्रमाण मानकर कुल तीन प्रमाण माने हैं।

१६. शाप-वरदान परक घटनाओं को विशेष प्रश्रय न देकर धर्माचरण और आत्मशुद्धि पर ही विशेष बल दिया है।

१७. श्रावकाचार और श्रमणाचार दोनों को आपने लेखनीबद्ध किया है। गृहस्थोचित छह कार्य आवश्यक बताए हैं – देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। इसप्रकार सर्वत्र सामनस्य की आकांक्षा में प्रेरणा दी है।

१८. आचार्य श्री ने भारतीय संस्कृति का अवलम्बन करते हुए भी श्रमण संस्कृति को प्राबल्य दिया है। यथाहि वर्णाश्रमधर्म की पृष्ठभूमि लेकर भी चतुर्विध संघ की भूमिका को प्रशस्य बताया है।

१९. भरत मुनि भले ही त्रिवर्ग सिद्धि को प्रयोजन मानते हैं, पर विवेच्य मनीषी ने चतुर्वर्ग सिद्धि पर बल दिया है। परम्परया धर्म से अर्थ और काम की प्राप्ति की बात कही गई है – धर्मादर्थश्च कामश्च। पर यहाँ जैन परम्परा के अनुसार अर्थ, काम और रागादि संबंध त्यागकर धर्म की सिद्धि और फिर मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग अपनाने का निर्देश दिया गया है।

२०. आलोच्य महापुरुष ने सदा सिद्धान्त और व्यवहार में सामरस्य रखने का प्रयास किया। राष्ट्र को सुखी, सुदृढ, स्वावलम्बी और धर्मप्रिय देखने के लिए कर्तव्य-बोध, संस्कृति-बोध, राष्ट्र-बोध, हृदय-शुद्धि और मानवता-बोध पर बल दिया। प्राणीमात्र के प्रति मैत्री एवं करुणा भाव रखना, पाप और कषायों से दूर रहकर, पुण्य कार्यों में प्रवृत्त रहना उनका सन्देश था।

किम्बहुना, महाकवि आचार्य ज्ञानसागर ने अपना समग्र जीवन स्वहित, लोकहित और जैनधर्म-दर्शन-साहित्य संस्कृति के रक्षार्थ समर्पित करके एक आदर्श उपस्थित किया। चिन्तनधर्मिता और रचनाधर्मिता के सशक्त हस्ताक्षर का यह सारा योगदान आगामी पीढी के लिए पाथेय बन रहा है। संक्षेप में आचार्य श्री के समस्त कार्य अनुकरणीय और वे स्वयं स्मरणीय एवं प्रणम्य हैं –

तप: स्वाध्यायनिरत: संयमसाधनायुत:।
ज्ञानाचार्य: प्रणम्योऽस्ति धर्मदर्शनमोदक:॥

❐

– डॉ. शिवसागर त्रिपाठी,
पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष, राज. विश्वविद्यालय,
ए-६५, जनता कालोनी, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधि-मरण (संथारा) परम-अहिंसा है न कि आत्महत्या-सतीप्रथा सम निकृष्ट हिंसा

❑ वैज्ञानिक धर्माचार्य कनकनन्दी जी गुरुदेव

जो कुछ बाहर से दिखाई देता है यथार्थ उससे भिन्न भी होता है। जैसा कि आकाश का नीला दिखाई देना, सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि का आकार छोटा दिखाई देना आदि यथार्थ नहीं है। कृषि के समय कृषक द्वारा जीवों का मरण तथा मछुआरा द्वारा जीवों का मारा जाना, राष्ट्र की रक्षा के लिए सैनिक द्वारा आक्रान्ताओं का मारा जाना तथा आतंकवादी, डाकू, लुटेरे द्वारा निर्दोष व्यक्तिओं का मारा जाना, न्यायाधीश द्वारा दोषी को न्यायोचित दण्ड देना, माता-पिता-गुरुजन द्वारा दोष सुधार के लिए सन्तान एवं शिष्यों को प्रायश्चित देना, प्रताडित करना तथा सज्जनों के साथ दुर्व्यवहार करना समान नहीं है। वेश्यागमन, परस्त्री आलिंगन तथा माता-पिता का वात्सल्यमय दुलार, सहलाना एक समान नहीं है। उपर्युक्त उदाहरणों में बाह्य क्रिया में कुछ समानता होने पर भी भाव, उद्देश्य, परिणाम में महान अन्तर है या पूर्ण विपरीत है। इसी प्रकार आत्म हत्या, सतीप्रथा, पशु-पक्षी-मनुष्य की हत्या या धर्म के नाम पर बलि चढ़ाना तथा समाधि-मरण (सल्लेखना, संथारा) में भी जान लेना चाहिए। अन्तर को जानने के लिए हिंसा एवं अहिंसा का व्यापक, सूक्ष्म यथार्थपरक स्वरूप जानना प्राथमिक विधेय है। यथा –

हिंसा का विश्वस्वरूप –

आत्म-परिणाम हिंसन हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृत-वचनादि-केवलमुदाहृतं शिष्य-बोधाय ॥४२॥

जिससे आत्मपरिणामों का हिंसन/हनन होता है वह सब हिंसा है। असत्य आदि पापों का कथन प्राथमिक/कम बुद्धिवाले शिष्यों को समझाने के लिए उदाहरण के रूप में बताया गया है। प्रमाद से युक्त कषाय से संयुक्त जीव के परिणाम ही हिंसा के लिए कारण होते हैं। असत्य आदि पाप हिंसा के ही अवस्थान्तर हैं। तथापि शिष्यों को समझाने के लिए असत्य आदि पापों का भी कथन किया जाता है। पन्द्रह प्रकार के प्रमादों से आत्मा के परिणाम कलुषित होते हैं, मलिन होते हैं, इसलिए यह प्रमाद ही हिंसा है।

यत्खलुकषाय-योगात् प्राणानां द्रव्य भावरूपाणां।
व्यपरोणस्य करणं सुनिश्चितं भवति सा हिंसा ॥४३॥

निश्चय से कषाय के योग से द्रव्य-भावरूप प्राणों का हनन होना हिंसा है। निश्चय से कषाय के योग से अर्थात् क्रोध, मान आदि चार कषाय, हास्यादि नोकषाय के योग से इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, शरीर आदि द्रव्य प्राणों तथा ज्ञान आदि भाव प्राणों का हनन करना या उन्हें पीड़ा देना हिंसा है। इन द्रव्य एवं भाव प्राणों का प्रमत्त योग से व्यपरोपण करना, विनाश करना, वियोजन करना निश्चय से हिंसा है।

पाँच इन्द्रिय प्राण, मन, वचन, काय रूपी तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्वास एवं आयु मिलाकर के दस प्राण होते हैं। यथा योग्य दसों प्राण का वियोग करना या उन्हें क्षति पहुँचाना हिंसा है। यहाँ पर परिणाम को प्राधान्यता दी गई है।

अहिंसा और हिंसा का भावात्मक लक्षण–

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राग-द्वेष आदि दूषित परिणाम का आत्मा में उत्पन्न नहीं होना निश्चय से अहिंसा है। इन्हीं ही राग-द्वेष आदि दूषित परिणामों का उत्पन्न होना जिनागम में संक्षेप से हिंसा कहा है। जिनागम का संक्षेप या सार यह है कि अप्रयत्न रूप (अयत्नाचार) से आचरण करना हिंसा है एवं प्रयत्न पूर्वक (विवेक एवं पवित्र भाव) आचरण करना अहिंसा है।

प्राणघात से ही यत्नाचारी हिंसक नहीं –

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमंतरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा, प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

जो प्रयत्न आचरण से युक्त है तथा रागादि आवेश से रहित है, उससे हिंसा नहीं होती है। युक्त आचरण से सहित मुनीश्वरों के रागादि भावों के आवेश के बिना कदाचित् प्राण व्यपरोपण होने पर भी हिंसा नहीं होती है।

अयत्नाचारी प्राणघात के बिना भी हिंसक –

व्युत्थानावस्थायां, रागादीनां वश प्रवृत्तानाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥

राग आदि परिणाम से वशीभूत जीव प्रमाद अवस्था में रहते हुए अवश्य हिंसक होता है, दूसरे जीव मरें या नहीं मरें। आचार्य श्री ने इस प्रकरण में कहा कि राग आदि परिणाम से वशीभूत जीवों के तथा प्रमाद से सहित जीवों के आगे-आगे हिंसा दौड़ती रहती है। इसका रहस्य यह है कि वह अवश्यमेव हिंसक होता है अर्थात् त्रस-स्थावर जीवों के प्राणों का हनन करने वाले या नहीं करने वाले भी प्रमादी जीव अवश्य ही हिंसक होते हैं।

आत्मघाती दूसरों के प्राणघात के बिना भी हिंसक–

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्माप्रथममात्मनाऽऽत्मानम्।
पश्चाज्जायेत् न वा हिंसा प्राण्यंतराणां तु ॥४७॥

कषाय से युक्त जीव सर्वप्रथम स्व आत्म स्वरूप की हिंसा करता है। पश्चात् अन्य जीवों की हिंसा हो या नहीं हो सकषाय जीव कषाय से वशीभूत होकर बहिरात्मा होकर अन्तरात्मा का हनन करता है। आत्मवध होने के पश्चात् अन्य जीवों का बंध हो भी सकता है नहीं भी हो सकता है।

अहिंसा के लिए सल्लेखना –

इयमेकैव समर्था धर्मत्वं मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया, पश्चिम सल्लेखना भक्त्या ॥

मुझे अपने धर्म तत्त्व को अपने साथ एकीकरण करके पर-भव में ले जाने के लिए यह सल्लेखना ही निरन्तर समर्थ है। इस प्रकार विचार करके भक्ति से निष्कपट रूप से जीवन के अन्तिम समय में सल्लेखना की भावना भानी चाहिए। मरण के समय में शरीर एवं कषाय को क्षीण करना सल्लेखना है ॥१७५॥

सल्लेखना का पालन –

मरणांतेऽवश्वयमहं विधिना सल्लेखना करिष्यामि।
इति भावनया परिणतो, नागतमपि पालयेदमिदं शीलम् ॥

स्वकीय परिणाम से पूर्व जन्म में उपार्जित आयु, इन्द्रिय, बल का विनाश कुछ कारण से होता है, उसको मरण कहते हैं। मरण को ही यहाँ पर अंत कहा गया है। उस मरण के समय में शरीर, कषाय को क्षीण करना सल्लेखना कहते हैं। शरीर को क्षीण करना बाह्य सल्लेखना है। कषाय को क्षीण करना अभ्यन्तर सल्लेखना है। मरण के अंत में अर्थात् तद्भव मरण। मैं शास्त्रोक्त विधि-विधान से निष्कपट रूप से सल्लेखना निश्चय से करूँगा। इसी प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से भावना से सहित पुरुष को भी आगामी काल संबंधी भी इस शील का पालन होता है। जो ऐसी भावना भाता है, उसकी सल्लेखना होती है ॥१७८॥

सल्लेखना आत्महत्या क्यों नहीं ? –

मरणेऽवश्यं भाविनि, कषाय सल्लेखना तनूकरण मात्रे।
रागादिमंतरेण, व्याप्रियमाणस्य नाऽऽत्मघातोऽस्ति ॥

प्रश्न – स्वयमेव सल्लेखना करके प्राण त्याग करने से स्वकीय आत्मबन्ध होगा जो हिंसा है ?॥१७७॥

उत्तर – उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर आचार्य देते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि अवश्यंभावी मरण में राग-द्वेष, मद-मोहादि के बिना की गई सल्लेखना से पुरुष का आत्मघात नहीं है क्योंकि सल्लेखना में कषाय को क्षीण किया जाता है और जहाँ कषाय आवेश नहीं है वहाँ आत्महत्या नहीं होती है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि प्रमत्त योग से प्राण का व्यपरोपण करना हिंसा है। जो पुरुष शुद्ध अन्त:करण से सल्लेखना करता है उसके प्रमाद का योग नहीं होता है। सल्लेखना युक्त पुरुष राग-द्वेष, मोह-क्रोधादि में प्रवर्तन नहीं करता है। इसलिए उसका आत्म-वध नहीं है। रागादि सहित अशुभ भाव में प्रवर्तन करने वालों का ही आत्मघात होता है अन्य के नहीं। इसलिए सल्लेखना की भावना करनी चाहिए।

आत्मघाती कौन ? –

या हि कषायऽऽविष्ट:, कुम्भकजलधूमकेतुविष शस्त्रै:।
व्यपरोपयति प्राणान्, न तस्य स्यार्त्सयमात्मवध:॥

रागादि सद्भाव से अशुभ भाव से प्राण विमोचन करने पर सल्लेखना नहीं होती है, इसप्रकार दिग्दर्शन करते हैं॥१७८॥

निश्चय से कषाय से आविष्ट पुरुष कुम्भक, श्वास निरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्र आदि के द्वारा प्राणों को, इन्द्रियों को नाश करता है, उस पुरुष के लिए आत्मवध होता है। राग-द्वेष, मोहादि से युक्त श्वास निरोध से, विष-भक्षण से, कूप-पतन से, अग्नि प्रवेश से, पर्वत से गिरकर, शस्त्रादि के प्रयोग से आत्मा का हनन करता है, वह पुरुष आत्मघात पातक को प्राप्त होता है। उसकी सल्लेखना नहीं होती है।

सल्लेखना अहिंसा भाव –

नीयन्तेऽत्र कषाया: हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि तत: प्रादुरहिंसा प्रसिद्धयर्थम्॥१७९॥

जिसके कारण से इस सल्लेखना में मुनिश्वरों के द्वारा हिंसा के कारणभूत क्रोधादि कषायों को मंद किया जाता है, इसलिए सल्लेखना को मुनियों ने अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए कहा है। सल्लेखना भी दया के लिए कारण है। वसुनन्दी आचार्य ने कहा भी है –

"आगम में रागादि की अनुत्पत्ति को अहिंसा कहा है और उसकी उत्पत्ति को ही जिनेन्द्र भगवान ने हिंसा कहा है।" सल्लेखना में प्रवर्तमान पुरुष अवश्य ही मरण आगत होने पर निज आत्म गुण की विराधना नहीं करता हुआ धीरे-धीरे देह को त्याग करता है। जिसप्रकार आत्मगुणों का विनाश नहीं हो तथा कषाय का विनाश हो उसीप्रकार प्रयत्न करता है। किस प्रकार जो स्वकीय आत्मघात करता है, उसकी सल्लेखना हो सकती है ? जो सल्लेखना करता है उसका आत्मघाती-रूपी पातक नहीं होता है।

व्रतधारी को स्वयं मोक्ष मिलता –

इति यो व्रत-रक्षार्थं सतत पालयति सकल-शीलानि।
वरयति पतिं वरेण स्वयमेव तमुत्सका शिवपदश्री॥

इस प्रकार जो पुरुष सतत् अहिंसादि व्रत की रक्षा के लिए सप्तशील को पालन करता है तथा सल्लेखना को करता है, वह शिव पदवीश्री को वरण करता है। जिसप्रकार पति इच्छुक कन्या स्वेच्छा से पति को वरण करती है, उसीप्रकार शिव श्री/मोक्ष लक्ष्मी उत्कंठित होकर स्वयमेय व्रत पालक पुरुषों का आदर से वरण करती है॥१८०॥

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि समाधि-मरण परम अहिंसा है; क्योंकि अवश्यंभावी मरण (जिससे मरण को किसी भी प्रकार से रोका नहीं जा सकता है, टाला नहीं जा सकता है) काल में स्व-पर को किसी भी प्रकार से कष्ट दिये बिना समता पूर्वक मरण को वीरता से वरण किया जाता है। प्राण घातक रोग आदि के अचानक आक्रमण के कारण तो तत्काल (कुछ समयावधि में) समाधि ग्रहण का विधान है, क्योंकि सम्यक् रूप से कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ आदि) तथा शरीर को कृश (क्षीण) किया जाता है। मुख्यत: कषाय क्षीण होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के साथ-साथ स्वयमेव शरीर भी क्षीण होता है। अतिवृद्ध, अतिरोग की अवस्था में शरीर क्षीण/दुर्बल होने के कारण चलना-फिरना, उठना-बैठना आदि करने में पीड़ा होती है, रोग बढ़ जाता है। इसलिए एक योग्य स्थान में एक संथारा (शयन के योग्य चटाई आदि) में समाधि साधक आध्यात्मिक साधना करते हैं। अतिवृद्ध, अतिरोगी अवस्था में गरिष्ठ-अति भोजन करने से अपच आदि के कारण रोग में वृद्धि की संभावना रहती है। इसलिए सुपाच्य-अल्पाहार का विधान है। इस बाह्य (गौण) कारण के साथ-साथ अंतरंग कारण इन सबका यह है कि स्व-पर को, सूक्ष्म से स्थूल जीवों को बाधा नहीं पहुँचे, भाव में निर्मलता आवे, मरण में पीड़ा न हो। आवश्यकतानुसार नियम की मर्यादा में मरण के अन्तिम दिन तक औषधि-पानी आदि के भी प्रयोग का विधान है।

जैन धर्म में अहिंसा, सत्य, अनेकान्त, उदारता, कर्म-सिद्धान्त के साथ-साथ १. आहार दान, २. औषधि दान, ३. वसतिका (निवास गृह, धर्मशाला) दान, ४. अभय दान (दूसरों की रक्षा) और ५. दया दत्ती (करुणा से रोगी, गरीब आदि की सहायता) का जब विधान है तथा आत्मा में मलिन भाव को ही महान आत्म हत्या माना गया, तब कैसे कोई प्रवृद्ध/जागरुक वरिष्ठ नागरिक से लेकर साधु-संत तक आत्महत्या कर सकते हैं ? भावात्मक आत्महत्या को जब जैन धर्म में महान हिंसा/पाप मान कर उससे दूर रहने का विधान है, तब स्व-आत्महत्या के साथ-साथ स्व-शरीर हत्या एक सच्चा जैन कैसे कर सकता है ? जब संविधान के अनुसार १८ (२१) वर्ष का व्यक्ति स्व-विवेक से अपना धर्म, कर्तव्य का चयन कर सकता है, तब क्या एक वरिष्ठ व्यक्ति (वृद्ध-विवेकी-धर्मात्मा-अहिंसक) पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक आदि समस्याओं के बिना स्व-विवेक के रहते हुए स्वेच्छा से आध्यात्मिक उन्नति के लिए मरण को वरण करता है तो क्या वह आत्महत्या के लिए करता है ? स्व-पर संपूर्ण जीवों से तीन काल संबंधी क्षमा प्रदान एवं क्षमा याचना पूर्वक मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमत से संपूर्ण हिंसा से निवृत्ति होने के लिए समाधि को स्वीकार किया जाता है तो समाधि आत्महत्या या सती प्रथा के समान अपराध या सामाजिक बुराई अथवा कानूनी अपराध/असंवैधानिक कैसे हो सकता है ? भारतीय संविधान के अनुसार प्रत्येक नागरिक को धर्म और उपासना की स्वतंत्रता का अधिकार है। यथा –

We, THE PEOPLE OF INDIA, having solemnly resolved to constitute India into a (SOVEREIGN SOCIALIST SECULAR DEMOCRATIC REPUBLIC and to secure to all its citizens;

हम भारत के लोग, भारत को एक (संपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाजवादी पंथ निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य) बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को –

JUSTIC, Social, economic and political, LIBERTY of thought, expression, belief, faith and worship, EQUALITY of status and of oppartunity, and to promote among them all FRATERNITY assuring the dignity of the individual and the [unity and integrity of the nation];

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और (राष्ट्र की एकता और अखण्डता) सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए

IN OUR CONSTITUENT ASSEMBLY this twentysixth day of November 1949 do HEREBY ADOPT ENACT AND GIVE TO OUR SALVES THIS CONSTITUTION.

दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में आज तारीख २६ नवम्बर, १९४९ ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी संवत् २००६ विक्रमी) को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

समाधि मरण एवं आत्महत्या में और भी अनेक अन्तर निम्न प्रकार से हैं –

समाधि एक धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जबकि आत्महत्या एक भौतिक/शारीरिक क्रिया है। समाधि संपूर्ण रूप से स्वैच्छिक है तो आत्महत्या के पीछे कोई न कोई विवशता या बाध्यता होती है। समाधि का प्रमुख लक्ष्य आत्म-कल्याण, मोक्ष प्राप्ति होता है तो आत्महत्या का मुख्य कारण तात्कालीन कष्टों से पीछा छुड़ाना या दु:खों से पलायनवादी होना है। समाधि में अवश्यंभावी मरण के समय में भोजन-पानी का त्याग शक्ति के अनुसार स्वैच्छिक होता है तो आत्महत्या किसी भी विष, अस्त्र, शस्त्र, अग्नि, पानी, श्वासरोध, फांसी, यान-वाहन, उच्च स्थान से गिरना आदि से की जा सकती है। समाधि में मृत्यु एकदम नहीं होती है। इसकी प्रक्रिया १२ वर्ष तक शनै: शनै: होती है। यम समाधि को त्यागकर सामान्य जीवन भी जिया जाता है, जब मरण के कारण रूप रोग, विपत्ति, हिंसपशु आक्रमण, विषाक्त जीवों के द्वारा दंश, दूसरों के द्वारा विष-पान आदि कारक दूर हो जाते हैं, परन्तु आत्महत्या/सतीदाह एकदम होता है। समाधि का भाव स्वयं के निर्मल परिणाम से उत्पन्न होता है, जबकि आत्महत्या का भाव एक आवेग, आवेश, विवशता, उत्तेजना, संक्लेश, पीड़ा आदि का परिणाम होता है। समाधि जीवन के अन्त में की जाती है जब सभी भोगों, वासना, इच्छा पूर्ति के कार्य करने के पश्चात् इनसे मुक्ति पाने का भाव उत्पन्न होता है।

मेडिकल साइन्स के अनुसार भी जिनके प्राकृतिक रूप से मृत्यु का प्रॉसेज प्रारम्भ हो चुका है, जहाँ पर मृत्यु होना अवश्यंभावी है। यदि कोई व्यक्ति टार्मिनली इल है अर्थात् उसके जीवन का अन्त अवश्यंभावी है। यदि ऐसे व्यक्ति की ब्रेन डेड हो चुकी हो तो उसके लाइफ सपोर्ट को हटाया जा सकता है। हॉलैण्ड विश्व का पहला देश है, जहाँ व्यक्ति को यह कानूनी अधिकार प्राप्त है कि वह इच्छा मृत्यु प्राप्त कर सकता है। आस्ट्रेलिया आदि कुछ देश में भी ऐसा कानून है। वैदिक धर्मानुसार श्रीराम ने भी जल समाधि ली थी। इसी प्रकार विवेकानन्द ने भी। राष्ट्रसंत विनोबा भावे ने तो जैन धर्म की विधि के अनुसार समाधि-मरण को वरण किया था। वैदिक धर्म ग्रन्थ मनुस्मृति में भी विस्तार से संन्यास एवं संन्यास मरण का जो वर्णन है उस की अधिकांश प्रक्रिया जैन समाधि-मरण प्रक्रिया से समानता रखती है। विस्तृत ज्ञान के लिए समाधि संबंधी मेरे अन्य लेख एवं साहित्य का अध्ययन करें।*

विश्वकल्याण के लिए वैदिक ऋषि दधिची ने स्वेच्छा से अन्न-जल त्याग करके शरीर त्याग किया था। जिनकी अस्थि से इन्द्र ने वज्र तैयार करके वृत्रासुर को मारा था। महात्मा बुद्ध ने भी अन्तिम में समाधि-मरण पूर्वक परिनिर्वाण प्राप्त किया था। वैदिक, बौद्ध आदि धार्मिक परंपरा में यह प्राचीन आध्यात्मिक समाधि-मरण प्रक्रिया सर्व साधारण में बहु प्रचलित नहीं होने के कारण तथा विदेश में प्राय: यह प्रथा नहीं होने के कारण वर्तमान में भारत में भी इससे सर्व साधारण जन अनभिज्ञ हैं। परन्तु जैन धर्म में अति प्राचीन काल से लाखों-करोड़ों वर्षों से यह प्रथा है और अभी भी प्रचलित है। इस दृष्टि से यह प्रक्रिया जैन स्वीय विधि (पर्सनल लॉ) है और उनके अपने कस्टम (रुढ़ि, परंपरा) है।

आत्महत्या एक इम्पलिसव प्रक्रिया है, जबकि समाधि मृत्यु-महोत्सव, वीर-मरण है, जिससे समाज में ज्ञान, वैराग्य, त्याग, आध्यात्मिता, निस्पृहता, अनासक्त, आध्यात्मिक-शहीद का पाठ पढ़ाने वाले होने से लोक-हितकारी है। अत: समाधि-मरण सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल है न कि विरुद्ध है। क्योंकि इससे समाज को शिक्षा मिलती है, प्रेरणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिलती है न कि समाज में आतंक, अव्यवस्था, अंध-विश्वास फैलता है।

जैनधर्म में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है कि किसी स्वस्थ, कम आयु वाले व्यक्ति ने विवशता या आवेश में आकर उपर्युक्त समाधि मरण के कारण बिना मरण किया हो। इतना ही नहीं, इसके दुष्प्रभाव से अन्य कोई धर्मावलम्बी ने भी कम आयु में स्वस्थ्य रहते हुए समाधि मरण किया हो –ऐसा भी नहीं है। जिस प्रकार कि सिनेमा, टी. वी. कार्यक्रम के अन्धानुकरण से अनेक बच्चों से लेकर बड़े तक भी हत्या, बलात्कार, चोरी, डकैती, आत्महत्या, फैशन, व्यसन करते हैं। ऐसा कुछ भी दुष्प्रभाव समाधि मरण से न हुआ है, न हो रहा है, न होने की संभावना है। क्योंकि आध्यात्मिक प्रक्रिया सामान्य जन के लिए दुरुह, कष्ट साध्य, अनजान, अरुचिकर, अप्रिय, अनावश्यक/व्यर्थ कार्य है। उन्हें तो सत्ता, सम्पत्ति, भोग, राग-द्वेष, मोह, ईर्ष्या, लोभ, प्रसिद्धि, लड़ाई, झगड़ा, परनिन्दा, पर-अपकार, फैशन, व्यसन, दिखावा, शोषण, भ्रष्टाचार, खाओ-पिओ-मजा चाहिए।

अधिकांश व्यक्ति भगतसिंह, सुभाषचन्द्र बोस, राणा प्रताप आदि के समान स्वार्थ त्यागी, बलिदानी नहीं बनना चाहते हैं, परन्तु टाटा, बिरला, नट-नटी, नेता-खलनेता आदि बनना चाहते हैं। क्या जो देशभक्ति, क्रान्तिकारी, त्यागवीरों ने देश हित के लिए कष्ट सहा, फाँसी पर चढ़े, स्वयं के ऊपर गोली चलाकर वीरगति को प्राप्त हुए, उन्हें कायरों के समान जघन्य अपराध स्वरूप आत्महत्या करने वाला कहा जायेगा ?

धर्म के नाम पर देवी-देवता, ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए या किसी प्रकार मान्यता अथवा संकट दूर करने के लिए जो पशु-पक्षी, नर, स्वपरिजन से लेकर स्व बलि चढ़ाते हैं, वह भी सब हिंसा है, जघन्य अपराध है, मानव जाति के लिए कलंक है, पर्यावरण को पारस्थितिकी तंत्र को क्षति पहुँचाने वाला है। इसी प्रकार मांस, चमड़ा, हड्डी, शारीरिक किसी भी अवयव के लिए, औषधि, प्रसाधन-सामग्री के लिए या धन कमाने के लिए जो पशु-पक्षी आदि की हत्या सामान्य व्यक्ति से लेकर सरकार कानून बनाकर करती है, करवाती है, लाइसेन्स देती है, मांस निर्यात करती है, वह सब हत्या है। प्राकृतिक न्याय के अनुसार घोर अवैधानिक अपराध है तथा पर्यावरण प्रदूषक एवं पारस्थितिकी तंत्र के हानिकारक होने से वैश्विक अपराध है। इसी प्रकार गर्भपात, दहेज हत्या, फिरोति के लिए अपहरण, शोषण, भ्रष्टाचार, अन्याय-अत्याचार, अव्यवस्था, चोरी, मिलावट, कर्तव्य चोरी, अनुशासन हीनता, फैशन-व्यसन, अस्वच्छता, उत्श्रृंखलता, शीघ्र समय पर न्याय नहीं मिलना, धर्मान्धता, कट्टरता, आतंकवाद, राजनैतिक भ्रष्टाचार आदि अपराध है, समाज व राष्ट्र के लिए अहितकर है। अत: इन सब को जन-जागृति, लोकहित याचिका के द्वारा, शिक्षा, संस्कार, सदाचार, सरकार और कानून द्वारा रोकना चाहिए, परिशोधन करना चाहिए। इन सब के लिए समय, साधन, ज्ञान, विवेक, साहस, पुरुषार्थ नहीं लगाते हैं, परन्तु अनावश्यक कार्य में इन सब का दुरुपयोग करते हैं। आओ ! हम सब मिलकर पंथ-मत, जाति-राजनीति के भेद-भाव को त्यागकर आत्म विकास से लेकर विश्व विकास के लिए समग्रता से स्वेच्छा से सतत प्रयास करें। ❐

---

* आचार्य श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव द्वारा लिखित पुस्तक "**अमृत तत्त्व की उपलब्धि हेतु समाधि मरण**" वैज्ञानिक विवेचनायुक्त विशेषत: पठनीय है। इससे अध्यात्म की दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा मिलती है। – प्रकाशक : धर्म दर्शन विज्ञान शोध संस्थान, बडौत (उ.प्र.) – **सम्पादक**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वधर्मरक्षा का प्रयत्न : सल्लेखना

❐ प्रो. रतनचन्द्र जैन

हाल ही में राजस्थान में एक जैन साध्वी द्वारा मृत्यु के निकट आ जाने पर सल्लेखना विधि या संथारा विधि (पवित्र आचार-विचारपूर्वक मरने की विधि) अपनाये जाने पर एक सज्जन ने सतीप्रथा से तुलना कर उसे आत्महत्या का नाम दिया है और उस पर रोक लगाने के लिए राजस्थान उच्च न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की है। यह जैनधर्म के सिद्धान्तों और सल्लेखना के अर्थ से अनभिज्ञ होने का कुपरिणाम है तथा एक अहिंसा-अपरिग्रह-अनेकान्त प्रधान, लोक-कल्याणकारी, प्राचीनधर्म को छिन्न-भिन्न करने की धर्मस्वातन्त्र्य-विरोधी, अलोकतान्त्रिक साजिश है। यदि उक्त सज्जन ने जैनधर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया होता, तो वे सल्लेखना को आत्महत्या कहने की गलती न करते, क्योंकि तब वे समझ जाते कि वह आत्महत्या नहीं है, अपितु निकट आयी हुयी और न टाली जाने योग्य मृत्यु से घबरा कर प्राणरक्षा के लिए धर्म से च्युत करने वाली पापक्रियाओं में न फँसने की साधना है। ईसा की तीसरी सदी में हुए जैनाचार्य समन्तभद्र ने सल्लेखना अर्थात् समाधिमरण (शान्तिपूर्वक मरण) का लक्षण 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' की निम्नलिखित कारिका में बतलायी है –

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥५/१॥

अनुवाद – जब किसी भयंकर उपसर्ग (प्राकृतिक या मनुष्य-देव-तिर्यंच-जनित विपदा,), घोर अकाल अत्यन्त वृद्धावस्था और किसी असाध्य रोग के कारण प्राणों पर संकट आ जाय और उसे नैतिकमार्ग और धर्ममार्ग (अहिंसकमार्ग) से टाला न जा सके, मृत्यु सुनिश्चित हो जाय, तो नैतिकता और धर्म की रक्षा के लिए अर्थात् अपने को अनैतिकमार्ग और पाप मार्ग में प्रवृत्त होने से बचाने के लिए धर्मपूर्वक प्राणों का परित्याग करना सल्लेखना, समाधिमरण या संथारा कहलाता है।

सल्लेखना की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सल्लेखना में आत्महत्या नहीं की जाती, अपितु जब किसी आततायी मनुष्य या सिंहादि हिंस्र पशु के द्वारा मुनि या श्रावक का हत्या की जा रही हो अथवा भूकम्प, बाढ़, अग्नि, बुढ़ापे या भयंकर रोग से हत्या हो रही हो और उससे बचने का नैतिक और धर्म-संगत उपाय न हो, तब मृत्यु से बचाने में असमर्थ आहार-जल-औषधि आदि के परित्याग का व्रत लेकर अर्थात् समस्त सांसारिक पदार्थों से राग छोड़कर धर्मपूर्वक समभाव और क्षमाभाव से मृत्यु को स्वीकार कर लेने का नाम सल्लेखना है। और जब ऐसा होता है, तब न तो जीवन से मोह रहता है, न मृत्यु की चाह होती है। जीवन मोह और मृत्यु की चाह होने को सल्लेखना में दोष माना गया है।

इस नियम का उल्लेख ईसा की द्वितीय शताब्दी में हुए आचार्य उमास्वामी ने जैन धर्म के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' के ७/३७ सूत्र में किया है –

"जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥"

अनुवाद – जीवित रहने की इच्छा, मरने की इच्छा, मित्रों से अनुराग, पूर्वानुभूत सुखों का बार-बार स्मरण और सल्लेखना से स्वर्गादिफलों की चाह, ये पाँच सल्लेखना के अतिचार (उनमें दोष उत्पन्न करनेवाले कारण) हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस आर्षवचन से सिद्ध है कि सल्लेखना में मुनि या श्रावक मरने की चाह नहीं करता, बल्कि बाह्य कारणों से मृत्यु के अनिवार्य हो जाने पर उससे भय त्याग देता है और अपने अहिंसादि व्रतों की रक्षा करते हुए मृत्यु का वरण करता है। इस प्रकार सल्लेखाना आत्महत्या नहीं है, अपितु बाह्य कारणों से मृत्यु के अनिवार्य हो जाने पर अपने धर्म की रक्षा का प्रयत्न है।

सल्लेखना आत्महत्या क्यों नहीं?

आत्महत्या करने वाला क्रोध, शोक, विषाद, भय, निराशा आदि के आवेग में मृत्यु के कारण स्वयं जुटाता है, सल्लेखनामरण में मृत्यु के कारण बाहर से आते है। आत्महत्या में मनुष्य स्वयं ही फाँसी लगाता हैं, कुएं में कूदता है, आग में जलता है, जहर खाता है या अपने को गोली मार लेता है। लेकिन सल्लेखना-मरण दूसरों के द्वारा प्राणघातक उपसर्ग किये जाने पर, प्राणघातक प्राकृतिक विपदा आने पर अथवा प्राणघातक असाध्यरोग या अतिवृद्धावस्था हो जाने पर होता है। आरे इसमें भी विशेषता यह है कि सल्लेखनाव्रतधारी मरते समय न तो क्रोध के आवेग में रहता है, न शोक के, न भय के, न विषाद के और न निराशा के। वह परम शान्तभाव में स्थित रहता है।

सल्लेखना आत्महत्या क्यों नहीं है? इसका खुलासा पाँचवीं शताब्दी ई. के जैनाचार्य पूज्यपाद स्वामी ने निम्नलिखित शब्दों में किया है –

"स्यान्मतमात्मवधः प्राप्नोति, स्वाभिसन्धि-पूर्वकायुरादिनिवृत्तेः? नैष दोषः,अप्रमत्तत्वात्। 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इत्युक्तम्। न चास्य प्रमादयोगोऽस्ति। कुतः? रागाद्यभावात्। रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवति। न सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषः। उक्तं च –"

रागदीणमणुप्पा अहिंसगत्तं ति देसिदं समये।
तेसिं च उप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा॥

किं च मरणास्यानिष्टत्वाद्यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसञ्चयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः। तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति। दुष्परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसञ्चये प्रवर्तमानः तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति।

दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत्?

(सवार्थसिद्धि ७/२२)।

अनुवाद – शंकाः चूँकि सल्लेखना में अपने अभिप्राय से आयु आदि का त्याग किया जाता है, इसलिए यह आत्मघात है। समाधानः ऐसा नहीं हैं, क्योंकि सल्लेखना में प्रमाद (राग-द्वेष-मोह) का अभाव है। 'प्रमत्तयोग से (राग-द्वेष-मोह के कारण= क्रोधादि के आवेग में) प्राणों का घात करना हिंसा है' यह पहले (तत्त्वार्थसूत्र/अध्याय ७ सूत्र १३ में) कहा जा चुका है। किन्तु सल्लेखनाव्रतधारी के प्रमाद नहीं होता, क्योंकि उसमें रागादि का अभाव होता है। जो मनुष्य रागद्वेषमोह से आविष्ट होकर विष, शस्त्र आदि उपकरणों से अपना वध करता है, वह आत्मघाती होता है। सल्लेखना को प्राप्त मनुष्य में रागद्वेष मोह नहीं होते, अतः वह आत्मघाती नहीं होता। कहा भी गया है –

"जिनेन्द्रदेव ने यह उपदेश दिया है कि रागादिभावों की उत्पत्ति न होना अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना हिंसा।"

इसके अतिरिक्त मरना कोई मरना नहीं चाहता। जैसे कोई व्यापारी अपने घर में अनके प्रकार की विक्रेय वस्तुओं का संग्रह और देनलेन करता है, उसे अपने घर का विनाश इष्ट नहीं होता। फिर भी यदि कहीं से उसके विनाश का कारण उपस्थित हो जाय, तो वह यथाशक्ति उसे टालने का प्रयत्न करता है। किन्तु यदि टालना संभव न हो, तो घर में रखी विक्रय सामग्री को नष्ट होने से बचाने की कोशिश करता है, इसी प्रकार गृहस्थ भी अपने शरीररूपी घर में व्रत-शीलरूप सामग्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का संचय करता है, अत: वह उस सामग्री के आश्रयभूत शरीर का विनाश नहीं होने देना चाहता। फिर भी यदि उसके विनाश का कारण उपस्थित हो जाता है। तो वह अपने व्रतशीलादि गुणों को आघात न पहुँचाते हुए विनाश के कारण का परिहार करता है। किन्तु शरीरविनाश के कारण का परिहार संभव न होने पर ऐसा प्रयत्न करता है, जिससे अपने गुणों का विनाश न हो। ऐसा करना आत्मवध कैसे हो सकता है?''

(स.सि. ७/२२)

इस आर्षवचन से स्पष्ट है कि सल्लेखना में न तो मरने की इच्छा की जाती है, न मरने का प्रयत्न, अपितु जब उपसर्ग, दुर्भिक्ष, रोग, बुढ़ापा आदि बाह्य कारण मुनि या श्रावक को मृत्यु के मुख में घसीट कर ले जाने लगते हैं, तब शरीर को न बचा पाने की स्थिति में वह अपने व्रत-शील-संयम आदि धर्म की रक्षा का प्रयत्न करता है। इस प्रकार सल्लेखना में मनुष्य के पास करने के कारणों को स्वयं जुटाने का अवसर ही नहीं रहता , क्योंकि वे बाहर से ही अपने आप जुट जाते हैं। अपने-आप उपस्थित मृत्यु के कारणों को जब टालना असंभव हो जाता है, तभी तो सल्लेखनाव्रत ग्रहण किया जाता है, अत: इसे आत्महत्या कहने कि लिए तो कोई कारण ही नहीं है।

धर्म और न्याय की रक्षा के लिए मृत्यु का वरण बलिदान है, आत्महत्या नहीं

यदि कहा जाय कि मृत्यु का कारण उपस्थित होने पर जान की रक्षा जैसे भी बने वैसे की जाय, अन्यथा जो मृत्यु होगी, वह आत्महत्या कहलायेगी, तो देश की आजादी के लिए अँग्रेजों की तोपों और बन्दूकों के सामने खड़े होकर अपनी जान दे देने वाले शहीदों की मौत आत्महत्या कहलायेगी, बलिदान नहीं। सरदार भगतसिंह का फाँसी पर चढ़ जाना और चन्द्रशेखर आजाद का अंग्रेजों की पकड़ से बचने के लिए अपने को गोली मार लेना भी आत्मघात की परिभाषा में आयेगा, क्योंकि ये अंग्रेजों के सामने घुटने टेककर आत्मरक्षा कर सकते थे। किन्तु इनके द्वारा मौत को गले लगाये जाने के कदम को संसार के किसी भी व्यक्ति ने आत्महत्या नहीं कहा, सभी ने बलिदान कहा है। इसी प्रकार देशद्रोह के लिए तैयार न होने वाले किसी सैनिक या नागरिक को देश के शत्रु मार डालते हैं, अपने शीलभंग का विरोध करने वाली किसी स्त्री का दुष्ट लोग गला घोंट देते हैं, किसी मनुष्य या पशु की हत्या कर दी जाती है, अपना धर्म छोड़ने या बदलने के लिए तैयार न होनेवाले को मौत के घाट उतार दिया जाता है, तो स्वधर्म की रक्षा के लिए इन लोगों का मृत्यु को वरण कर लेना क्या आत्महत्या कहा जा सकता है ? इसी प्रकार किसी अहिंसा-व्रतधारी मनुष्य को ऐसा रोग हो जाये, जो किसी प्राणी के अंगों से बनी दवा से ही दूर हो सकता हो, किन्तु वह अपने धर्म की रक्षा के लिए उस मांसमय औषधि का सेवन न करे और रोग से उसकी मृत्यु हो जाय, तो क्या उसे आत्महत्या कहा जायेगा ? अथवा किसी शाकाहार-व्रतधारी मनुष्य को कोई डाकू या आतंकवादी पकड़ कर ले जाय और उसे मांस-मद्य और नशीली दवाओं के सेवन पर मजबूर करे, अन्यथा मार डालने की धमकी दे, तो उसका मांसादि का सेवन न कर डाकू या आतंकवादी के हाथों मर जाना क्या आत्मघात की परिभाषा में आयेगा ? अथवा कभी भयंकर अकाल पड़ने से भक्ष्य पदार्थों का अभाव हो जाये तथा मनुष्य ऐसे पदार्थों का भक्षण न करे, जिससे उसका धर्म नष्ट होता हो या शरीर के अपंग होने का डर हो, तब यदि वह भूख से मर जाता है, तो क्या उसे आत्महत्या कहेंगे? दुनिया में ऐसी कोई भी डिक्शनरी नहीं है, जिसमें इन्हें आत्महत्या कहा गया हो, सर्वत्र इन्हें बलिदान शब्द से ही परिभाषित किया गया है।

संसार के किसी भी धर्म या कानून में मौत से डरकर प्राण बचाने के लिए देश की आजादी की लड़ाई से विमुख हो जाने को, देशद्रोही के लिए तैयार हो जाने को, किसी स्त्री का अपना शीलभंग स्वीकार कर लेने को अथवा अहिंसा-व्रतधारी या शाकाहार-धर्मावलम्बी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के मांसाहारी हो जाने को जायज नहीं ठहराया जा सकता, अपितु देशरक्षा और धर्मरक्षा के लिए देश के शत्रुओं, बलात्कारियों, डाकुओं, आतंकवादी, अकाल या रोग के हाथों मारे जाने को ही उचित ठहराया जा सकता है। इसलिए धर्म और कानून की नजरों में भी ऐसी मृत्यु बलिदान की ही परिभाषा में आ सकती है, आत्महत्या की परिभाषा में नहीं। सुप्रसिद्ध भारतीय मनीषि भर्तृहरि ने कहा है –

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तवन्तु,
लक्ष्मी: समाविशतु गच्छति वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथ: प्रविचलन्ति पदं न धीरा:॥

अर्थात् अपने को नीतिनिपुण समझने वाले हमारे न्यायसंगत आचरण की निन्दा करें अथवा प्रशंसा, उससे हमें आर्थिक लाभ हो या हानि अथवा हम तुरन्त मरण को प्राप्त हो जायें या सैकड़ों वर्षों तक जियें, न्यायशील पुरुष न्यायमार्ग का परित्याग नहीं करते।

इस सूक्ति में भर्तृहरि ने धर्म और न्याय की रक्षा के लिए अपने प्राणों का परित्याग कर देने को उत्कृष्ट और अनुकरणीय आचरण कहा है, आत्महत्या नहीं।

जैसे गरीबों के कारण भुखमरी से अर्थात् भोजन न मिलने से होने वाली मृत्यु आत्महत्या नहीं कहला सकती, वैसे ही आततायियों द्वारा किए जानेवाले उपसर्ग से अथवा अकाल पड़ने से अथवा अन्य किसी परिस्थिति से मुनि को शुद्ध भोजन न मिले, तो भोजन के अभाव में होनेवाली उनकी मृत्यु को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता।

जैसे राजनीतिक स्वतंत्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध या मौलिक अधिकार है, वैसे ही स्वधर्मरक्षा की स्वतंत्रता भी मनुष्य का मौलिक अधिकार है। अत: सल्लेखना धर्म रक्षा का प्रयास होने के कारण जैनधर्मावलम्बियों का मौलिक अधिकार है। जैसे किसी मांसाहारी को कानून के द्वारा शाकाहार के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता, वैसे ही किसी शाकाहारी को मांसाहार के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता, भले ही इससे उसके प्राण चले जायें। यदि धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र में किसी नागरिक स्वधर्म-विरुद्ध आहार-औषधि ग्रहण करने के लिए अथवा स्वधर्म-विरुद्ध जीवनपद्धति अपनाने के लिए बाध्य किया जाता है, तो न तो वह लोकतंत्र कहला सकता है, न धर्मनिरपेक्ष। अत: बाह्य कारणों से प्राणसंकट उपस्थित हो जाने पर स्वधर्म-विरुद्ध आहार-औषधि एवं स्वधर्म-विरुद्ध जीवनपद्धति को स्वीकार न करते हुए अहिंसाधर्म एवं न्यायमार्ग की रक्षा के लिए, उपस्थित हुए प्राण संकट को स्वीकार कर लेने का अधिकार अर्थात् सल्लेखना का अधिकार मनुष्य को अपने धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक राज्य के संविधान से प्राप्त है।

प्रसन्नता होने पर ही सल्लेखना संभव –

जैसा कि पूर्व में कहा गया है, मृत्यु का कारण उपस्थित हो जाने पर धर्म की रक्षा के लिए कटिबद्ध होकर धर्मविरुद्ध एवं अनैतिक उपायों से प्राणरक्षा का प्रयत्न न करना सल्लेखना है। यह कार्य ज्ञानी और धर्म में आस्थावान् मनुष्य ही कर सकता है, क्योंकि उसे ही सल्लेखना-ग्रहण में प्रसन्नता हो सकती है। प्रसन्नता के अभाव में सल्लेखना बलपूर्वक ग्रहण नहीं करायी जा सकती। प्रसन्नता होने पर मनुष्य स्वयं ही ग्रहण करता है। इसका स्पष्टीकरण पूज्यपाद स्वामी ने निम्नलिखित शब्दों में किया है – 'यस्मादसत्यां प्रीतौ बलान्न सल्लेखना कार्यते। सत्यां हि प्रीतौ स्वयमेव करोति।' (सर्वार्थसिद्धि ७/२२)।

हिन्दूधर्म में संन्यासमरण : सल्लेखनामरण

जैन धर्म में विहित सल्लेखनामरण के समान हिन्दूधर्म में भी संन्यासमरण का विधान किया गया है। संन्यासमरण के प्रकरण में 'संन्यास' का अर्थ अनशन अर्थात् आहार-त्याग है। यथा – 'संन्यासवत्यनशने पुमान् प्राय:' इत्यमर: (भट्टिकाव्य टीका ७/७३ पं. शेषराज शर्मा शास्त्री/चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी/१९९८ ई.)। और 'प्राय' का अर्थ है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनशन, मरण, तुल्य और बाहुल्य –'प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि'। इति विश्व:। 'संन्यास' (आहारत्याग) को 'प्रायोपवेशिका' भी कहा गया है। यथा –

उवाच मारुतिर्वृद्धे संन्यासिन्यत्र वानरान्।
अहं पर्यायसम्प्राप्तां कुर्वे प्रायोपवेशिकाम्॥७/७६॥

भट्टिकाव्य।

अनुवाद – हनुमानजी ने वानरों से कहा – 'वृद्ध जाम्बवान् के संन्यासी हो जाने पर (अनशन आरंभ कर देने पर) मैं भी इस पर्वत पर क्रमप्राप्त प्रायोपवेशिका (अनशन) आरंभ करता हूँ।

'संन्यासिनि-अनशनवति, 'प्रायोवशिकाम्-अनशनम्' (पं. शेषराज शर्मा शास्त्रीकृत टीका/भट्टि काव्य ७/७६)

यह अनशन (आहार त्याग) मरण के लिए किया जाता है और जिसका इस तरह मरण होता है, उसका दाहसंस्कार नहीं किया जाता – 'अत्र प्रायोपवेशतो मरणे दाहसंस्काराऽभावादिति भाव:' (पं. शेषराज शर्मा शास्त्रीकृत टीका/भट्टिकाव्य ७/७८)।

अनशन द्वारा मरण को 'प्रायोपासना' शब्द से भी अभिहित किया गया है – 'प्रायोपासनया-मरणानशनाऽनुष्ठानेन।' (वही/भट्टिकाव्य ७/७३)

हिन्दू पुराणों में आहारत्याग द्वारा किये जाने वाले मरण के लिए 'संन्यासमरण' के अतिरिक्त 'प्राय', प्रायोपवेश, प्रायोपवेशन, प्रायोपवेशिका, प्रायोपवेशनिका, प्रायोपगमन, एवं प्रायोपेत शब्द भी प्रयुक्त हैं। (देखिए, वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश, 'प्राय')। सर एम. मोनिअर विलिअम्स ने संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी में इन शब्दों के अर्थ का प्रतिपादन इस प्रकार किया है –

संन्यास – abstinence from food, giving up the body.

संन्यासिन् – abstaining from food [Bhatt]

प्राय (पुं.) – departure from life, seeking death by fasting [as a religious or penitentiary act, or to enforce compliance with a demand.]

आमरण अनशन, किसी इष्टसिद्धि के लिए खाना-पीना छोड़कर धरना देना (आप्टेकोश)।

प्रायोपगमन – going to meet death, seeking death [by abstaing from food.]

प्रायोपवेशन – abstaining from food and awaiting in a sitting posture the approach of death.

सल्लेखना के लिए 'संन्यासमरण' और 'प्रायोपगमन' शब्दों का प्रयोग जैनशास्त्रों में भी किया गया है। यथा – 'अथ संन्यासक्रिया-प्रयोगविधिं श्लोकद्वयेनाह' – आगे संन्यासपूर्वक मरण की विधि दो श्लोकों में कहते हैं। (अनगारधर्मामृत ९/६१-६२/उत्थानिका/पृ. ६७३/हिन्दी अनुवाद : सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री)।

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स॥२८॥

भगवती आराधना

अनुवाद – प्रायोपगमन-मरण, भक्तप्रतिज्ञा-मरण और इंगिनी-मरण – ये तीन पण्डित-मरण हैं। ये शास्त्रोक्त आचरण करने वाले साधु के होते हैं।

'प्राय अर्थात् संन्यास की तरह उपवास के द्वारा जो समाधिमरण होता है, उसे प्रायोपगमन समाधिमरण कहते हैं।' (षट्खण्डागम धवलटीका/विशेषार्थ/पुस्तक १/१, १, १/पृ. २४/१९९२ ई./सोलापुर)। उपनिषदों में कहा गया है कि परिव्राजक एवं परमहंस परिव्राजक साधु 'संन्यास' (अनशन) से ही देहत्याग करते हैं –

१. 'तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मण: परिव्रज्य.. संन्यासेनैव देहत्यागं करोति।' (नारदपरिव्राजकोपनिषद्/तृतीयोपदेश/ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद:/पृ. २६८)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. '...परमहंसाचरणेन संन्यासेन देहत्यागं कुर्वन्ति ते परमहंसा नामेत्युपनिषद्।'

(भिक्षुकोपनिषद्/ईशाद्यष्टोत्तर/पृ.३६८)

३. ...कुटीचको वा बहूदको वा हंसो वा परमहंसो वा...संन्यासेनैव देहत्यागं करोति स परमहंस-परिव्राजको भवति।'

(परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्/ईशाद्यष्टोत्तर/पृ. ४१९)।

संन्यासमरण को 'योगमरण' शब्द से भी अभिहित किया गया है और बतलाया गया है कि रघुकुल के राजा जीवन के अन्त में योग से शरीर का परित्याग करते थे –

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥१/८॥

चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं – 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (पातञ्जलयोगदर्शन/समाधि-पाद/सूत्र २)। इसके लिए प्रत्याहार आवश्यक होता है, जिसमें इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से निवृत्त होकर चित्ताकार सदृश हो जाती हैं – 'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (वही/साधनपाद/सूत्र ५४)। इससे योग में आहारादि का त्याग अपने-आप हो जाता है।

हिन्दू पुराणों में दो प्रकार के नर-नारियों को स्वर्ग या मोक्षफल पाने की इच्छा से अग्निप्रवेश, जलप्रवेश अथवा अनशन द्वारा देहत्याग का अधिकारी बतलाया गया है –

समासक्तो भवेद्यस्तु पातकैर्महादिभिः।
दुश्चिकित्स्यैर्महारोगैः पीडितो वा भवेत्तु यः॥
स्वयं देहविनाशस्य काले प्राप्ते महामतिः।
आब्रह्माणं वा स्वर्गादिफलजिगीषया।
प्रविशेज्ज्वलनं दीप्तं कुर्यादनशनं तथा॥
ऐतेषामधिकारोऽस्ति नान्येषां सर्वजन्तुषु।
नराणामथ नारीणां सर्ववर्णेषु सर्वदा॥

(रघुवंश महाकाव्य ८/९४/मल्लिनाथ सूरिकृत संजीविनी टीका में उद्धृत)

अनुवाद – जो महापापों से लिप्त हो अथवा असाध्य महारोगों से पीड़ित हो, ऐसा महामति देह विनाशकाल के स्वयं प्राप्त हो जाने पर स्वर्ग या मोक्षफल पाने की इच्छा से जलती हुई अग्नि में प्रवेश करे अथवा अनशन करे। समस्त प्राणियों में ऐसे ही नर-नारियों को, चाहे वे किसी भी वर्ण के हों, इन उपायों से मरण का अधिकार है, अन्य किसी को नहीं।

इस विधान का अनुसरण करते हुए श्रीराम के पितामह महाराज अज ने देहविनाश का काल आ जाने पर अपने रोगोपसृष्ट शरीर का गंगा और सरयू के संगम में परित्याग कर दिया और तत्काल स्वर्ग में जाकर देव हो गये। इसका वर्णन महाकवि कालिदास ने 'रघुवंशम्' महाकाव्य के निम्नलिखित पद्यों में किया है –

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य
रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः
प्रायोपवेशनमतिर्बभूव ॥८/१४॥

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्यसद्यः।
पूर्वाकराधिकतररुचा सङ्गतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥८/९५॥

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि सल्लेखनामरण या संन्यासमरण का विधान जैनधर्म के समान हिन्दूधर्म में भी है। यद्यपि जैनधर्म में मरण का कारण उपस्थित होने पर जलप्रवेशादि द्वारा देहत्याग का विधान नहीं है, मात्र आहार-औषधि के त्याग द्वारा धर्मरक्षा करते हुए देहत्याग की आज्ञा है, तथापि हिन्दूधर्म में अनशनपूर्वक भी देह विसर्जन का विधान है। अतः सल्लेखनामरण या संन्यासमरण भारत के बहुसंख्यक नागरिकों द्वारा स्वीकृत धार्मिक परंपरा है। वर्तमान युग के महान स्वतंत्रता-संग्राम एवं धार्मिक नेता आचार्य बिनोवा भावे ने मृत्युकाल में आहार-औषधि का परित्याग कर संन्यासमरण-विधि द्वारा देह विसर्जन किया था।

महात्मा गाँधी देश की स्वतंत्रता, हिन्दू-मुस्लिम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकता, दलितों के साथ समान व्यवहार आदि के उद्देश्य से कई बार आमरण अनशन पर बैठे। कुछ दिन पूर्व सुश्री मेधा पाटकर ने भी गुजरात के सरदार सरोवर बाँध की ऊँचाई कम कराने एवं विस्थापितों को उचित मुआवजा दिलाने के लिए आमरण अनशन प्रारम्भ किया था। यद्यपि राजनीतिक कारणों से इन राजनेताओं के प्राण बचाने के लिए सरकार शीघ्र समझौता कर लेती है, यदि समझौता न करे, तो मृत्यु अवश्यंभावी है। इस तरह सल्लेखना का एक नया संस्करण राजनीति एवं लोकनीति में भी प्रविष्ट हो गया है।

Dr. T. G. Kalghatgi लिखते हैं– "In the present political life of our country, fasting unto death for specific ends has been very comman" [jain view of life/Jain Samskrti Samraksaka Sangha Sholapur,1984 A.D./ P.185.]

सती प्रथा से तुलनीय नहीं –

संन्यासमरण या संल्लेखनामरण की सतीमरण से तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि सती होने वाली स्त्री-

१. अपनी मृत्यु का अपरिहार्य कारण उपस्थित न होने पर भी अपना प्राणान्त कर लेती है।

२. उसके सामने धर्ममय जीवनपद्धति के विनष्ट होने का संकट नहीं होता।

३. उसका मन राग-द्वेष से मुक्त न होकर मृत पति के प्रति तीव्र राग से और विधवा जीवन के कष्टों के प्रति भीरुताजन्य द्वेष से ग्रस्त होता है।

४. सतीमरण से न तो मरने वाली स्त्री को कोई धार्मिक लाभ होता है, न उसके मृत पति को। संस्कृत के सुप्रसिद्ध गद्यकवि बाणभट्ट स्वरचित 'कादम्बरी' नामक उपन्यास में सतीमरण को अत्यन्त अज्ञानतापूर्ण एवं अहितकर कृत्य बतलाते हुए लिखते हैं –

'यदेतदनुमरणं नाम तदतिनिष्फलम्, अविद्वज्जनाचरित एष मार्गः। ... अत्र हि विचार्यमाणे स्वार्थ एव प्राणपरित्यागोऽयम् असह्यशोकवेदना-प्रतीकारत्वादात्मनः। उपरतस्य तु न कमपि गुणमावहति। ... असावप्यात्मघाती केवलमेनसा संयुज्यते।' (कादम्बरी/महाश्वेतावृतान्त/पृ. १११-११२/ चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी)।

अनुवाद – यह जो अनुमरण (सतीमरण) है, वह अत्यन्त निष्फल है। यह अज्ञानियों के द्वारा अपनाया जानेवाला मार्ग है। ... विचार करके देखा जाये, तो यह प्राणपरित्याग स्वार्थ ही है। क्योंकि यह असह्यवेदना से छुटकारा पाने के लिए किया जाता है। जिसके लिए प्राण त्यागे जाते हैं, उसका इससे कोई लाभ नहीं होता। ... और आत्मघात करनेवाला भी केवल पाप से लिप्त होता है।

किन्तु संन्यासमरण सा सल्लेखना न तो मृत्यु के अपरिहार्य कारण के अभाव में किया जाता है, न धर्ममय जीवन पद्धति का विनाश करनेवाले कारण के अभाव में, न ही जीवन के असह्य कष्टों से भीरुता के कारण। तथा सल्लेखनामरण से पापमय, अनैतिक जीवनपद्धति को ठुकराने और पापकर्मों के बन्धन से बचने का लाभ होता है। इस प्रकार सल्लेखनामरण और सतीमरण में परस्पर अत्यन्त वैषम्य है। अतः सल्लेखनामरण को सतीमरण के समान आत्मघात नहीं कहा जा सकता।

वास्तविक हत्याओं और आत्महत्याओं पर ध्यान दिया जाय –

जैनधर्म का सल्लेखनाव्रत, जो आत्महत्या नहीं है, उसे आत्महत्या नाम देकर न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कराने का प्रयत्न करनेवाले महाशय से मेरा अनुरोध है कि वे एक अनावश्यक, धर्म विरोधी, लोकहित विरोधी, धर्म निरपेक्षता विरोधी एवं लोकतंत्र विरोधी कृत्य में अपनी शक्ति का अपव्यय करने के बजाय प्रतिदिन हजारों की संख्या में हो रही कानून-सम्मत वास्तविक हत्याओं और आत्महत्याओं को अवैध घोषित कराने का अत्यावश्यक पुण्य कार्य सम्पन्न करें।

सन् १९७१ तक भारत में गर्भपात करना व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कराना कानूनन अपराध माना जाता था, किन्तु वर्ष १९७१ में भारत सरकार ने The medical Termination of Pregnancy Act, 1971 बनाकर परिवार-नियोजन के लिए अपनाये गये गर्भनिरोधक साधनों के विफल रहने पर गर्भपात कराने को कानूनी मान्यता प्रदान कर दी, जिससे प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में भ्रूणहत्याएँ की जाने लगीं। संपूर्ण भारत में लगभग ५१ लाख ४७ हजार गर्भपात प्रतिवर्ष हो रहे हैं और इस संख्या में प्रतिवर्ष वृद्धि हो रही है। (देखिए, श्री गोपीनाथ अग्रवाल द्वारा लिखित लघुपुस्तिका 'गर्भपात : उचित या अनुचित : फैसला आपका'/पृ. १७-१८/प्रकाशक – प्राच्य श्रमण भारती, १२/ए, प्रेमपुरी, निकट जैन मंदिर, मुजफ्फरनगर २५१००१/ई. सन् १९९८)।

सल्लेखना से तो वर्षभर में दो-चार ही मृत्युएँ होती हैं, किन्तु गर्भपात से प्रतिवर्ष ६०-७० लाख भ्रूणहत्याएँ हो रही हैं। सल्लेखनाधारी को तो मृत्यु से बचाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि सल्लेखना तब ग्रहण की जाती है, जब उपसर्ग, रोग आदि के रूप में उपस्थित हुआ मृत्यु का कारण अपरिहार्य हो जाता है। अतः जिसे मरने से बचाया ही नहीं जा सकता, उसे बचाने की निरर्थक कोशिश करने की बजाय, जिन मानव-शिशुओं का जीवन अभी विकसित ही हो रहा है, जिनकी स्वाभाविक मृत्यु अभी वर्षों दूर है, उनकी कानून की सहमति से गर्भ में ही करायी जा रही हत्या को रोकना सर्वप्रथम आवश्यक है। सल्लेखना को अवैध घोषित कराने के लिए प्रयत्नशील बन्धु पहले विशाल स्तर पर होनेवाली इस जघन्य मानवहत्या को अवैध कराने के लिए कदम उठायें। क्या यह मानववध उनके मानवतावादी हृदय को तनिक भी उद्वेलित नहीं करता ? मृत्यु के कगार पर पहुँचे हुओं की मौत को रोकने का असंभव कार्य करने के इच्छुक मित्र जीवन की ओर कदम बढ़ाते गर्भस्थ मानवों के नृशंस वध को रोकने का साहस दिखाएँ।

इसी प्रकार शरीर के नाजुक अंगों को सड़ा-गलाकर मनुष्य को मौत का ग्रास बना देनेवाले जिस मद्यपान को प्रतिबन्धित कराने के लिए गाँधीजी ने आंदोलन किया था और उनकी इच्छा का आदर करते हुए सरकार ने उस पर प्रतिबन्ध लगाया भी था, उसे ही उसने राजस्व के लोभ में आकर बाद में हटा दिया और संपूर्ण देशवासियों को मद्यपान की खुली छूट देकर धीमी आत्महत्या की अनुमति दे दी। आये दिन सुनने में आता है कि जहरीली शराब पीकर सैकड़ों लोग मर गये।

धूमपान भी प्राणघातक है। यह कैंसर का प्रमुख कारण है। सिगरेट के पैकिटों पर ऐसा सरकार लिखवाती भी है। इस पर भी प्रतिबन्ध न लगाकर सरकार ने देशवासियों को आत्महत्या की कानूनी मान्यता दे दी। यह सरकार द्वारा करायी जानेवाली और मद्यपान तथा धूमपान करने वालों के द्वारा की जानेवाली आत्महत्या है। इसी तरह शासन व्यवस्था में व्याप्त भयंकर भ्रष्टाचार एवं गलत नीतियों के कारण आज तक लोग गरीबी से छुटकारा नहीं पा सके हैं और हर वर्ष सैकड़ों लोग भुखमरी, कुपोषण, ठंड और लू से पीड़ित होकर मर जाते हैं। यह तो सीधी हत्या है, आत्महत्या नहीं। और अब तो विदेशी आतंकवादियों के द्वारा देश में घुसकर जगह-जगह बम विस्फोट कर एक साथ हजारों नागरिकों को मौत के घाट उतारा जा रहा है। यह हत्या है या आत्महत्या ? यदि यह हत्या है, तो इसका जिम्मेदार कौन है ? विदेशी आतंकवादी या टाडा जैसे कानून को रद्द कर देनेवालों की सरकार ? देश के नागरिकों की जान-माल की रक्षा का जिम्मेदार कौन है ?

जो सल्लेखना आत्महत्या नहीं है, उसे आत्म-हत्या का नाम देकर झूठी आत्महत्या को रोकने की कवायद झूठा मानवतावाद है। जिन मित्र ने सल्लेखना को आत्महत्या कहकर उसे अवैध घोषित कराने के लिए राजस्थान उच्च न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की है, उनसे प्रार्थना है कि वे यदि सच्चे मानवतावादी हैं, तो सर्वप्रथम उपर्युक्त वास्तविक हत्याओं और आत्महत्याओं को अवैध कराने का प्रयत्न करें। □

– ए/२, मानसरोवर, शाहपुरा, भोपाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधिमरण : तुलना एवं समीक्षा

❑ प्रो. डॉ. सागरमल जैन

जैन परम्परा के सामान्य आचार नियमों में सल्लेखना या संथारा (मृत्युवरण) एक महत्वपूर्ण तथ्य है। जैन गृहस्थ-उपासकों एवं श्रमण-साधकों, दोनों के लिए स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का विधान जैन आगमों में उपलब्ध है। जैन आगम साहित्य ऐसे साधकों की जीवन गाथाओं से भरा पड़ा है, जिन्होंने समाधिमरण का व्रत ग्रहण किया था।

साधकों के प्रति महावीर का संदेश यही था कि मृत्यु के उपस्थित होने पर शरीरादि से अनासक्त होकर उसे आलिंगन दे दो। इसी अनासक्त मृत्यु की कला को महावीर ने सल्लेखनाव्रत कहा है। आचार्य समन्तभद्र सल्लेखना की परिभाषा कहते हुए लिखते हैं कि आपत्तियों, अकालों, अति-वृद्धावस्था एवं असाध्य रोगों में शरीर त्याग करने को सल्लेखना कहते हैं[1], अर्थात् जिन स्थितियों में मृत्यु अनिवार्य सी हो गई हो उन परिस्थितियों में मृत्यु के भय से निर्भय होकर देहासक्ति का विसर्जन कर मृत्यु का स्वागत करना ही सल्लेखनाव्रत है।

समाधिमरण के भेद आगम – जैन आगम ग्रंथों में मृत्युवरण के अवसरों की अपेक्षा के आधार पर समाधिमरण के दो प्रकार माने गये हैं – १. सागारी संथारा और २. सामान्य संथारा।

सागारी संथारा – जब अकस्मात् कोई ऐसी विपत्ति उपस्थित हो, जिसमें से जीवित बच निकलना संभव प्रतीत न हो, जैसे आग में गिर जाना, जल में डूबने जैसी स्थिति हो जाना अथवा हिंसक पशु या किसी ऐसे दुष्ट व्यक्ति के अधिकार में फँस जाना, जहाँ सदाचार से पतित होने की संभावना हो, ऐसे संकटपूर्ण अवसरों पर जो संथारा, ग्रहण किया जाता है, वह सागारी संथारा कहलाता है। यदि व्यक्ति उस विपत्ति या संकटपूर्ण स्थिति से बाहर हो जाता है तो वह पुनः देह-रक्षण के सामान्य क्रम को चालू रख सकता है। संक्षेप में अकस्मात् मृत्यु का अवसर उपस्थित हो जाने पर, जो संथारा ग्रहण किया जाता है, वह सागारी संथारा मृत्यु-पर्यन्त के लिए नहीं, वरन् परिस्थिति-विशेष के लिए होता है। अतः उस परिस्थिति-विशेष के समाप्त हो जाने पर उस व्रत की मर्यादा भी समाप्त हो जाती है।[2]

सामान्य संथारा – जब स्वाभाविक जरावस्था अथवा असाध्य रोग के कारण पुनः स्वस्थ होकर जीवित रहने की समस्त आशाएँ धूमिल हो गयी हों, तब यावज्जीवन जो देहासक्ति एवं शरीर-पोषण के प्रयत्नों का त्याग किया जाता है और जो देहपात पर ही पूर्ण होता है वह सामान्य संथारा है। सामान्य संथारा ग्रहण करने के लिए जैन आगमों में निम्न स्थितियाँ आवश्यक मानी गयी हैं –

जब शरीर की सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों के संपादन करने में अयोग्य हो गयी हों, तब शरीर का माँस एवं शोणित सूख जाने पर शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया हो, पचन-पाचन, आहार-निहार आदि शरीरिक क्रियाएँ शिथिल हो गयी हों और इनके कारण साधना और संयम का परिपालन सम्यक् रीति से होना संभव नहीं हो, इस प्रकार मृत्यु का जीवन की देहली पर उपस्थित हो जाने पर सामान्य संथारा ग्रहण किया जा सकता है।[3]

बौद्ध परम्परा में मृत्युवरण – यद्यपि बुद्ध ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परंपरा के समान ही धार्मिक आत्म-हत्याओं को अनुचित माना है, तथापि बौद्ध साहित्य में कुछ ऐसे संदर्भ अवश्य हैं, जो स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का समर्थन करते हैं। संयुक्त निकाय में असाध्य रोग से पीड़ित भिक्षु वक्कलि कुलपुत्र[४], भिक्षु छन्न[५], द्वारा की गई आत्म-हत्याओं का समर्थन स्वयं बुद्ध ने किया था और उन्हें निर्दोष कह कर दोनों ही भिक्षुओं को परिनिर्वाण प्राप्त करनेवाला बताया था। जापानी बौद्धों में तो आज भी हरीकरी की प्रथा मृत्युवरण की सूचक है।

फिर भी जैन परंपरा और बौद्ध परंपरा में मृत्युवरण के प्रश्न को लेकर कुछ अन्तर भी है। प्रथम तो यह कि जैन परंपरा के विपरीत बौद्ध परंपरा में शस्त्रवध से तत्काल ही मृत्युवरण कर लिया जाता है। जैन आचार्यों ने शस्त्रवध के द्वारा तात्कालिक मृत्युवरण का विरोध इसलिए किया था कि उन्हें उसमें मरणाकांक्षा नहीं है, तो फिर मरण के लिए उतनी आतुरता क्यों ? इस प्रकार जहाँ बौद्ध परंपरा शस्त्रवध के द्वारा की गई आत्महत्या का समर्थन करती हैं, वहीं जैन परंपरा उसे अस्वीकार करती है। इस संदर्भ में बौद्ध परंपरा वैदिक परंपरा के अधिक निकट है।

वैदिक परंपरा में मृत्युवरण –

सामान्यतया हिन्दु धर्मशास्त्रों में आत्महत्या को महापाप माना गया है। पाराशरस्मृति (४/१/२) में कहा गया है कि जो क्लेश, भय, घमण्ड और क्रोध के वशीभूत होकर आत्महत्या करता है, वह ६०००० वर्ष तक नरकवास करता है, लेकिन इनके अतिरिक्त हिन्दु धर्मशास्त्रों में ऐसे भी अनेक संदर्भ हैं, जो स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का समर्थन करते हैं। प्रायश्चित्त के निमित्त से मृत्युवरण का समर्थन मनुस्मृति (११/९०-९१), याज्ञवल्क्यस्मृति (३/२५३), गौतमस्मृति (२३/१), वशिष्ठधर्मसूत्र (२२/२२, १३/१४) और आपस्तम्बसूत्र (१/९/२५/१-३,६) में भी किया गया है। मात्र इतना ही नहीं, हिन्दु धर्मशास्त्रों में भी ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ महाभारत के अनुशासन पर्व (२५/६२-६४), वनपर्व (८५/८३) एवं मत्स्यपुराण (१८६/३४/३५) में अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, गिरिपतन, विषप्रयोग या उपवास आदि के द्वारा देहत्याग करने पर ब्रह्मलोक या मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा माना गया है।

अपरार्क ने प्राचीन आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि यदि कोई गृहस्थ असाध्य रोग से पीड़ित हो, जिसने अपने कर्तव्य पूरे कर लिए हों, वह महाप्रस्थान हेतु अग्नि या जल में प्रवेश कर अथवा पर्वत-शिखर से गिरकर अपने प्राणों की आहुति दे सकता है। ऐसा करके वह कोई पाप नहीं करता। उसकी मृत्यु तो तपों से भी बढ़कर है। शास्त्रानुमोदित कर्तव्यों के पालन में अशक्त होने पर जीवन जीने की इच्छा रखना व्यर्थ है।[६] श्रीमद्भागवत के ११वें स्कन्ध के १८वें अध्याय में भी स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का समर्थन न केवल शास्त्रीय आधारों पर हुआ है, वरन् व्यावहारिक जीवन में इसके अनेक उदाहरण भी परंपरा में उपलब्ध हैं। महाभारत में पाण्डवों के द्वारा हिमालय-यात्रा में किया गया देहपात मृत्युवरण का एक प्रमुख उदाहरण है। डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे ने वाल्मीकि रामाणय एवं अन्य वैदिक धर्मग्रन्थों तथा शिलालेखों के आधार पर शरभंग, महाराजा रघु, कलचुरी के राजा गांगेय, चंदेल कुल के राजा गंगदेव, चालुक्यराज सोमेश्वर आदि के स्वेच्छा मृत्युवरण का उल्लेख किया है।[७] मैगस्थनीज ने भी ईसवी पूर्व चतुर्थ शताब्दी में प्रचलित स्वेच्छामरण का उल्लेख किया है। प्रयोग में अक्षयवट से कूद कर गंगा में प्राणान्त करने की प्रथा तथा काशी में करवत लेने की प्रथा वैदिक परंपरा में मध्ययुग तक भी काफी प्रचलित थी।[८] यद्यपि ये प्रथाएँ आज नामशेष हो गयी हैं, फिर भी वैदिक संन्यासियों द्वारा जीवित समाधि लेने की प्रथा आज भी जनमानस की श्रद्धा का केन्द्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल जैन और बौद्ध परंपराओं में वरन् वैदिक परंपरा में भी मृत्युवरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को समर्थन दिया गया है। लेकिन जैन और वैदिक परंपराओं में प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ वैदिक परंपरा में जल एवं अग्नि में प्रवेश, गिरि-शिखर से गिरना, विष या शस्त्र प्रयोग आदि विविध साधनों से मृत्युवरण का विधान मिलता है , वहाँ जैन परंपरा में सामान्यतया केवल उपवास द्वारा ही देहत्याग का समर्थन मिलता है। जैन परंपरा शस्त्र आदि से होने वाली तात्कालिक मृत्यु की अपेक्षा उपवास द्वारा होने वाली क्रमिक मृत्यु को ही अधिक प्रशस्त करती है। यद्यपि ब्रह्मचर्य की रक्षा आदि कुछ प्रसंगों में तात्कालिक मृत्युवरण को स्वीकार किया गया है, तथापि सामान्यतया जैन आचार्यों ने तात्कालिक मृत्युवरण की, जिसे प्रकारान्तर से आत्महत्या भी कहा जा सकता है, आलोचना की है। आचार्य समन्तभद्र ने गिरि-पतन या अग्निप्रवेश के द्वारा किए जानेवाले मृत्युवरण को लोकमूढ़ता कहा है।[१] जैन आचार्यों की दृष्टि में समाधि-मरण का अर्थ मृत्यु की कामना नहीं, वरन् देहासक्ति का परित्याग है। उनके अनुसार तो जिसप्रकार जीवन की आकांक्षा दूषित मानी गई है, उसी प्रकार मृत्यु की आकांक्षा को भी दूषित माना गया है।

समाधिमरण और आत्महत्या – जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में जीविताशा और मरणाशा दोनों को अनुचित माना गया है, तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से खड़ा होता है कि क्या समाधिमरण मरणाकांक्षा नहीं हैं? वस्तुत: यह न तो मरणाकांक्षा है और न आत्महत्या ही। व्यक्ति आत्महत्या या तो क्रोध के वशीभूत होकर करता है या फिर सम्मान या हितों को गहरी चोट पहुँचने पर अथवा जीवन से निराश हो जाने पर करता है, लेकिन समाधिमरण में मरणकांक्षा का अभाव ही अपेक्षित है, क्योंकि समाधिमरण के प्रतिज्ञा-सूत्र में ही साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं मृत्यु की आकांक्षा से रहित होकर आत्मरमण करूँगा (काल अकंखमाणं विहरामि)। यदि समाधिमरण में मरने की इच्छा ही प्रमुख होती, तो उसके प्रतिज्ञा-सूत्र में इन शब्दों के रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। जैन विचारकों ने तो मरणाकांक्षा को समाधिमरण का दोष ही माना है। अत: समाधिमरण को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता। जैन विचारकों ने इसीलिए सामान्य स्थिति में शस्त्रवध, अग्निप्रवेश या गिरिपतन आदि साधनों के द्वारा तात्कालिक मृत्युवरण को अनुचित ही माना है, क्योंकि उनके पीछे मरणाकांक्षा की संभावना रही हुई है।

समाधिमरण में आहारादि के त्याग में मृत्यु की चाह नहीं होती, मात्र देह-पोषण का विसर्जन किया जाता है। मृत्यु उसका परिणाम अवश्य है, लेकिन उसकी आकांक्षा नहीं, जैसे व्रण की चीरफाड़ के परिणामस्वरूप वेदना अवश्य होती है, लेकिन उसमें वेदना की आकांक्षा नहीं होती है। जैन आचार्य ने कहा है कि समाधिमरण की क्रिया मरण के निमित्त नहीं होकर उसके प्रतिकार के लिए है, जैसे व्रण का चीरना वेदना के निमित्त नहीं होकर वेदना के प्रतिकार के लिए होता है। यदि ऑपरेशन की क्रिया में हो जाने वाली मृत्यु हत्या नहीं है, तो फिर समाधिमरण में हो जाने वाली मृत्यु आत्महत्या कैसे हो सकती है ? एक दैहिक जीवन की रक्षा के लिए है, तो दूसरी आध्यात्मिक जीवन की रक्षा के लिए है। समाधिमरण और आत्महत्या में मौलिक अन्तर है। आत्महत्या में व्यक्ति जीवन के संघर्षों से ऊबकर जीवन से भागना चाहता है, उसके मूल में कायरता है, जबकि समाधिमरण में देह और संयम की रक्षा के अनिवार्य विकल्पों में से संयम की रक्षा के विकल्प को चुनकर मृत्यु का साहस पूर्वक सामना किया जाता है।

समाधिमरण में जीवन से भागने का प्रयास नहीं, वरन् जीवन बेला की अंतिम सन्ध्या में द्वार पर खड़ी हुई मृत्यु का स्वागत है। आत्महत्या में जीवन से भय होता है, जबकि समाधिमरण में मृत्यु से निर्भयता होती है। आत्महत्या असमय मृत्यु का आमंत्रण है, जबकि संथारा या समाधिमरण मात्र मृत्यु के उपस्थित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने पर उसका सहर्ष आलिंगन है। आत्महत्या के मूल में या तो भय होता है या कामना, जबकि समाधिमरण में भय और कामना दोनों की अनुपस्थिति आवश्यक होती है।

समाधिमरण आत्म-बलिदान से भी भिन्न है। पशुबलि के समान आत्मबलि की प्रथा भी शैव और शक्ति संप्रदायों में प्रचलित रही है। लेकिन समाधिमरण को आत्म बलिदान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्म बलिदान भी भावना का अतिरेक है। भावातिरेक आत्म बलिदान की अनिवार्यता है, जबकि समाधि-मरण में भावातिरेक नहीं, वरन् विवेक का प्रकटन आवश्यक है।

समाधिमरण के प्रत्यय के आधार पर आलोचकों ने यह कहने का प्रयास भी किया है कि जैनदर्शन जीवन से इकरार नहीं करता, वरन् जीवन से इन्कार करता है, लेकिन गंभीरतापूर्वक विचार करने पर यह धारणा भ्रान्त ही सिद्ध होती है। उपाध्याय अमर मुनिजी लिखते हैं – वह (जैनदर्शन) जीवन से इंकार नहीं करता है, अपितु जीवन के मिथ्या मोह से इन्कार करता है। जीवन जीने में यदि कोई महत्वपूर्ण लाभ है और वह स्व-पर की हित साधना में उपयोगी है, तो जीवन सर्वतोभावेन संरक्षणीय है। आचार्य भद्रबाहु भी ओघनिर्युक्ति में कहते हैं – साधक का देह ही नहीं रहा तो संयम कैसे रहेगा, अत: संयम की साधना के लिए देह का परिपालन इष्ट है।[10] लेकिन देह के परिपालन की क्रिया संयम के निमित्त है। अत: देह का ऐसा परिपालन जिसमें संयम ही समाप्त हो, किस काम का? साधक का जीवन न तो जीने के लिए है, न मरण के लिए है। वह तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सिद्धि के लिए यदि जीवन से ज्ञानादि आध्यात्मिक गुण की सिद्धि एवं शुद्धता की वृद्धि हो, तो जीवन की रक्षा करते हुए वैसा करना चाहिए, किन्तु यदि जीवन से भी ज्ञानादि की अभीष्ट सिद्धि नहीं होती हो, तो मरण भी साधक के लिए शिरसा श्लाघनीय है।

समाधिमरण का मूल्यांकन – स्वेच्छामरण के संबंध में पहला प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य को प्राणांत करने का नैतिक अधिकार है ? पण्डित सुखलालजी ने जैन-दृष्टि से इन प्रश्न का जो उत्तर दिया है, उसका संक्षिप्त रूप यह है कि जैनधर्म सामान्य स्थितियों में, चाहे वह लौकिक हो या धार्मिक, प्राणांत करने का अधिकार नहीं देता है, लेकिन जब देह और आध्यात्मिक सद्गुण, इनमें से किसी एक की पसंदगी करने का विषम समय आ गया हो, तो देह का त्याग करके भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को बचाया जा सकता है। जैसे सती स्त्री दूसरा मार्ग न देखकर देहनाश के द्वारा भी अपने सतीत्व की रक्षा कर लेती है।[11] जब तक देह और संयम दोनों की समानभाव से रक्षा हो सके, तब तक दोनों की रक्षा कर्तव्य है, पर जब एक ही पसंदगी करने का सवाल आये, तो सामान्य व्यक्ति देह की रक्षा पसंद करेंगे और आध्यात्मिक संयम की उपेक्षा करेंगे, जबकि समाधिमरण का अधिकारी इससे उल्टा करेगा। जीवन तो दोनों ही हैं – दैहिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक जीवन जीने वालों के लिए प्राणान्त या अनशन की इजाजत है, पामरों, भयभीतों और लालचियों के लिए नहीं। भयंकर दुष्काल आदि में देहरक्षा के निमित्त संयम से पतित होने का अवसर आ जाये या अनिवार्य रूप से मरण लानेवाली बीमारियों के कारण खुद को और दूसरों को निरर्थक परेशानी होती हो, तब मात्र समभाव की दृष्टि से संथारे या स्वेच्छामरण का विधान है।

इस प्रकार जैनदर्शन मात्र सद्गुणों की रक्षा के निमित्त प्राणान्त करने की अनुमति देता है, अन्य स्थितियों में नहीं। यदि सद्गुणों की रक्षा के निमित्त देह का विसर्जन किया जाता है, तो वह अनैतिक नहीं हो सकता। नैतिकता की रक्षा के लिए किया गया देह-विसर्जन अनैतिक कैसे होगा ?

जैन दर्शन के इस दृष्टिकोण का समर्थन गीता में भी उपलब्ध है। गीता कहती है कि यदि जीवित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहकर (आध्यात्मिक सद्गुणों के विनाश के कारण) अपकीर्ति की संभावना हो तो उस जीवन से मरण ही श्रेष्ठ है।[१२]

आदरणीय काका कालेकर लिखते हैं कि मृत्यु शिकारी के समान हमारे पीछे पड़े और हम बचने के लिए भागते जायें यह दृश्य मनुष्य को शोभा नहीं देता। जीवन का प्रयोजन समाप्त हुआ, ऐसा देखते ही मृत्यु को आदरणीय अतिथि समझकर उसे आमंत्रण देना, उसका स्वागत करना और इस तरह से स्वेच्छास्वीकृत मरण के द्वारा जीवन को कृतार्थ करना, यह एक सुन्दर आदर्श है। आत्महत्या को नैतिक दृष्टि से उचित मानते हुए वे कहते हैं कि इसे हम आत्महत्या नहीं कहें, निराश होकर, कायर होकर या डर के मारे शरीर छोड़ देना यह एक किस्म की हार ही है। उसे हम जीवन द्रोह भी कह सकते हैं। सब धर्मों ने आत्महत्या की निन्दा की है, लेकिन जब मनुष्य सोचता है कि उसके जीवन का प्रयोजन पूर्ण हुआ, ज्यादा जीने की आवश्यकता नहीं रही, तब वह आत्म-साधना के अंतिम रूप के तौर पर अगर शरीर छोड़ दे, तो वह उसका ही है। मैं स्वयं व्यक्तिशः इस अधिकार का समर्थन करता हूँ।[१३]

समकालीन विचारकों में आदरणीय धर्मानन्द कौसाम्बी और महात्मा गाँधी ने भी मनुष्य को प्राणान्त करने के अधिकार का समर्थन नैतिक दृष्टि से किया था। महात्माजी का कथन है कि 'जब मनुष्य पापाचार का वेग बलवत्तर हुआ देखता है और आत्महत्या के बिना अपने को पाप से नहीं बचा सकता, तब होने वाले पाप से बचने के लिए उसे आत्महत्या करने का अधिकार है।'[१४] कौसम्बीजी ने भी अपनी पुस्तक 'पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म' में स्वेच्छामरण का समर्थन किया था और उसकी भूमिका में पं. सुखलालजी ने 'उन्होंने अपनी स्वेच्छामरण की इच्छा को भी अभिव्यक्त किया था' यह उद्धृत किया है।[१५]

काका कालेकर स्वेच्छामरण को महत्वपूर्ण मानते हुए जैन परंपरा के समान ही कहते हैं कि जब तक यह शरीर मुक्ति का साधन हो सकता है, तब तक अपरिहार्य हिंसा को सहन करके भी इसे जिलाना चाहिए। जब हम यह देखें कि आत्मा के अपने विकास के प्रयत्न में शरीर बाधारूप ही होता है, तब हमें उसे छोड़ना चाहिए। जो किसी हालत में जीना चाहते हैं, उसकी निष्ठा तो स्पष्ट है ही, लेकिन जो जीवन से उब कर अथवा केवल मरने के लिए मरना चाहता है, तो उसमें भी विकृत शरीर-निष्ठा है। जो मरण से डरता है और जो मरण ही चाहता है, वे दोनों जीवन का रहस्य नहीं जानते। व्यापक जीवन में, जीना और मरना दोनों का अन्तर्भाव होता है, उन्मेष और निमेष दोनों क्रियाएँ मिलकर ही देखने की एक क्रिया पूरी करती है।[१६]

भारतीय नैतिक चिन्तन में केवल जीवन जीने की कला पर ही नहीं, वरन् उसमें जीवन की कला के साथ मरण की कला पर भी विचार किया गया है। नैतिक चिन्तन की दृष्टि से किस प्रकार मरना चाहिए यही महत्वपूर्ण नहीं है, वरन् किस प्रकार मरना चाहिए यह भी मूल्यवान है। मृत्यु की कला जीवन की कला से भी महत्वपूर्ण है, आदर्श मृत्यु ही नैतिक जीवन की कसौटी है। जीवन का जीना तो विद्यार्थी के सूत्रकालीन अध्ययन के समान है, जबकि मृत्यु परीक्षा का अवसर है।

हम जीवन की कमाई का अंतिम सौदा मृत्यु के समय करते हैं। यहाँ चूके तो फिर पछताना होता है और इसी अपेक्षा से कहा जा सकता है कि जीवन की कला की अपेक्षा मृत्यु की कला अधिक मूल्यवान है। भारतीय नैतिक चिन्तन के अनुसार मृत्यु का अवसर ऐसा अवसर है, जब हममें से अधिकांश अपने भावी जीवन का चुनाव करते हैं। गीता का कथन है कि मृत्यु के समय जैसी भावना होती है, वैसी ही योनि जीव प्राप्त करता है (१८/५-६)। जैन परंपरा में खन्धक मुनि की कथा यही बताती है कि जीवन भर कठोर साधना करने वाला महान साधक, जिसने अपनी प्रेरणा एवं उद्बोधन से अपने सहचारी पाँच सौ साधक शिष्यों को उपस्थित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मृत्यु की विषम परिस्थिति में समत्व की साधना के द्वारा निर्वाण का अमृतपान कराया, वही साधक स्वयं की मृत्यु के अवसर पर क्रोध के वशीभूत हो किस प्रकार अपने साधना पथ से विचलित हो गया। वैदिक परंपरा में जड़भरत का कथानक भी यही बताता है कि इतने महान साधक को भी मरणबेला में हरिण पर आसक्ति रखने के कारण पशु योनि को प्राप्त होना पड़ा। उपर्युक्त कथानक हमारे सामने मृत्यु का मूल्य उपस्थित कर देते हैं। **मृत्यु इस जीवन की साधना का परीक्षा काल है। वह इस जीवन में लक्ष्योपलब्धि का अन्तिम अवसर और भावी जीवन की कामना का आरंभ बिन्दु है। इस प्रकार वह अपने में दो जीवनों का मूल्य संजोए हुए है। मरण जीवन का अवश्यम्भावी अंग है। उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। वह जीवन का उपसंहार है, जिसे सुंदर बनाना हमारा एक आवश्यक कर्तव्य है।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्प्रतियुग के प्रबुद्ध विचारक भी समाधिमरण को अनैतिक नहीं मानते। अत: जैनदर्शन पर लगाया जानेवाला यह आक्षेप कि वह जीवन के मूल्य को अस्वीकार करता है, उचित नहीं माना जा सकता। वस्तुत: समाधिमरण पर जो आक्षेप लगाये जाते हैं, उनका संबंध समाधिमरण से न होकर आत्महत्या से है। कुछ विचारकों ने समाधिमरण और आत्महत्या के वास्तविक अन्तर को नहीं समझा और इसी तरह पर समाधिमरण को अनैतिक कहने का प्रयास किया, लेकिन जैसा कि हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं, समाधिमरण या मृत्युवरण आत्महत्या नहीं है और इसलिए उसे अनैतिक भी नहीं कहा जा सकता। जैन आचार्यों ने स्वयं भी आत्महत्या को अनैतिक माना है, लेकिन उनके अनुसार आत्महत्या समाधिमरण से भिन्न है।

डॉ. ईश्वरचन्द्र ने जीवनमुक्त व्यक्ति के स्वेच्छा मरण को तो आत्महत्या नहीं माना है, लेकिन उन्होंने जैन परंपरा में किए जाने वाले संथारे को आत्महत्या की कोटि में रख कर उसे अनैतिक भी बताया है।[१७] इस संबंध में उनके तर्क का पहला भाग यह है कि स्वेच्छामरण का व्रत लेनेवाले सामान्य जैन मुनि जीवनमुक्त एवं अलौकिक शक्ति से युक्त नहीं होते और अपूर्णता की दशा में लिया गया आमरण व्रत (संथारा) नैतिक नहीं हो सकता। अपने तर्क के दूसरे भाग में वे कहते हैं कि जैन परंपरा में स्वेच्छा मृत्युवरण (संथारा) करने में यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर अधिक होता है, इसलिए वह अनैतिक भी है। जहाँ तक उनके इस दृष्टिकोण का प्रश्न है कि जीवनमुक्त एवं अलौकिक शक्तिसंपन्न व्यक्ति ही स्वेच्छामरण का अधिकारी है, हम सहमत नहीं है।

वस्तुत: स्वेच्छामरण की आवश्यकता उस व्यक्ति के लिए नहीं है, जो जीवनमुक्त है और जिसकी देहासक्ति समाप्त हो गई है, वरन् उस व्यक्ति के लिए है, जिसमें देहासक्ति रही हुई है, क्योंकि समाधिमरण तो इसी देहासक्ति को समाप्त करने के लिए है। समाधिमरण एक साधन है, इसलिए वह जीवनमुक्त के लिए (सिद्ध के लिए) आवश्यक नहीं है। जीवनमुक्त को तो समाधिमरण सहज ही प्राप्त होता है। उसके लिए इसकी साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जहाँ तक उनके इस आक्षेप का प्रश्न है कि समाधिमरण में यथार्थ की अपेक्षा आडम्बर ही अधिक परिलक्षित होता है, उसमें आंशिक सत्यता अवश्य हो सकती है, लेकिन इसका संबंध संथारे या समाधिमरण के सिद्धांत से नहीं, वरन् उसके वर्तमान में प्रचलित विकृत रूप से है, लेकिन इस आधार पर उसके सैद्धान्तिक मूल्य में कोई कमी नहीं आती है। यदि व्यावहारिक जीवन में अनेक व्यक्ति असत्य बोलते हैं, तो क्या उससे सत्य के मूल्य पर कोई आँच आती है ? वस्तुत: स्वेच्छामरण के सैद्धान्तिक मूल्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

मृत्युवरण तो मृत्यु की वह कला है, जिसमें न केवल जीवन ही सार्थक होता है, वरन् मरण भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सार्थक हो जाता है। आदरणीय काका कालेकर ने खलील जिब्रान का यह वचन उद्धृत किया है कि 'एक आदमी ने आत्मरक्षा के हेतु खुदकुशी की- आत्महत्या की, यह वचन सुनने में विचित्र सा लगता है।'[१४] आत्महत्या से आत्मरक्षा का क्या संबंध हो सकता है ? वस्तुतः यहाँ आत्मरक्षा का अर्थ आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का संरक्षण है और आत्महत्या का मतलब शरीर का विसर्जन। जब नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संरक्षण के लिए शारीरिक मूल्यों का विसर्जन आवश्यक हो, तो उस स्थिति में देह-विसर्जन या स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण ही उचित है। आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा प्राणरक्षा से श्रेष्ठ है। गीता में स्वयं अकीर्तिकर जीवन की अपेक्षा मरण को श्रेष्ठ मान कर ऐसा ही संकेत दिया है।[१५]

काका कालेकर के शब्दों में, जब मनुष्य देखता है कि विशिष्ट परिस्थिति में यदि जीना है, तो हीन स्थिति और हीन विचार या हीन सिद्धान्त मान्य रखना जरूरी ही है, तब श्रेष्ठ पुरुष कहता है कि जीने से नहीं, मर कर ही आत्मरक्षा होती है।[२०]

वस्तुतः समाधिमरण का यह व्रत हमारे आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों के संरक्षण के लिए ही लिया जाता है और इसलिए यह पूर्णतः नैतिक है।

सन्दर्भ :-

१. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः संल्लेखनामार्याः।।
– रत्नकरण्ड श्रावकाचार

२. देखिए – अंतकृतदशांगसूत्र के अर्जुनमाली के अध्याय में सुदर्शन सेठ के द्वारा किया गया सागारी संथारा।

३. देखिए – अंतकृतदशांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१, वर्ग ८ अध्याय १।

४. संयुक्तनिकाय/अनु. जगदीश कश्यप एवं धर्मरक्षित/ महाबोधि सभा सरनाथ, बनारस/१९४५ई./२१/२/ ४/५।

५. वही ३४/२/४/४

६. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ. ४८८ अपरार्क पृ.५३६

७. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ. ४८७

८. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ. ४८८

९. रत्नकरण्ड श्रावकाचारा २२

१०. संजमहेउं देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे।
संजम-फाइनिमित्तं देह परिपालणा इट्ठा॥४७॥
ओधनिर्युक्ति/४

११. दर्शन और चिन्तन/पं. सुखलाल संघवी/गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद/१९५७/खण्ड २/पृ. ५३३-३४

१२. संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते। २/३४

१३. परमसखा मृत्यु/काका कालेकर/प्रका. सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली/१९७९/पृ. ३१

१४. वही पृ.२६

१५. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म/भूमिका।

१६. परमसखा मृत्यु/काका कालेकर/पृ. १९

१७. पाश्चात्य आचार विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन/पृ. २७३

१८. परमसखा मृत्यु/काका कालेकर/पृ. ४३

१९. गीता २/३४

२०. परमसखा मृत्यु/काका कालेकर/पृ. ४३

निदेशक – प्राच्य विद्यापीठ
३५, ओसवाल सहरी, शाजापुर
(म.प्र.) ४६५००१

**पुरुषार्थ की गति ! भगवान की वाणी में पुरुषार्थ की बात आयी है;
अतः जो पुरुषार्थ हीनता की बात करे, वह भगवान का सच्चा भक्त नहीं है।**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ खण्ड : संस्कृति और इतिहास

1.	जिन-छत्र	डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी	1-2
2.	प्राचीन भारत के वैश्विक गणतंत्र: /प्राणीतंत्र	आचार्य श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव	3-6
3.	जैन समाज-जागो!	ऐलक श्री धैर्यसागरजी	7-10
4.	जैन संस्कृति वेदपूर्व है	स्व. श्री रामधारी सिंह दिनकर	11-13
5.	बाहुबली प्रतिमा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	श्रीमती चन्द्रकला जैन	14-17
6.	वीर-प्रार्थना	पं.अनूपचन्द न्यायतीर्थ	17
7.	वैशाली में अनुभूत करें महावीर दर्शन	डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल	18-22
8.	महावीरमय-अहिंसामय होजाना	डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल	22
9.	ऐतिहासिक अतिशय क्षेत्र घोघा	महेन्द्रकुमार जैन पाटनी	23-24
10.	जैन संस्कृति संरक्षण एवं संवर्द्धन	सुरेशचन्द जैन बारौलिया	25-27
11.	जयपुर के जैन दीवान	पण्डित भंवरलाल न्यायतीर्थ	28-34
12.	जैनधर्म का प्राचीनतम अभिलेखीय प्रमाण	पण्डित ताराचन्द्र पाटनी	35-36
13.	अहिंसक शाकाहार : स्वास्थ्य का आधार	डॉ. किरण गुप्ता	37-39
14.	मौन चिन्तन : चित्त की एकाग्रता	डॉ. त्रिलोकचन्द कोठारी	40-41
15.	मुनि परम्परा के निर्वाहक : आचार्य श्री भरतसागरजी	चन्दनमल अजमेरा	42
16.	सीख-संकलन	पण्डित अनूपचन्द न्यायतीर्थ	43
17.	बदलती जीवन शैली- अहिंसा एक मात्र विकल्प	हेमन्त कुमार जैन	44-45
18.	दिगम्बरत्व का महत्व	डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन	46-48
19.	महावीर गीत	मुनि श्री विनम्र सागर जी महाराज	48
20.	आचार्य कुन्दकुन्द और उनके उपदेश	श्रीमती अर्चना जैन	49-50
21.	न्यायाचार्य पं. माणिकचन्दजी कौन्देय	एस.सी. जैन/डॉ.जे.डी. जैन	51-52
22.	ज्ञान बिना तप कैसा ?	प्रमोदकुमार रांवका	52
23.	श्री दि.जैन भव्योदय अतिशय क्षेत्र रैवासा	जे. के. जैन	53-54
24.	मानवाधिकार एवं जैन दर्शन	न्यायमूर्ति एन. के. जैन	55-56

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन-छत्र

❑ डॉ. शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी

तीर्थंकर मूर्तियों को छत्र के नीचे पद्मासन में ध्यानलीन दर्शाने की परम्परा प्रथम शती ईसा पूर्व से दृष्टिगोचर होती है।[1] सर्वतोभद्र जिन प्रतिमाओं के ऊपर छेद व नीचे खूँट निकली पाते हैं। ऊपर के छेद पर छत्र लगाया जाता था।

छत्र चौकोर और वृत्ताकार दोनों ही प्रकार के उपलब्ध होते हैं।

एक वर्गाकार छत्र मथुरा संग्रहालय के संग्रह में चौवियापाड़ा मथुरा से अधिग्रहीत हुआ है।[2] जिसे मैंने १९७४ में मूल स्थान पर देखा था। इस पर चारों ओर अष्ट मांगलिकों का अंकन है, बीच में छेद है। इसी छेद में दण्ड लगाकर मूर्ति के ऊपर सुशोभित किया जाता था।

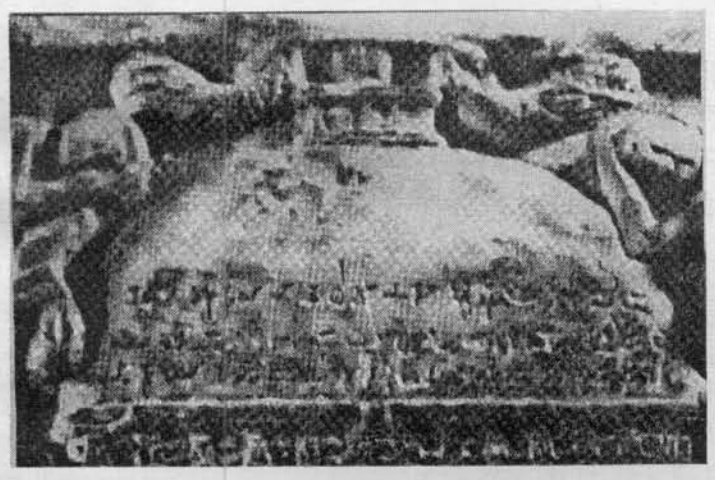

जिनप्रतिमाओं को जहाँ पहले एक छत्र के नीचे विराजित पाते हैं, वही मध्यकाल में त्रिछत्र की प्रथा प्रचलित दृष्टिगोचर होती है।

पूर्व कुषाण काल से जैन कला में स्तूप बनाए जाने की भी परम्परा रही है। आयागपट्टों, स्तम्भों के मध्य, शिर पर स्तूप किन्नरों द्वारा पूजित तथा मथुरा संग्रहालय के लवण शोभिका लेख के स्तूप के ऊपर हर्मिका के ऊपर छत्र का अंकन और इसके दोनों ओर मोटी मालाएँ हवा में लहराती हुई दर्शायी गई हैं।[3] तीर्थंकरों के मध्य स्तूप (जे-६२३ रा. सं. ल.)

लखनऊ संग्रहालय के जैन कला संकलन में दो[4] लघुकाय और एक छत्र बृहत्काय है। छोटे छत्र तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर प्रतिमाओं को महिमामण्डित करने के लिए उन पर सुशोभित होते होंगे, लेकिन बड़ा छत्र[५] लाल चित्तीदार बलुए प्रस्तर में तराशा गया है।[६] यह छत्र अतीव रोचक है। छत्र के मध्य छेद है। प्रथम भाग सादा एक पट्टी के बाद सोलह पद्म पत्र तथा बीच लघुपत्र, इन सभी के भीतर की ओर बनाया गया है। तत्पश्चात् सादी पट्टी, उसके बाद बाईस पद्मपत्र, इनके बीच तीन लघुपत्र बाहर की तरफ दर्शाये गये हैं। तदुपरान्त कल्पलता का अंकन है। इसके बाद हारयष्टि जो गुप्तकालीन कंकाली टीले की तीर्थंकर मूर्तियों के प्रभामण्डल पर मिलती है, वैसी ही बनी है। इस हारयष्टि के मध्य छह भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्प सुशोभित हैं। इससे आगे का सादा है। तदुपरान्त रत्नाकार (डायमण्ड शेपड) मोटी माला से अंतिम पूरे भाग को संवारा गया है और बीच में आठ विभिन्न प्रकार के पुष्पों को गूँथा हुआ पाते हैं। छत्र इसप्रकार कुल आठ अलंकरण पंक्तियों से समलंकृत है। यह भव्य छत्र किसी बड़ी तीर्थंकर प्रतिमा पर सुशोभित किया गया हो, लेकिन अधिक सम्भावना है कि जैन-स्तूप की हर्मिका के ऊपर इतना दिव्य छत्र शोभायमान रहा हो।[७]

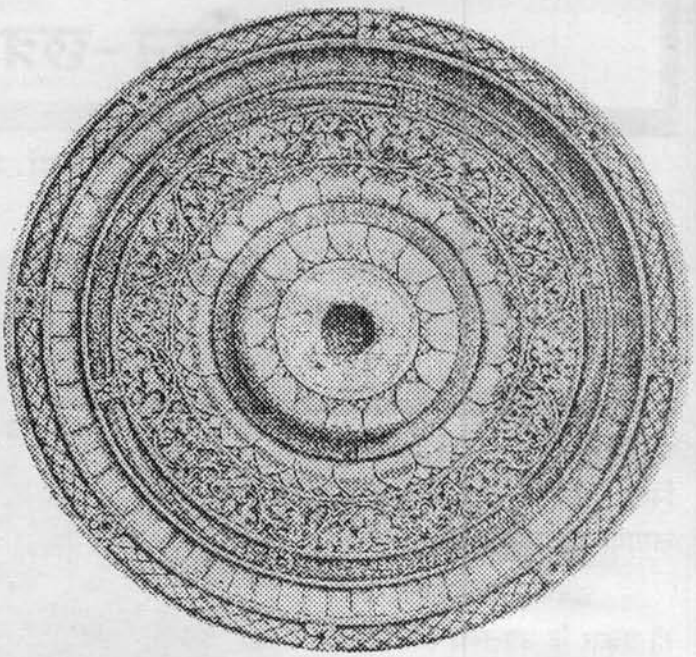

स्मिथ महोदय ने इसे छापा, इसके बाद हिन्दी में यह प्राप्त होने के ११८वें वर्ष में प्रस्तुत स्मारिका में प्रथम बार प्रकाश में आ रहा है। यह अंलकृत छत्र तीसरी शती ईस्वी की रचना अलंकरण-सजावट की शैली के आधार पर प्रतीत होती है, जो अनभिलिखित है। ॥इति॥

❐ सर्पया, २२३/१०, रस्तोगी टोला, राजा बाजार, लखनऊ (उ.प्र.) २२६००३

संदर्भ –

१. रा. संग्र. मथुरा ४८.३४२६ अर्द्ध आयागपट्टचौबियापाड़ा देखे चित्र-१ मथुरा, जिते. कैटालग आफ जैनएन्टीक्टीज प्लेट २१/२००३ मथुरा
२. रा. संग्र. मथुरा संख्यक ओ. एम. इस हेतु लेखक पूर्व निदे. जितेन्द्र कुमार का आभारी है।
३. रा. संग्र. मथुरा क्यू-२, देखें चित्र. २
४. रा. सं. ल. सं. जे. ६६४ पीत रंग प्रस्तर का छत्र खण्ड अ. ८० से. मी.
५. तदैव जे-६६५ तदैव आ. ४३५ से. मी.
६. तदैव जे-६६६ लाल चित्तीदार प्रस्तर आ १ मी ४७५ से. मी. देखे चि. ३
७. वी. सी. स्मिथ, जैन स्तूप एंड अदर एंटीक्टीज प्लेट २३ पृ. २८ इला. १९०३
दो छोटे कंकाली टीला तथा बड़ा छत्र जेल माउड़ से फरवरी १८८९ में प्राप्त हुए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन भारत के वैश्विक गणतंत्र/प्राणीतंत्र

❐ आचार्य श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव

गणतंत्र दिवस पर्व मनाने की सार्थकता इसमें है कि हम गणतंत्र का स्वरूप एवं उद्देश्य को जाने-माने, प्रचार-प्रसार करें एवं विश्व में गणतंत्र की स्थापना में अपनी महती भूमिका अदा करें। गणतंत्र (गण = व्यक्ति/लोक, तंत्र = शासन/जीवन पद्धति) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के जो सुव्यस्थित, सुखमय, स्वावलम्बी, स्वतंत्र, परपीड़न से रहित, सार्वभौम आत्मानुशासित जीवन जीने की कला है, वही गणतंत्र है, लोकतंत्र है अर्थात् गणतंत्र-जनता के द्वारा, जनता के लिए जनता का शासन है। परन्तु प्राचीन भारत के महापुरुषों ने इससे भी आगे विश्व के प्राणीमात्र/जीवमात्र के सुख-शान्ति के जो सूत्र दिये हैं, वह प्राणीतंत्र है, जीवतंत्र है। अविश्वसनीय सुखद आश्चर्य यह है कि वर्तमान के पर्यावरण सुरक्षा, परिस्थिति की, इकोसिस्टम, विश्व-बंधुत्व, विश्व-प्रेम, विश्व-शांति के नियम भी प्राचीन भारत को प्राणीतंत्र की ओर धीरे-धीरे विकास कर रहा है। ऐसा अध्यात्म एवं विज्ञान का समन्वय विश्व के लिए सुखावह है।

लोकतंत्र का उद्भव, प्रचार-प्रसार पाश्चात्य जगत् में हुआ और उसके प्रचारक रूसों, एंजिलो, कार्लमार्क्स, अब्राहिम लिंकन, लेनिन आदि को मानते हैं, परन्तु प्रायः ५१२८ वर्ष पहले राजा उग्रसेन ने अग्रेयगण की स्थापना की थी और लोकतंत्र के अनुसार वहाँ शासन व्यवस्था चलती थी। इसीप्रकार भगवान महावीर का जन्म लोकतंत्र में हुआ था। लिच्छिवि आदि गण थे, चेटक उसके राष्ट्राध्यक्ष थे। महाभारत में तो विस्तार से लोकतंत्र का स्वरूप, उसकी विकृति और विकृतियों को दूर करने के उपाय वर्णित हैं। इसीप्रकार अर्थशास्त्र का वर्णन चाणक्य ने विस्तार से किया जिसे 'चाणक्य के कौटल्य अर्थशास्त्रम्' कहते हैं। सोमदेव सूरी ने 'नीति वाक्यामृतम्' में अर्थशास्त्र के साथ-साथ राजनीति शास्त्र का भी वर्णन किया है। इसीप्रकार चाणक्य ने तथा महाभारत में वेद व्यास ने अर्थशास्त्र एवं राजनीति का विस्तृत वर्णन किया है, परन्तु वर्तमान में मार्शल एवं रॉबिन्स को अर्थशास्त्र का जनक मानते हैं तथा राजनीति, कानून के प्रणेता सुकरात आदि को मानते हैं। तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित अपरिग्रहवाद ही यथार्थ से अहिंसक समाजवाद है। जब अहिंसात्मक समाजवाद को पूँजीवाद, शोषक वर्ग ने स्वीकार नहीं किया, तब कार्लमार्क्स आदि ने हिंसात्मक पद्धति से इसका प्रचार-प्रसार किया। वर्तमान का वैश्वीकरण यह कोई नवीन विषय नहीं है। वसुधैव स्वकुटुम्बकम्, परस्परोपग्रहो जीवनाम्, जिओ और जीने दो आदि प्राचीन भारतीय सिद्धान्त आधुनिक वैश्वीकरण/विश्वबंधुत्व, संयुक्त राष्ट्रसंघ आदि के नियमों से भी अधिक व्यापक, उदार एवं समतापूर्ण है। परन्तु दुःख का विषय यह है कि ऐसे महानतम सिद्धान्तों का आविष्कारक भारत आज किसी भी दृष्टि से स्वयं को श्रेष्ठ स्थापित नहीं कर पा रहा है, प्रस्तुतीकरण नहीं कर पा रहा है। विशेष जिज्ञासु मेरे (आ. कनकनन्दी) द्वारा रचित 'प्रथम शोध-बोध-आविष्कार एवं प्रवक्ता' आदि का अध्ययन करें।

'विश्व भरण-पोषण करे जोई, ताकर भारत असो होई' अर्थात् जिस राष्ट्र ने विश्व को ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-अध्यात्म, गणित, अहिंसा, विश्वशान्ति, विश्वमैत्री, पर्यावरण सुरक्षा, परस्परोपग्रहो जीवानाम्, वसुधैव कुटुम्बम्, सर्वजीव सुखाय, सर्वजीव हिताय,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजनीति, कानून, समाज, व्यवस्था, अभ्युदय-निश्रेयस् सुख आदि सर्वोदयी सिद्धान्त-सूत्र देकर विश्व का भरण-पोषण किया, उसे भारत कहतें हैं। इसलिए तो भारत विश्वगुरु, सोने की चिड़िया, घी-दूध की नदी बहने वाला देश कहा गया है।

भारत के तीर्थंकर, बुद्ध, ऋषि, मुनि आदि महान् आध्यात्मिक वैज्ञानिकों ने आध्यात्मिक अनन्तज्ञान से अखिल विश्व के समस्त तत्त्वों के समस्त रहस्यों को समग्रता से पारदर्शिता से परिज्ञान करके विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया वह सत्य/तथ्य वैश्विक एवं त्रैकालिक होने से सदा-सर्वदा-सर्वत्र, नित्य-नूतन, नित्य-पुरातन, समसामयिक, प्रासंगिक जीवन्त हैं। वे प्रकृतिज्ञ होने के कारण प्रकृति की सुरक्षा संबंधी उनका ज्ञान भी उपरोक्त प्रकार का है।

भारतीय ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति, आध्यात्मिक के साथ-साथ वैश्विक/प्राकृतिक होने के कारण भारतीय परम्परा में अखिल जीव जगत् एवं सम्पूर्ण प्रकृति की सुरक्षा-समृद्धि सबसे महत्वपूर्ण अंग है। इसलिए तो भारत में विश्व को स्वकुटुम्ब रूप में स्वीकार किया गया है।

अयं निज परोवेत्ति भावना लघुचेतसाम्।
उदार पुरुषाणां तु वसुधैव स्व-कुटुम्बकम्॥

क्षुद्र, संकुचित भावना युक्त व्यक्ति में अपने-पराये का निकृष्ट भेदभाव रहता है, परन्तु उदारमना सम्पूर्ण विश्व को अपना परिवार मानता है, जिससे व्यक्ति विश्व के प्रत्येक जीव को अपने परिवार का एक सदस्य मानकर सबके साथ प्रेम, मैत्री, उदारता, समता का व्यवहार करता है। इसको ही विश्व बन्धुत्व/सर्वात्मानुभूत कहते हैं। यह है धर्म का सार, अहिंसा का आधार, विश्वशान्ति का अमोघ उपाय, पर्यावरण सुरक्षा के परम्परागत सार्वभौम, शाश्वत, सर्वोत्कृष्ट उपाय।

जैन आचार्य कहते हैं –

जीव जिणवर से मुणहि जिणवर जीव मुणहि।
ते समभाव परट्ठिया लहु णिव्वाणं लहई॥

जो जीव को जिनवर एवं जिनवर को जीव मानता है, वह परम साम्यभाव में स्थित होकर अति शीघ्र निर्वाण पद को प्राप्त करता है। यह है सर्वोत्कृष्ट, साम्यवाद, गणतन्त्रवाद, समाजवाद, लोकतन्त्रवाद, पर्यावरण सुरक्षा। हिन्दू धर्मानुसार –

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टः भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन मन्तव्यं बुद्धिमद्भिर्महात्मभिः॥
(महाभारत अनुशासन पर्व २७५/१९)

जैसे मानव को अपने प्राण प्यारे हैं उसी प्रकार सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिए जो लोग बुद्धिमान और पुण्यशाली हैं, उन्हें चाहिए कि वे सभी प्राणियों को अपने समान समझें।

महात्मा बुद्ध ने कहा है –

यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं मत्वा, न हनेय्य न घातये॥ (सुत्त नियात ३-३-२७)

जैसे मैं हूँ वैसे ये हैं, तथा जैसे ये हैं वैसा मैं हूँ – इस प्रकार आत्म-सदृश्य मानकर न किसी का घात करें न करायें।

सव्वे तसन्ति दण्डस्य, सव्वेसिं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥
(धम्मपद १०/१)

सब लोग दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से भय खाते हैं। दूसरों को अपनी तरह जानकर न तो किसी को मारें और न ही किसी को मारने की प्रेरणा करें।

यो न हन्ति न घातेति, न जिनाति न जायते।
मित्तं सो सव्वभूतेसु वेरं तस्स न केनचित्॥
(इति बृत्रक, पृ. २०)

जो न स्वयं किसी का घात करता है, न दूसरों से करवाता है, न स्वयं किसी को जीतता है, न दूसरों को जितवाता है, वह सर्व प्राणियों का मित्र होता है, उसका किसी के साथ वैर नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' (मनुस्मृति) जो कार्य तुम्हें पसंद नहीं है, उसे दूसरों के लिए कभी मत करो।

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव॥१॥

(भावना द्वात्रिंशतिका)

हे भगवान्! मेरा प्रत्येक जीव के प्रति मैत्री भाव रहे, गुणिजनों में प्रमोद भाव रहे, दुःखीजनों के लिए करुणाभाव रहे, दुर्जनों के प्रति माध्यस्थ भाव (साम्यभाव) रहे। आत्मवत्परत्र कुशल वृत्ति चिन्तन शक्तिस्त्याग तपसी च धर्माधिगमोयाः।

(नीतिवाक्यामृतं)

अपने ही समान दूसरे प्राणियों का हित (कल्याण) चिंतवन, करना शक्ति के अनुसार पात्रों को दान देना और तपश्चरण करना – ये धर्म प्राप्ति के उपाय हैं।

"सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्॥"

सम्पूर्ण जीव जगत सुखी, निरोगी, भद्र, विनयी सदाचारी रहे। कोई भी कभी भी थोड़े भी दुःख को प्राप्त न करे।

शिवमस्तु सर्वजगतः परहित निरता भवन्तु भूत गणाः।
दोषा प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः॥

सम्पूर्ण विश्व मंगलमय हो, जीव समूह परहित में निरत रहें, सम्पूर्ण दोष विनाश को प्राप्त हो जावें, लोक में भी सदा सर्वदा सम्पूर्ण प्रकार से सुखी रहें।

मा काषीत् कोऽपि पापानि, माचभूत कोपि दुःखितः।
मुच्चता जगदव्येषां, मति मैत्री निगद्यते॥

कोई भी पाप कार्य को न करें, कोई भी दुःखी न रहे, जगत् दुःख-कष्ट-वैरत्व से रहित हो जावे, इसीप्रकार की भावना को मैत्री भावना कहते हैं।

कायेन मनसा वासा सर्वे एवापि च देहिषु।
अदुःख जननी वृत्ति मैत्री, मैत्री विदां मता॥

काय, मन, वचन से सम्पूर्ण जीवों के प्रति ऐसा व्यवहार करना, जिससे दूसरों को कष्ट न पहुँचे, इसीप्रकार के व्यवहार को मैत्री व्यवहार कहते हैं।

पूज्यपाद स्वामी ने भी विश्व कल्याण के लिए जो भावना के सूत्र/गान दिए हैं, वे निम्नप्रकार हैं–

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभुवतु
बलवान्धार्मिको भूमिपालः।
काले-काले च सम्यक् वर्षतु
मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्॥
दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि
जगतां भास्म भूज्जीवलोके।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु
सततं सर्वसौख्यं प्रदायि॥१५॥

(शान्ति भक्ति)

सम्पूर्ण प्रजा क्षेम/कुशल होवे, धार्मिक राजा (नेता) शक्ति सम्पन्न होवे, समय-समय पर इन्द्रदेव (बादल) सुवृष्टि करे, रोग नाश को प्राप्त होवे, दुर्भिक्ष, चोरी, डकैती, आतंकवाद, दुःख, कलह, अशान्ति एक क्षण के लिए भी इस जीव जगत् में न रहे। सब जीवों को सुख प्रदान करने वाले जिनेन्द्र भगवान का धर्मचक्र (क्षमा, अहिंसा, दया, सत्य, मैत्री, संगठन आदि) सतत् प्रवर्तमान रहें।

यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं, ततो न विजुगुप्सते॥

(उपनिषद्)

जो अन्तर्निरीक्षण के द्वारा सब भूतों (प्राणियों) को अपनी आत्मा में ही देखता है और अपनी आत्मा को सब भूतों में, वह फिर किसी से घृणा नहीं करता है।

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्तिः !! ॐ शान्तिः !!!

यह मंत्र/गीत/श्लोक प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारंभ एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्त में बोला जाता है। माना जाता है कि नौवीं शताब्दी में जापान में किमिमाय नामक देशभक्ति गीत गाया जाता था। यह गीत ही विश्व का प्रथम राष्ट्रीय गीत था। पहली बार १८१६ में अंग्रेजों का प्रथम राष्ट्रीय गीत 'गॉड सेव द क्वीन' (किंग) गाया गया था, जिसकी रचना जॉन कुल ने की थी। संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रीय गीत १८१२ में युद्ध के दौरान लिखा गया था। ताइवान और जोर्डन के राष्ट्रीय गीत केवल चार पंक्ति के हैं।

हमारे देश का राष्ट्रीय गीत वन्दे मातरम् है, जिसे बंकिमचन्द्र चटर्जी ने लिखा –

इसे पहली बार १८९६ में इंडियन नेशनल कांग्रेस की सभा में गाया गया। 'जन गण मन' देश का राष्ट्रगान है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की इस रचना को संविधान सभा ने २४ जनवरी १९५० को मान्यता दी। इसे पहली बार १९११ में हुए कलकत्ता अधिवेशन में गाया गया। इस का पहला प्रकाशन टैगोर द्वारा संपादित 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका में भारत विधाता शीर्षक से हुआ। इसके पहले के पाँच छन्दों को ही अपनाया गया। (नरेश कुमार बंका)

राष्ट्रगान को इस गीत से गाया जाता है कि लगभग ५२ सेकेण्ड में यह समाप्त हो जाता है। ❐

प्रस्तुति – निशा, शर्मिला,
सम्पर्क सूत्र – आचार्य श्री कनककन्दीजी गुरुदेव,
C/o डॉ. नारायण लाल कच्छारा, ५५ रविन्द्र नगर, उदयपुर फोन-०२९४-२४९१४२२

चेतोहरायुवतयः सुहृदानुकूलाः,
सद्बान्धवाः प्रणयगर्व गिराश्च भृत्याः।
गर्जन्तिदन्तिनिवहा तरलातुरंगाः,

राजा – मेरे चित्त को हरने वाली स्त्री है, मित्र मेरे अनुकूल हैं, मेरे भाई बन्धु बड़े सज्जन हैं, मेरे नौकरों को घमंड बिलकुल नहीं है, मेरे द्वारे परे हाथी गरज रहे हैं,घोड़े हिनहिना रहे हैं; मैं ऐसी सम्पदा वाला हूँ। इस प्रकार तीन चरणों को राजा बार-बार गुनगुना रहा था, तब चौथा चरण चोर ने कहा– **सम्मीलनेनयनयो र्नहिं किंचिदस्ति॥**

चोर – अर्थात् आँख बन्द होने पर तुम्हारा कुछ भी नहीं है।

एक वृद्धा स्त्री की कमर बहुत ही झुक गई थी, उससे एक लड़के ने हंसकर पूछा–

अधः पश्यसि किं माते पतितं तव किं भुवि।
रे रे मूर्ख न जानासि गतं तारुण्य मौक्तिकम्॥

हे माता ! तू नीचे को क्या देख रही है ? क्या तेरा कुछ जमीन में गिर गया है ? (स्त्री ने जवाब दिया) अरे मूर्ख तू नहीं जानता मेरी जवानी रूपी मोती गिर गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन समाज – जागो !

❑ ऐलक श्री धैर्यसागर जी (संघस्थ मुनि श्री सुधासागरजी)

सभ्य मनुष्यों के समूह का नाम है समाज । एक निश्चित-नियम, मर्यादाओं, सदाचार, सांस्कृतिक रीति-रिवाजों की कल्पना के विचारों में एकमत होकर संगठनात्मक दायित्व को पूरा करने वाला समूह समाज के नाम से जाना जाता है। विभिन्न विचारों के भिन्न-भिन्न समूहों ने अपनी पहचान के लिए अलग-अलग नाम से समाज गठित कर ली है।

जैन तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित धर्म संस्कृति के अनुसार चलने वाला समूह जैन समाज के रूप में पहचाना जाता है। जैन अनुयायियों ने धर्म संस्कृति के अनुरूप अपने सामाजिक कायदे-कानून बनाए और आत्म कल्याणक पंच परमेष्ठियों की आराधना के लिए जिनमन्दिर बनाये और उनमें जिनप्रतिमाएँ स्थापित कीं। भगवान जिनेन्द्र की वाणी जो जैनाचार्यों द्वारा संकलित शास्त्ररूप ग्रन्थों में लिपिबद्ध कराया।

भारत भूमि पर सर्वाधिक प्राचीन मंदिर व मूर्तियाँ जैन समाज की धरोहर के रूप में सर्वाधिक और प्राचीन हैं, जिन्हें देखने से लगता है कि जैन समाज के पूर्वजों में अगाध श्रद्धा-भक्ति समर्पण थी। उन्होंने हमें आत्मशक्ति-कल्याण के लिए ऐसी अद्भुत धरोहर सौपी है, जिसकी सुरक्षा एवं संवर्धन करना जैन समाज का दायित्व बनता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जहाँ देखो, वहाँ मूर्ति आदि चोरियाँ आये दिन देखने-सुनने में आ रही हैं। क्या वजह है कि हम अपने पूर्वजों की थाती को सुरक्षा प्रदान नहीं कर पा रहे? क्या ऐसा मानना उचित होगा कि हमारे पूर्वजों ने हमें यह थाती सौंपकर उचित नहीं किया? क्या बनिया समाज के नाम पर हम अपने पुरुषत्व को खो बैठे हैं या मंदिर व मूर्तियों के प्रति हमारी भक्ति, श्रद्धा व समर्पण नष्ट हो गए हैं? मात्र पूजा, पाठ, दर्शन कर लेने से कल्याण नहीं हो जाता है, हमें इसके साथ मूर्ति, मंदिर, पंच परमेष्ठी की भक्ति सेवा के रूप में सुरक्षा संवर्धन भी करना होगा। भारत वर्ष में आज सबसे अधिक यदि किन्हीं मन्दिरों से मूर्ति आदि चोरी हो रही हैं तो हैं दिगम्बर जैन मन्दिरों से। आखिर ऐसा क्यों? कभी विचार किया? विचार करना होगा चोरी के कारणों पर, चोरी के रास्तों पर और चोरी के रोकथाम के लिए।

इतिहास समाज का मुखड़ा होता है। प्राचीन ऐतिहासिक सुकृत प्रेरणादायक इतिहास प्राणों के समान होता है। जिससे किसी भी समाज की गौरवशाली परम्परा का ज्ञान होता है। जीवनादर्श की पहचान होती है। जिन्हें अपनाकर व्यक्ति जीवन, समाज, देश में शान्ति-आनंद स्थापित कर सकता है। इतिहास व ऐतिहासिक धरोहर प्रतिस्पर्धा की चपेट में आते रहे हैं तो संरक्षण-संवर्धन की सुखद छाया तले अपने वजूद से दुनिया को प्रेरणा भी देते रहे हैं।

जिसप्रकार मंदिर-तीर्थक्षेत्र-मूर्तियों पर कब्जा जमाने के लिए विधर्मियों की मुहिम चल रही है और हमारी अदूरदर्शिता, असंगठन, एकता शक्ति का अभाव, समयोचित कार्यवाही का अभाव, पूर्व सुरक्षा कारणों का अभाव, सुरक्षा योजना का अभाव, जागरुकता का अभाव, एक अच्छे नेतृत्व का अभाव, कार्य-कर्ताओं का असहयोग, निष्क्रियता की सक्रियता के चलते प्रतिस्पर्धी बन सफल हो रहे हैं। ठीक इसीप्रकार चोरी में भी पूर्व नियोजित षड्यन्त्र तो नहीं हैं। इस संबंध में काफी कुछ लिखा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ चोरों के पकड़े जाने के बाद जो चोरी के कारण सामने आए, वो इसप्रकार हैं – पुराने जीर्ण-शीर्ण दरवाजे, पुराने ताले, लोगों का दोनों समय कम आना-जाना, बूढ़े चौकीदार-व्यास-माली, मंदिर में प्रवेश करने वालों पर दृष्टि नहीं, दिन में मंदिर में किसी का नहीं रहना और मात्र दरवाजे लटके रहना, अपरिचित मजदूरों, बढ़ई, पेन्टर, कारीगर, बिजली, मिस्त्री आदि का मंदिर में आना, मंदिरों में लम्बे समय तक ताले डले रहना, समाज के घर के अभाव में, मंदिरों के आस-पास किसी का नहीं रहना, सूनापन बना रहना, चौकीदार-माली-व्यास को बहुत कम वेतन देना, चोरों को बहुत कम सजा मिलना, सजा का भय न होना।

जैनियो जागो !!! श्रमण संस्कृति प्राचीन संस्कृति है। सर्वोदयी, सर्वजनहिताय, अहिंसामयी, नर से नारायण, प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनाने की संस्कृति है। ऐसी परमोपकारी संस्कृति के आराधना स्थल, आराध्य देव लुट रहे हैं और फिर भी हम सो रहे हैं। अपने संसार के कार्यों में मशगूल हैं। नेतागिरी में, राजनीति में, पंथ व्यामोह में, गुटबाजी में, भेदभाव में, मौजमस्ती में लगे हुए हैं। क्या ऐसे लोगों को सच्चा श्रद्धान कहा जा सकता है ? क्या वो जैन कहला सकते हैं ? क्या वो देव-शास्त्र-गुरु के भक्त कहला सकते हैं ? विगत दिनों हुई जनसंख्या गिनती में जैनसमाज को शत-प्रतिशत शिक्षित पाया गया। किन्तु निष्क्रियता से संस्कृति के आधार जिनबिम्बों की चोरी होना हमारी शैक्षणिकता पर प्रश्न चिन्ह लगता है।

हमारे तीर्थंकर क्षत्रिय थे और हम उनके भक्त भले क्षत्रिय नहीं हैं, अपने आराध्य की भी रक्षा नहीं कर पा रहे हैं तो उन्हें फिर अपने नाम के साथ जैन लिखने पर विचार कर लेना चाहिए या फिर अपने आपको पुरुष मानने का भ्रम नहीं पालना चाहिए। चोरी पर चोरी हो रही हैं, किन्तु सुरक्षा के कोई बन्दोबस्त नहीं किए जा रहे हैं। यहाँ तक की संगठित होकर प्रशासन पर भी कोई दबाब नहीं बना रहे हैं। नेतृत्व के अभाव में अयोजनाबद्ध आन्दोलन कर शक्ति को नष्टकर शान्त बैठ जाने वालों को और क्या माना जा सकता है।

आज यह भी विडम्बना देखने में आ रही है कि जो मंदिर जंगलों/गाँवों से चोरी होती है उनके लिए शहरी समाज के अन्दर कोई चिन्गारी नहीं भड़कती है। जैसे गाँवों-तीर्थों-जंगलों की मूर्ति-मंदिरों से इनका कोई सरोकार ही नहीं है। क्या वो हमारे आराध्य नहीं हैं या ऐतिहासिक महत्व नहीं रखते। क्या उनकी सुरक्षा करना मात्र उन्हीं गाँवों वालों की/तीर्थकमेटी वालों की है। अन्ततोगत्वा गाँव वालों की तीर्थकमेटी वालों की संख्या कम होने से प्रशासक पर अपना दबाब नहीं बना पाते हैं और लम्बी प्रक्रिया से जूझ नहीं पाने से मूर्ति आदि मिलते नहीं हैं। पुलिस प्रशासन बिना कार्यवाही के मात्र आश्वासन देते रहते हैं, क्योंकि उनके पास अनेकों कार्य होते हैं। बिना अच्छे दबाब के वो अन्वेषण ही नहीं करते हैं। ऐसा पुलिस वालों से ही पता चला है।

सबसे बड़ी विडम्बना तो तब होती है कि शहरों में एक मंदिर में चोरी होती है तो दूसरे मंदिर वाले या कालोनी वाले उनके आन्दोलनों में भाग तक नहीं लेते। मात्र अपने मंदिरों तक सीमित रहने की सोच संस्कृति के लिए खतरनाक है। ध्यान रहे किसी भी मंदिर की चोरी से हमारा इतिहास तो मिटता ही है एवं श्रद्धा टूटती है। भक्ति नष्ट होती है, क्योंकि प्रत्येक मूर्ति साक्षात् जीवित भगवान है उनकी प्राण-प्रतिष्ठा जो होती है। कोई पाषाण या धातु मात्र की नहीं है। अतः चोरी के समाचार सुनते ही अपने भगवान को बचाने के लिए कदम नहीं उठाते हो तो आपका धर्म आप से पूछेगा कि तुम्हारी श्रद्धा-भक्ति समर्पण का क्या औचित्य है?

उठो, जागो, एकता संगठन के साथ आगे बढ़ो! जहाँ-जहाँ पर जागृति एवं संगठनात्मक प्रक्रिया दिखाई गई, वहाँ पर मूर्तियाँ मिली है। चोरी से बचने के लिए लम्बे समय की खोजबीन से पता चला कि यदि निम्नलिखित उपाय शीघ्र कर लिए जाएँ तो ९५% से ९९% तक चोरियाँ रुक सकती हैं –

१. प्रत्येक मंदिर में जीर्ण-शीर्ण दरवाजे खिड़की हों तो बदले जावें।

२. प्रत्येक मंदिर के प्रत्येक दरवाजों में इन्टरलॉक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी होना चाहिए। मात्र सौ-डेड सौ रुपये का आता है।

३. प्रत्येक मंदिर में सेन्सर लगना चाहिए, प्रत्येक दरवाजे पर सेन्सर चिप लगना चाहिए और सेन्सर से १२-१५ फोन जुड़ना चाहिए। जिससे कोई भी घुसा तो तत्काल सेन्सर का सायरन चालू हो जाएगा और फोन बज उठेंगे। तत्काल लोग दौड़ पड़ेंगे। चोर स्वतः ही आवाज (सायरन) सुन भागेगा। मात्र १०-१२ हजार का खर्चा आयेगा।

४. थोड़ा और खर्चा करें तो कैमरे लगायें। मात्र २-३ हजार का कैमरा, एक छोटी टी.वी., चौकीदार, माली, व्यास के कमरे में फिट करें तो उस पर देख-रेख हो जायगी और साथ में सूटिंग रिकार्ड हो जाती है, जिससे चोर तक पहुँच शीघ्र हो जाती है। आज इतने अच्छे वैज्ञानिक उपकरण आ गये हैं, फिर क्यों न अपनाये जायें।

५. प्रत्येक मंदिर की प्रत्येक वेदी पर काँच के दरवाजे लॉक सहित लगावें।

६. छोटी प्रतिमायें (९ इंच तक) को गोदरेज की तिजोरियाँ फिट कराकर रखें। खास तौर पर धातु की प्रतिमाएँ।

७. प्रत्येक मंदिर के चौक में लोहे के जाल लगायें, क्योंकि चोर आजू-बाजू से चढ़कर चौक में कूँद जाते हैं।

८. मंदिर में कौन आ रहा है, कौन जा रहा है इस पर नजर रहे। इसके लिए चौकीदार, माली, व्यास को ताकीद करें। इसके लिए उसके वेतन में बढोत्तरी करें। तो वो सावधानी से इस कार्य को करेगा।

९. मंदिर समय पर खुलें, समय पर बन्द हों, ताला लगे और खोलने-बन्द करते समय मंदिर कमेटी के कोई भी सदस्य उपस्थित रहें। कमेटी भगवान की सेवक/सुरक्षक होती है, मालिक नहीं; क्योंकि भगवान का कोई मालिक नहीं होता है। सेवक के रहते चोरी होना, सेवक का दोष है, पाप है।

१०. मंदिर परिसर में ही चौकीदार-व्यास-माली को रखा जाये, जिससे उसके परिवार के सदस्यों की नजर रहेगी या फिर मंदिर की दीवाल से सटे आजू-बाजू में रखा जाये। तभी मंदिर पर नजर रखी जा सकती है। साथ ही चौकीदार-व्यास पर भी नजर रखें, उनके किनसे संबंध हैं, कौन उनके पास आ-जा रहे हैं।

११. चौकीदार-व्यास-माली जवान लगाने चाहिए। १२. चौकीदार-व्यास-माली के पास टार्च, डण्डा, सीटी होना ही चाहिए। १३. मंदिर में परिचित कारीगर, मजदूर, पेन्टर, बढ़ई (कारपेन्टर), बिजली मिस्त्री आदि को ही प्रवेश देवें। भले पैसा ज्यादा लग जाए लेकिन परिचितों से ही कार्य कराना चाहिए।

१४. मंदिर के आस-पास सूना नहीं होना चाहिए। पुजारी-माली-चौकीदार समाज के लोगों को रहना चाहिए – ऐसी व्यवस्था हो।

१५. यदि कहीं की समाज स्थानान्तरित हो अन्यत्र चली गई है तो उसे जिनप्रतिमाओं को साथ ले जाना चाहिए। या किसी सुरक्षित जगह पर विराजमान करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया है तो आसपास की समाज को चाहिए कि वो उस मंदिर की प्रतिमाओं को सुरक्षित करें। अन्यत्र स्थापित करें। या फिर वहाँ पर किसी गरीब जैनों को आजीविका देकर बसावें। प्रतिमाएँ उठाने के बाद वहाँ पर चरण चिन्ह स्थापित कर दें और एक शिलालेख लिखा दें कि यहाँ की प्रतिमाएँ वहाँ पर गई हैं तथा जहाँ पर जाएँ, वहाँ पर भी लिखा दें कि ये समस्त प्रतिमाएँ वहाँ से लायी गई हैं। इससे इतिहास सुरक्षित रहेगा।

१६. मंदिरों में भक्तों की संख्या बढ़े, इसके प्रयास किये जाने चाहिए। प्रत्येक शहर की बहुसंख्यक समाज को चाहिए कि वो एक ऐसी टोली बनाये जो हर रविवार को अलग-अलग मंदिरों में पूजा-अभिषेक का कार्यक्रम रखें। ऐसा करते हुए पूरे जिले के मंदिरों में जाना चाहिए। इससे वहाँ के निवासी जागृत होते हैं, कमेटियाँ जागृत होंगी। समाज तथा कमेटी के जागरण से मंदिरों की सुरक्षा-व्यवस्थाएँ चुस्त-दुरुस्त होंगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. प्रत्येक जिले स्तर पर एक कमेटी गठित होना चाहिए। उसमें प्रत्येक गाँव-शहर के मंदिर का एक सदस्य होना चाहिए। कहीं भी मूर्ति चोरी होवे तो वो सदस्य तत्काल कमेटी को सूचित करें। और कमेटी अपने बेनर तले प्रशासन पर जबरदस्त दबाब बनाये। विधिवत् योजनाबद्ध तरीके से आन्दोलन करे। ऐसा न होने पर समस्त जिलों की कमेटियों से सम्पर्क करे और प्रदेश स्तर पर कार्यवाही करे। शासन से बातचीत कर दबाब बनाये। ऐसा करने से पुलिस वालों की नींद खुलती है। तब आपके भगवान मिल सकते हैं। ध्यान रहे ! ज्यादा लम्बा समय निकलने से चोर एवं प्रतिमा तक पहुँच बनाना मुश्किल होता है।

१८. एक चोर पकड़े जाने के बाद पुन: मंदिरों की चोरी करता है या दूसरे करते हैं। इसका कारण है सजा का कोई विशेष प्रावधान नहीं है। जिससे चोरों को कोई खोफ हो। अत: जैन समाज को सरकार से इसमें कोई उचित कार्यवाही की माँग करना चाहिए। क्योंकि प्रतिमाएँ एक जीवित भगवान के समान मानी जाती हैं, प्रतिष्ठित होती हैं। भारतीय संस्कृति में प्रतिष्ठा में प्राण-प्रतिष्ठित किये जाते हैं। अत: उनका अपहरण करना या क्षत-विक्षत करना हत्या के समान श्रेणी का अपराध बनता है, अत: दण्ड व्यवस्था भी वैसी होनी चाहिए। प्रचार-प्रसार ऐसा होना चाहिए कि आमजन को राहत हो जाए कि मंदिर मूर्ति भी एक जीवित तत्त्व है। उनके साथ छेड़खानी करना भारी अपराध-दण्ड का भागीदार होना है। सरकार से चोरी रोकने के लिए कानून को कठोर करने की मांग के लिए भारत में जहाँ-जहाँ चोरियाँ हुई हैं उनकी जानकारियाँ एकत्रित करके दिखाना चाहिए। जैनपत्र-पत्रिकाओं में सूचना देकर ये जानकारियाँ हासिल की जा सकती हैं।

१९. दिगम्बर जैन समाज की पंचायतें, दिगम्बर जैन महासमिति, जैन महासभा, जैन सोश्यल ग्रुप, दिगम्बर जैन युवा परिषद्, वीरसेवा दल महाराष्ट्र, स्थानीय संस्थाएँ आगे आकर अपनी संस्कृति के मुख्य प्रतीक मंदिर मूर्तियों की रक्षा के क्षेत्र में आगे आयें। तभी उनके अस्तित्व का वास्तविक उद्देश्य सार्थक होगा। यदि ऐसे संगठनों के रहते सांस्कृतिक धरोहर नष्ट होती रही तो दोष इनका ही होगा। पीढियाँ इन्हें माफ नहीं करेंगी। समाज भी लानते देगी। चोरों से खतरा कम है और अपनी निष्क्रियता से खतरा ज्यादा है। उपरोक्त उपायों पर विचार कर शीघ्र अपनाये जाने की आवश्यकता है, वरना जितना विलम्ब से कदम उठेगा। उससे कई गुना हानि हो चुकी होगी। ध्यान रहे ! एक दिन करना यही होगा।

विचारणीय बात है कि जब कहीं चोरी हो जाती है, तो दु:ख होता है। लोग भगवान की उपासना शुरु कर देते हैं, व्रत, नियम, उपवास करते हैं, एक-दो बार धरना-प्रदर्शन करके शान्त हो जाते हैं। शक्ति और धन खर्च करके कुछ नहीं पाते हैं। इधर-उधर दौड़-धूप करके थक जाते हैं। मूर्ति आदि मिलना भाग्य भरोसे रह जाता है। क्यों न सुरक्षा की नसीहत लेकर कुछ इन्तजाम कर लिए जाएँ।

घर-दुकान की सुरक्षा के लिए सारे उपाय यहाँ तक की स्वयं ही लगे रहते हैं, तो फिर मूर्तियों की क्यों नहीं? क्या वो जड़, पाषाण या धातु है? क्या श्रद्धा समर्पण भक्ति पर चोट नहीं पहुँचती? क्या मूर्ति के नाबालिग श्रेणी में आने से सुरक्षा करने का हमारा दायित्व नहीं बनता? क्या निष्क्रियता नपुंसकता नहीं है? चोर भगवान की प्रतिमा को कहाँ-कहाँ डालता है? क्या यह विचार कर आपकी आत्मा नहीं काँपती है? यदि आपके उत्तर नकारात्मक हैं तो आप जैन नहीं हैं, जिनेन्द्र भक्त नहीं हैं।

प्रत्येक व्यक्ति समाज की एक इकाई है। उसे इकाई बनकर आगे आकर इस विषय में अपना तन-मन-धन-समय का अंशदान करके दूसरे को बिना बोले ही प्रेरणा देना चाहिए तभी दहाई, फिर सैकड़ा-हजार-लाख की संख्या में लोग जुड़ते जायेंगे।

"धर्मो रक्षति रक्षित:",

"प्रभु बचेंगे तो हम बचेंगे" ❐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन संस्कृति वेदपूर्व है

❑ स्व. श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के मिश्रण से हुआ तथा जिसे हम वैदिक संस्कृति कहते हैं। वह वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों के मिलन से उत्पन्न हुई थी। यह अनुमान कई प्रकार की युक्तियों पर आधारित है। भारतीय संस्कृति के विवेचन में हमारे सामने कुछ ऐसी शंकाएँ खड़ी होती हैं, जिनका समाधान न तो इस स्थापना से हो सकता है कि हिन्दू संस्कृति सोलह आने आर्यों का निर्माण है, न इस स्थापना से कि वैदिक संस्कृति केवल प्राग्वैदिक संस्कृति का विकास मात्र है। डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने ऐसी कई शंकाओं का उल्लेख अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति का विकास : वैदिक धारा' में किया है।

पाणिनि का समय हम लोग ई.पू. ७वीं सदी मानते हैं। पाश्चात्यों के मतानुसार उनका काल ई.पू. ५वीं सदी से इधर नहीं माना जा सकता। पाणिनि ने श्रमण-ब्राह्मण-संघर्ष का उल्लेख 'शाश्वतिक विरोध' के उदाहरण के रूप में किया है। अवश्य ही शाश्वत शब्द सौ-दो सौ वर्षों का अर्थ नहीं देता, वह इससे बहुत अधिक काल का संकेत करता है। अतएव, यह मानना युक्तियुक्त है कि श्रमण-संस्था भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व विद्यमान थी और ब्राह्मण इस संस्था को हेय समझते थे। श्रमणों और ब्राह्मणों के बीच सर्प-नकुल संबंध का उल्लेख बुद्धोत्तर साहित्य में बहुत अधिक हुआ है, किन्तु पाणिनि के उल्लेख से यह स्पष्ट भासित होता है कि श्रमण-ब्राह्मण संघर्ष बौद्ध मत का कहीं प्राचीन है।

पौराणिक हिन्दू धर्म निगम और आगम, दोनों पर आधारित माना जाता है। निगम वैदिक विधान है। आगम प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक परम्परा का वाचक है। पुराण और पौराणिक धर्म उतने नवीन नहीं है, जितना नवीन उन्हें पश्चिम के विद्वानों ने सिद्ध किया है। 'यह कहना संभव है कि इतिहास-पुराणों का आरंभ अथर्ववेद के काल में हुआ। अथर्ववेद में कहा गया है कि ऋग्वेद, सामवेद, पुराणों के साथ यजुर्वेद तथा छन्द ब्रह्मदेव से उत्पन्न हुए (११/७/२४)। शतपथ-ब्राह्मण के (११/५/७/९) ब्रह्म यज्ञ में इतिहास तथा पुराणों के पठन का फल बतलाया गया है और कहा गया है कि अश्वमेध में (१३/४/३/१३) पुराण तथा वेद का पठन किया जाय।' (वैदिक संस्कृति का विकास : लक्ष्मण शास्त्री जोशी)

पुराणों का उल्लेख धर्मसूत्रों में भी है तथा मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति एवं ऋग्विधान में भी। रामायण और महाभारत तो पुराणों के नाम कई बार लेते हैं। इन सारे प्रमाणों से यह अनुमान अत्यधिक सुदृढ़ हो जाता है कि पुराणों की परम्परा वेदों की परम्परा से कम प्राचीन नहीं.....।

डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने यह भी अनुमान लगाया है कि भारतीय संस्कृति में जो कई परस्पर-विरोधी 'युग्म' हैं, उनका भी कारण यही है कि यह संस्कृति, आरंभ से ही, सामासिक रही है। उदाहरणार्थ – भारतीय समाज में एक द्वन्द्व तो कर्म और संन्यास को लेकर है, दूसरा प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच तथा तीसरा स्वर्ग और नरक की कल्पनाओं को लेकर। यह विषय सचमुच विचारणीय है। अत्यन्त प्राचीन काल से भारत की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानसिकता दो धाराओं में विभक्त रही है। एक धारा कहती है कि जीवन सत्य है और हमारा कर्तव्य यह है कि हम बाधाओं पर विजय प्राप्त करके जीवन में जय लाभ करें एवं मानव-बन्धुओं का उपकार करते हुए यज्ञादि से देवताओं को भी प्रसन्न करें, जिससे हम इस और उस, दोनों लोकों में सुख और आनन्द प्राप्त कर सकें। किन्तु दूसरी धारा की शिक्षा यह है कि जीवन नाशवान है। हम जो भी करें, किन्तु हमें रोग और शोक से छुटकारा नहीं मिल सकता, न मृत्यु से हम भाग सकते हैं। हमारे आनन्द की स्थिति वह थी, जब हमने जन्म नहीं लिया था। जन्म के कारण ही हम वासनाओं की जंजीर में पड़े हैं। अतएव हमारा श्रेष्ठ धर्म यह है कि उन सुखों को पीठ दे दें, जो हमें ललचा कर संसार में बाँधते हैं। इस धारा के अनुसार मनुष्य को घर-बार छोड़कर संन्यास ले लेना चाहिए और देह-दंडनपूर्वक वह मार्ग पकड़ना चाहिए, जिससे आवागमन छूट जाय।

अनुमान यह है कि कर्म और संन्यास में से कर्म तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति में से प्रवृत्ति के सिद्धांत प्रमुख रूप से वैदिक हैं तथा संन्यास और निवृत्ति के सिद्धांत अधिकांश में प्राग्वैदिक मान्यताओं से पुष्ट हुए होंगे। किन्तु, आश्चर्य की बात है कि भारतीय अध्यात्म शास्त्र और दर्शन पर जितना प्रभाव संन्यास और निवृत्ति का है, उतना प्रभाव कर्म और प्रवृत्ति के सिद्धांतों का नहीं है। अथवा आश्चर्य की इसमें कोई बात नहीं है। ऋग्वेद के आधार पर यह मानना युक्तिसंगत है कि आर्य पराक्रमी मनुष्य थे। पराक्रमी मनुष्य संन्यासी की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्व देता है। दु:खों से भाग खड़ा होने के बदले वह डटकर उनका सामना करता है। आर्यों का यह स्वभाव कई देशों में बिल्कुल अक्षुण्ण रह गया। विशेषत: यूरोप में उनकी पराक्रम-शीलता पर अधिक आँच नहीं आयी। किन्तु कई देशों की स्थानीय संस्कृति और परिस्थितियों ने आर्यों के भीतर भी पस्ती डाल दी एवं उनके मन को आर्यों की वैदिक संस्कृति के चारों ओर अपना जो विशाल जाल फैला दिया, उसे देखते हुए यह सूक्ति काफी समीचीन लगती है कि 'भारतीय संस्कृति के बीच वैदिक संस्कृति समुद्र में टापू के समान है।'

वैदिक और आगमिक तत्त्वों के बीच संघर्ष, कदाचित् वेदों के समय भी चलते होंगे, क्योंकि आगम हिंसा के विरुद्ध थे और यज्ञ में हिंसा होती थी। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध धर्मों का मूल आगमों में अधिक, वेदान्त में कम मानना चाहिए। हाँ, जब गीता रची गयी, तब उनका रूप भागवत आगम का रूप हो गया। सांस्कृतिक समन्वय के इतिहास में भगवान कृष्ण का चरम महत्व यह है कि गीता के द्वारा उन्होंने भागवतों की भक्ति, वेदान्त के ज्ञान और सांख्य के दुरूह-सूक्ष्म दर्शन को एकाकार कर दिया।

आर्यों का उत्साह और प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण, कदाचित् महाभारत के पूर्व तक अक्षुण्ण रहा था। महाभारत की हिंसा ने भारत के मन को चूर कर दिया। वहीं से शायद यह शंका उत्पन्न हुई कि यज्ञ सद्धर्म नहीं है और जीवन का ध्येय सांसारिक विजय नहीं, प्रत्युत मोक्ष होना चाहिए। महाभारत की लड़ाई पहले हुई, उपनिषद् कदाचित् बाद को बने हैं।

संसार को सत्य मानकर जीवन के सुखों में वृद्धि करने की प्रेरणा कर्मठता से आती है, प्रवृत्तिमार्गी विचारों से आती है। इसके विपरीत, मनुष्य जब मोक्ष को अधिक महत्व देने लगता है, तब कर्म के प्रति उसकी श्रद्धा शिथिल होने लगती है। मोक्ष-साधना के साथ, भीतर-भीतर यह भाव भी चलता है कि इन्द्रिय-तर्पण का दंड परलोक में नरकवास होगा। यह विलक्षण बात है कि वेदों में नरक और मोक्ष की कल्पना प्राय: नहीं के बराबर है। विश्रुत वैदिक विद्वान डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है – 'बहुत-से विद्वानों को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओं में मुक्ति अथवा दु:ख शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नहीं मिला।' अन्यत्र उन्होंने यह भी लिखा है कि 'नरक शब्द ऋग्वेद-संहिता, शुक्ल-यजुर्वेद-वाजसनेयि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माध्यन्दिन-संहिता तथा साम-संहिता में एक बार भी नहीं आया है। अथर्व वेद संहिता में नारक शब्द केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।'

अब यह विश्वास दिलाना कठिन है कि जिस निवृत्ति का भारत के अध्यात्म-शास्त्र पर इतना अधिक प्रभाव है, वह आर्येतर तत्त्व थी। किन्तु, आर्यों के प्राचीन साहित्य में निवृत्ति विरोधी विचार इतने प्रबल हैं कि निवृत्तिवादी दृष्टिकोण को आर्येतर माने बिना काम चल नहीं सकता।

इसीप्रकार ऋषि और मुनि शब्दों का युग्म भी विचारणीय है। ऋषि शब्द का मौलिक अर्थ मन्त्रदृष्टा है, किन्तु मन्त्रों के द्रष्टा होने पर भी वैदिक ऋषि गृहस्थ होते थे और सामिष आहार से उन्हें परहेज नहीं था। पुराणों में ऋषि और मुनि शब्द प्राय: पर्यायवाची समझे गये हैं, फिर भी विश्लेषण करने पर यह पता चल जाता है कि मुनि गृहस्थ नहीं होते थे। उनके साथ ज्ञान, तप, योग और वैराग्य की परम्पराओं का गहरा संबंध था। ऋषि और मुनि दो भिन्न संप्रदायों के व्यक्ति समझे जाते थे। 'मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। होने पर भी उसका ऋषि शब्द से कोई संबंध नहीं है।' (डॉ. मंगलदेव शास्त्री)। पुराणों में ऋषि और मुनि के प्राय: पर्यायवाची होने का एक कारण तो यही मानना होगा कि पुराणों का आधार वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वित रूप है। अतएव, पुराणकार प्रत्येक धर्मप्राण साधु और पण्डित को प्रसंगानुसार ऋषि या मुनि कहने में कोई अनौचित्य नहीं मानते थे। जब बौद्ध और जैन आन्दोलन खड़े हुए, बौद्धों और जैनों ने प्रधानता ऋषि शब्द को नहीं, मुनि शब्द को दी। इससे भी यही अनुमान दृढ़ होता है कि मुनि परम्परा प्राग्वैदिक रही होगी। 'ऋषि परम्परा और मुनि परम्परा के संबंध में, संक्षेप में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि दोनों की दृष्टियों में हमें महान भेद प्रतीत होता है। जहाँ एक का झुकाव (आगे चलकर) हिंसामूलक मांसाहार और तन्मूलक असहिष्णुता की ओर रहा है, वहीं दूसरी का अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता तथा विचार-सहिष्णुता (अथवा अनेकान्तवाद) की ओर रहा है। इनमें से एक मूल में वैदिक और दूसरी मूल में प्राग्वैदिक प्रतीत होती है।' (डॉ. मंगलदेव शास्त्री)। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि महंजोदरो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है, जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ समन्वित हो गयी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति-युक्त नहीं दिखता कि ऋषभदेव, वेदोल्लिखित होने पर भी वेद पूर्व हैं।

❐ 'संस्कृति के चार अध्याय'
पृष्ठ ३०-३३ से साभार
(लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद)

जिस जीवन के लिए प्राणी महान पाप करके धन उपार्जित करता है, वह जीवन शरद ऋतु के मेघ के समान शीघ्र नष्ट हो जाता है।

कदाचित् बालू में पानी और आकाशपुरी में महापुरुष भले ही प्राप्त हो जावें, परन्तु इस असार संसार में सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

'वीरदेशना' से साभार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाहुबली प्रतिमा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

❐ श्रीमती चन्द्रकला जैन

श्रवणबेलगोला के गोम्मटेश्वर बाहुबली भगवान की पावन प्रतिमा ने १०२५ वसन्त, हेमन्त, ग्रीष्म, शरद, शिशिर काल देखे तथा मध्य युग में सहस्र जीवन संघर्ष, उत्थान-पतन, सुख-दुःखमूलक परिसर-परिवेश देखे। उस पावन प्रतिमा की आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सान्निध्य में सेनापति चामुण्डराय ने सन् ९८१ ई. में अपनी माता के निमित्त इन्द्रगिरि पहाड़ी पर प्रतिष्ठा सम्पन्न करायी थी।

गोम्मटेश्वर और श्रवलबेलगोला दोनों ही शब्द कन्नड़ भाषा के हैं। कन्नड़ में "बेल" का अर्थ है सफेद और "गोल" का अर्थ है सरोवर। सफेद मूर्ति और कल्याणी सरोवर के मेले से इस स्थान को श्रवणबेलगोला कहते हैं। यहीं कायोत्सर्ग मुद्रा में भगवान बाहुबली की विशाल मूर्ति उत्तर दिशा की ओर उन्मुख विराजमान है। वह मानव जाति को संसार की अनित्यता का मौन संदेश दे रही है। हिंसा-अहंकार, माया-लोभ की निस्सारता का उज्ज्वल दृष्टान्त प्रस्तुत कर रही है और लोगों का भक्ति और मुक्ति तीर्थ बनी हुई है।

विन्ध्यगिरि दक्षिण विस्तार में इन्द्रगिरि (दोड्डगिरि) और चन्द्रगिरि (चिक्कवेट) नाम की पहाड़ियों की तलहटी में स्थित वसती (बस्ती) का नाम श्रवणबेलगोला है। इसका शांत वातावरण समशीतोष्ण ऋतुएँ साधकों के लिए अति अनुकूल हैं। इसे दक्षिण काशी, जैनबद्री, देवलपुर और मोहम्मदपुर भी कहा जाता है।

उत्तर भारत में जब १२ वर्षों के अकाल की संभावना श्रुतकेवली भद्रबाहु को लगी तो मुनि भद्रबाहु १२००० मुनियों के संघ सहित दक्षिण भारत चले गये। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी भद्रबाहु मुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली और मुनि संघ के साथ वह दक्षिण भारत चले गये।

भद्रबाहु ने विशाख मुनि को मुनिसंघ का आचार्य पद देकर मुनिसंघ को चोलपाण्डय आदि राज्यों की यात्रा के निमित्त भेज दिया और स्वयं वन प्रवर्जित मुनि चन्द्रगुप्त के साथ कटवप्र पर्वत पर रुक गये। वहाँ उन्होंने तपस्यायें कीं और आयु के अंत में समाधि-मरणपूर्वक प्राणों का विसर्जन किया। गुरु के पश्चात् भी चन्द्रगुप्त उसी पहाड़ी पर १२ वर्षों तक कठिन तपस्याओं की साधना करते रहे। उन्होंने भी समाधि-मरण द्वारा देह त्याग का लाभ लिया। जिस पहाड़ी पर श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रमुनि ने तपस्या की, उसका नाम बाद में चन्द्रगिरि पड़ा। जिस गुफा में वे निवास करते थे, उसका नाम चन्द्रगुफा पड़ा।

आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव जब युवराज थे, तब उनका विवाह कच्छ और महाकच्छ राजा की राजकुमारियों यशस्वी और सुनन्दा से हुआ। यशस्वी से भरतादि एक सौ पुत्र और ब्राह्मी नामक कन्या एवं सुनन्दा से एक पुत्र बाहुबली और सुन्दरी नामक कन्या का जन्म हुआ था। जब महाराज ऋषभदेव को नीलांजना का नृत्य देखते-देखते वैराग्य हो गया, तब वे युवराज भरत को उत्तराखण्ड का और राजकुमार बाहुबली को दक्षिण का शासन सौंपकर स्वयं मुनि दीक्षा लेकर तपस्या करने वन खण्ड को चले गये।

महाराजा भरत की आयुधशाला में चक्ररत्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रगट हुआ। उन्होंने चतुरंगिणी सेना के साथ छह खण्ड पृथ्वी पर दिग्विजय की। लौटने पर राजधानी अयोध्या के प्रवेश द्वारा पर चक्ररत्न अटक गया। एक भी शत्रु शेष रहने पर चक्ररत्न राजधानी में प्रवेश नहीं करता है। विचार-विमर्श पश्चात् ज्ञात हुआ कि महाराजा भरत के अनुज पोदनपुर के महाराजा बाहुबली ने अभी तक महाराजा भरत की अधीनता स्वीकार नहीं की है, जिससे उनका चक्रीत्व पूर्ण न होने से चक्ररत्न राजधानी में प्रवेश नहीं कर पा रहा था।

भरत ने अनुज बाहुबली को कहलाया कि बाहुबली आकर मेरे चक्रीत्व यज्ञ का स्वयं समापन करें। तब बाहुबली ने इसको धमकी समझा। तब बाहुबली ने अपने दूत से कहलवा दिया कि पोदनपुर का शासन स्वतंत्र है और रहेगा, उसे अधीनता स्वीकार नहीं है। वह अपनी महत्ता युद्धभूमि में स्वीकार कराये। दोनों ओर की चतुरंगिणी सेनायें रणभूमि में आ जुटी, तब मंत्रिपरिषद्, सेनाध्यक्ष और सेनापतियों का मण्डल वहाँ एकत्रित हो गया। युद्ध आरम्भ होने वाला ही था, तभी सेनापतियों ने कहा – सगे भाईयों के युद्ध में हम सेनापति सम्मिलित नहीं होंगे। द्वन्द्व युद्ध से वे लोग जय-विजय का स्वयं निर्णय करें। तब दोनों भाईयों ने मंत्रिपरिषद् और सेनापतियों की बात से सहमति जताई और द्वन्द युद्ध की घोषणा कर दी। जिसमें जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध, मल्लयुद्ध निश्चित हुए। तीनों युद्ध में बाहुबली विजयी रहे, फिर पराजित भरत ने बाहुबली पर चक्र से घात किया। लेकिन चक्र बाहुबली की तीन प्रदक्षिणा करके भरत के पास लौट गया और बाहुबली की जय-पराजय से आकाश गुंजायमान हो गया। भरत ग्लानि से क्षुब्ध मलिन मुख लिए पृथ्वी को देखते खड़े थे। वह चाह रहे थे कि पृथ्वी फट जाये और मैं उसमें समा जाऊँ।

दूसरी ओर बाहुबली के मस्तिष्क में द्वन्द्व मचा हुआ था। ज्येष्ठ भ्राता ने सत्ता के लोभ में विवेक को भुला दिया है। यही महत्वाकांक्षा विनाश की मूल है। मेरा मार्ग पिता वाला है, मुनिदीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करने का है। मैंने राज्य संपदा के लोभ में आकर बड़े भाई भरत का अपमान कर अपकीर्ति कमाई। मैंने बाहु बल के अहंकार से द्वन्द्व युद्ध किया है। मुझे उनके चक्रीत्व यज्ञ में सहायक होना चाहिए था, किन्तु मैंने विघ्न डाला। मेरे पिता ने जिस राज्य-संपदा को तृण समान समझ कर त्यागा था उसी का मैं लोभी बना। धिक्कार है मुझे, मैं अब इस मायावी का त्याग कर मुनि दीक्षा लूंगा और कठिन तपस्याओं की आराधना साध मोक्ष संपदा का वरण करूँगा। बाहुबली भरत के चरणों से लिपट क्षमा-पश्चाताप के आंसू बहा रहे थे। मेरे अहम् ने मुझसे ये सारे अकृत्य कराये हैं, आपको शारीरिक और मानसिक क्लेश मैंने दिया है। हमारे ९९ भाईयों और दोनों बहिनों ने पिता के महान विचारों को समझा और उनका पथ अनुसरण किया। उस आदर्श को मेरे अहंकार ने मुझे भुलवा दिया था। आज मेरी आँखें खुल गई हैं। मैं वन को जा रहा हूँ, मुनिव्रत धारणकर मोक्ष प्राप्त करूँगा। तभी स्वयं चक्रवर्ती भरत, उपस्थित मंत्रिपरिषद्, सेनानायक, सैनिक उपस्थित प्रजागण सभी के द्वारा बाहुबली की जयकार से गगन गुंजित हो उठा।

तभी वह कामदेव की साक्षात् प्रतिमूर्ति सारे राजसी ठाठ-बाटों को छोड़कर वन को प्रस्थान कर गये। गहन वन के मध्य पहुँच कर महाराजा बाहुबली ने अपने राजसी वस्त्राभूषणों को उतार फैंका, दिगम्बर बन गये और शिलाखण्ड पर पालथी मार कर बैठ गये। हाथों की मुट्ठियों से कुन्तल केश राशि उखाड़ फैंकी और वहीं पर खड्गासन में खड़े हो गये। तीन बार "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" कह कर ध्यानस्थ हो गये। दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह, पक्ष पर पक्ष, मास पर मास बीतते रहे। ऋतुओं जाड़ा-गर्मी, वर्षा के झंझावात आये, चले गये। परन्तु तपस्वी अचल-अटल बना उसी भूमिखण्ड तपस्या में लीन रहा। कंटीली वन लतायें जांघों से होती बाहुओं से लिपटती कानों तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहुँच रही थीं। पांवों के पंजों के निकट बिच्छु, सर्प और चीटियाँ बिल बनाकर बसेरा ले रही थे, परन्तु बाहुबली उग्र साधना में दत्तचित्त लगे थे।

तब चक्रवर्ती भरत ने तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के समवशरण में जाकर अरहंत भगवान से जिज्ञासा प्रकट की, कि भगवन् ! तपस्वी बाहुबली को इतनी कठोर तपस्या के बाद भी कैवल्य क्यों नहीं हो रहा है ? तीर्थंकर की वाणी खिरी – वत्स ! तपस्वी बाहुबली के मन में एक भारी शल्य चुभ रही है कि मैं जिस भूमि पर खड़ा हूँ, वह चक्रवर्ती भरत की है। जिस समय उन्हें इस शल्य का समाधान मिल जायेगा, उसी समय उन्हें मोक्ष हो जायेगा। तब भरत चक्रवर्ती ने समवशरण से सीधे बाहुबली के चरणों में साष्टांग नमस्कार करते हुए कहा – भगवन् ! आप कहाँ भूले हुए हैं। यह पृथ्वी न कभी किसी की रही है, न कभी रहेगी। आप इस बात का त्याग करें कि यह धरती भरत की है। यह सुनते ही तपस्वी बाहुबली को कैवल्य प्राप्त हो गया। इन्द्र ने देवपरिषद् के साथ आकर भगवान बाहुबली का कैवल्य महोत्सव उस भूमि पर मनाया और भरत चक्रवर्ती ने उस तपस्या भूमि पर रत्नों से उनके कद की प्रतिमा का निर्माण करा कर उस भूमि पर उसकी स्थापना कर उस स्थल को तीर्थधाम बना दिया। दूर-अतिदूर से भक्त जन वहाँ की यात्रा के लिए आने लगे, लेकिन कालक्रम ने उस तीर्थधाम पर अपनी काली छाया बिखेरना आरंभ कर दिया। वह तीर्थ दुर्गम बन गया। मार्ग पर यात्रियों का आना-जाना बंद हो गया।

एक दिन श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने शिष्य वीरवर चामुण्डराय की माता को उस तीर्थ की महानता का बखान सुनाया। माता प्रतिज्ञा से बैठी कि मैं जब तक उस तीर्थ की यात्रा कर उस बाहुबली भगवान की प्रतिमा के दर्शन न कर लूंगी, तब तक दूध और दूध से निर्मित वस्तुओं का उपभोग नहीं करूँगी। चामुण्डराय को माता की प्रतिज्ञा ज्ञात हुई। उन्होंने नगर और निकटवर्ती स्थलों में घोषणा करवा दी कि जो भगवान बाहुबली की तीर्थयात्रा को चलना चाहे नि:संकोच चल सकता है। गंगवंशीय नरेश राचमल के प्रधान सेनापति और मंत्री वीरवर चामुण्डराय संघ सहित नित्य आगे बढ़ते मंजिल पार कर रहे थे। एक दिन ऐसा आया कि उस दुर्गम पथ पर अनेक प्रयासों के बाद भी आगे बढ़ना असंभव हो गया। तब वह इन्द्रगिरि पर विचार-विमर्श के लिए रुक गये। दिनभर के विचार विनिमय के पश्चात् भी कोई समाधान न निकला, तभी रात्रि में सब लोग निद्रा में अलमस्त थे, तब शासन देवी ने आचार्य नेमिचन्द्र, चामुण्डराय और उनकी माता को एक साथ स्वप्न देकर कहा कि कल प्रात:काल ऊषावेला से पूर्व अपने सब नित्य कर्मों से निवृत्त होकर इन्द्रगिरि की सबसे ऊँची चोटी पर चढ़कर चामुण्डराय सामने वाली बड़ी पहाड़ी सबसे ऊँची चोटी की बड़ी शिला का छेदन स्वर्ण बाण से कर दे। भगवान बाहुबली की प्रतिमा के संघ को दर्शन होंगे।

शासन देवी के आदेशानुसार पुलकित मन से चामुण्डराय ने स्वर्ण बाण से सामने वाली पहाड़ी की सबसे ऊँची और बड़ी चट्टान को बींध दिया। दशों दिशायें प्रतिध्वनित हो उठीं। बींधी शिला की परतें झरने का क्रम कुछ देर तक चला और उस शिला में कामदेव सरीखा अति सुन्दर एक मुख बाहुबली भगवान का प्रगट हो गया। संघ ने भगवान बाहुबली की प्रतिमा के मुख दर्शनकर अपने को सराहा। भगवान गोम्मटेश्वर के जयकार से दोनों पहाड़ियाँ गुंजायमान हो उठीं। जय गोम्मटेश्वर, जय बाहुबली।

चामुण्डराय ने मूर्ति बनाने के लिए शिल्पियों को बुलाया। जैसी मूर्ति की आकृति बताई गई, शिल्पकारों की छैनी उस बड़ी चट्टान को काटकर वैसी ही आकृति बनाने में दत्तचित्त हो गई। चामुण्डराय ने अपने राज्य के प्रधान शिल्पी अरिष्टनेमी को यह कार्य सौंपा था, उसे मुँह माँगा स्वर्ण देने की स्वीकृति दी थी। उन शिल्पकारों ने तन्मयता से ५७ फुट उन्नत कामदेव सरीखी मानव आकृति को संतुलित रूप में सृजित कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुनिया का आठवाँ आश्चर्य बना दिया। ऐसी प्रतिमा तैयार हुई कि चामुण्डराय की खुशी का ठिकाना नहीं रहा था। उनके मन में अहं पैदा हुआ कि यह प्रतिमा मैंने बनवाई है। मूर्ति स्थापित हो जाने के बाद चामुण्डराय ने अभिषेक के लिए मनों दूध एकत्र कराया, पर उस दूध से मूर्ति की जंघा से नीचे का अभिषेक नहीं हो सका। गुरु की सलाह पर एक वृद्धा, जिसका सरल मन निष्काम, भक्ति-भाव, अगाध वात्सल्य से अभिषेक के लिए एक दूध का कटोरा लाई थी। उसके दूध के कटोरे से अभिषेक कराया गया तो वह दूध पूरे शरीर पर पहुँच गया, तब चामुण्डराय का मान गल गया और सरलता के पुजारी बन गये। इस प्रकार से ५७ फुट उन्नत नग्न बिना आधार की यह प्रतिमा पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी पर आज एक हजार से अधिक वर्षों से भारतीय और विदेशी भक्तों का तीर्थधाम बनी हुई है। यह धाम आज अन्तर्राष्ट्रीय तीर्थस्थल है। प्रतिमा के मस्तकाभिषेक की परम्परा प्रतिमा के स्थापना दिवस से १२ वर्षों के बाद की है।

सन् १९५२ ई. के मस्तकाभिषेक के अवसर पर मैसूर नरेश श्रीमन्त महाराज कृष्णराज ने कहा था – "जिस प्रकार भगवान बाहुबली के अग्रज चक्रवर्ती भरत ने साम्राज्य के अनुरूप इस देश का नाम भरत, बाद में भारतवर्ष कहलाया, उसी प्रकार यह मैसूर राज्य की भूमि भी भगवान गोम्मटेश्वर के आध्यात्मिक-साम्राज्य की प्रतीक है।"

अत: आज हमें १०२५ वर्ष के महोत्सव की पवित्र बेला में भगवान बाहुबली गोम्मटेश्वर के चरणों में अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हुए आनन्द की प्राप्ति हो रही है। ❐

– बी-४१७, प्रधान मार्ग, मालवीय नगर, जयपुर १७

वीर-प्रार्थना

❐ पं.अनूपचन्द न्यायतीर्थ

हे सन्मति ! सन्मति दो सबको, विघ्न समूल नष्ट हो जाय
सत्य, अहिंसा फैल जगत में, सच्चे सुख का बोध कराय
जिस बिहार के कुण्ड ग्राम में, जन्म लिया था वह अब आज
धूँ-धूँ कर जल रहा समूचा, आतंकित है पूर्ण समाज
फैल रही हैं लपटें उसकी, सारा देश भस्म हो जाय
बचा सके उपदेश आपके, ऐसा कोई करो उपाय
मानव में मानवता आवे, मानस में हो प्रेम प्रचार
रूढ़ि अंध विश्वास मिटे सब, बन जावे हर व्यक्ति उदार
लूट पाट अन्यायी चोरी, दूर भगा दे भ्रष्टाचार
पर उपकार भावना जागे, कष्टों से हो बेड़ा पार
दीन दुखी दलितों की सेवा, करने में होवे विश्वास
बैर परस्पर भूल जाय सब, विश्व मैत्री होय विकास

❐ ७६९, गोदीकों का रास्ता, किशनपोल, जयपुर (राज.) ३०२००३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैशाली में अनुभूत करें महावीर दर्शन

❑ डॉ राजेन्द्र कुमार बंसल

श्रद्धा के दीपक कई प्रकार के होते हैं। कुछ जलते ही बुझ जाते हैं, कुछ अधजले बुझ जाते हैं और कुछ ऐसे अद्‌भुत होते हैं जो सदियों तक एक दीप से दूसरे दीप को जलाते हुए पीढ़ी दर पीढ़ी अनवरत जलते ही रहते हैं और भविष्य में भी जलते रहेंगे। इसीप्रकार कुछ जन्म जयन्तियाँ या विशिष्ट दिवस (जैसे दीक्षा या आचार्यारोहण आदि) केन्द्रित होते हैं, जहाँ-जहाँ व्यक्ति जाता है उसकी उपस्थिति में वहाँ मनाते हैं। कुछ जन्म जयन्तियाँ पंथ या सम्प्रदाय के विशेष के सदस्य मनाते हैं। जैसे कबीर, हनुमान, बुद्ध जयन्तियाँ आदि तथा कुछ जन्मजयन्तियाँ ऐसी होतीं हैं जिन्हें सभी वर्ण और जातियों के व्यक्ति स्व- प्रेरणा से प्रतिवर्ष पीढ़ी दर पीढ़ी मनाते हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी जलने वाले श्रद्धा के दीप और पीढ़ी दर पीढ़ी सभी के द्वारा मनाई जाने वाली जन्म जयन्तियाँ या अन्य उत्सव उस महान व्यक्तित्व की विराटता के सूचक हैं, जिसने अपनी आत्मीक शक्ति के दिव्य साये में अनवरत प्रवाह रूप से सभी जीवों की पीड़ा को अपने में छुपा कर समानता, भ्रातृत्व भाव, समता, सहिष्णुता, संयम, त्याग, अविरोध समर्पण सहजता का संदेश दिया है। ऐसा विराट व्यक्तित्व है वर्द्धमान-महावीर का जिसका, अनुभव होता है वैशाली जिला स्थित वासोकुण्ड, और वैशाली जिला वासियों के हृदय पटल पर जो सदियों से वर्ण-जाति का भेद भुला कर अपने आराध्य वर्द्धमान-महावीर को जीवन की श्वासों में स्पंदित होते देखे जाते हैं। जैनत्व कहिये या महावीर के दर्शन-सिद्धान्तों को यथार्थ जीवन में उतारने की सहजकला, वैशाली वासियों में सहज देखी जा सकती है।

यह बात अलग हैं कि जिसको वे दैनिक जीवन में जीते हैं या अपनाये हुए हैं, उसे वे उन शब्दों या संज्ञाओं में अभिव्यक्त नहीं कर सकते, जो शास्त्रों में निहित है।

इस विवाद को दृष्टि ओझल कर कि भगवान महावीर की जन्मभूमि विदेह-कुण्डपुर कहाँ है? लेखक श्री अखिल बंसल तथा डॉ. ऋषभ चन्द्र फौजदार ने निर्णय किया कि वैशाली के जन जीवन पर महावीर के प्रभाव का मूल्यांकन किया जाये। इस दृष्टि से दिनांक १३ एवं १४ फरवरी २००४ को वासोकुण्ड वैशाली के बुद्धजीवियों, राजनियकों और विविधस्तरीय नागरिकों का साक्षात्कार किया और वैशाली जनों की सभ्यता संस्कृति, सधर्मपना, प्राकृतिक मनोहारी पर्यावरण आदि के आह्लादकारी अनुभव सर्व-हिताय प्रस्तुत हैं।

१. महावीर सब के थे, सब के लिये थे और सर्व काल सब के रहेंगे – इसकी पुष्टि हुई दो वीघा पवित्र अहिल्य भूमि से जो महावीर की जन्म स्थली के रूप में वासोकुण्ड में लगभग डेढ सौ पीढ़ियों से बिना-जुती, पावन, पीडाहारी मानी जाती है। इस पवित्र भूमि पर चैत्र सुदी तेरस के दिन सैकड़ों नागरिक जाति-भेद भूलकर जलूस रूप में जाते हैं, अक्षत अर्पित कर वहाँ की पावन मिट्टी मांथे पर लगाते हैं और अपने श्रद्धा-सुमन अपने आराध्य महावीर को समर्पित करते हैं। इसमें सभी वर्ण के व्यक्ति सम्भवित होते हैं। यह जानने योग्य है कि ७ वीं शताब्दि के वाद वहाँ कोई जैनधर्मी निवास नहीं करता। सन् १९४५ से जन्म-जयंति की शोभायात्रा महावीर भक्तों द्वारा बौना (बावन) पोखर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन मंदिर से तीन किलोमीटर दूर वासोकुण्ड तक प्रात:काल निकलती है।

२. दीपावली के दिन, जो महावीर का निर्वाण दिवस है, वहाँ के लोग अहिल्य भूमि जाकर दीपक जलाते हैं और अपने आराध्य को नमन करते हैं।

३. शादी-विवाह के अवसरों पर अहिल्य भूमि जाकर नमन करते हैं, अगरवत्ती जलाते हैं।

४. महावीर ने कहा कि सभी जीव समान हैं। व्यक्ति अपने कर्म से छोटा-बढ़ा होता है। सब के मध्य सद्भाव-सहिष्णुता होना अपेक्षित है। इसकी पुष्टि होती है अहिल्य भूमि के सामने प्रति वर्ष श्रावण शुक्ला के प्रथम मंगल या शनिवार को, जब सभी वर्ण-जातियों के व्यक्ति सर्व भेद भूलकर एक झंडे के नीचे महावीर एवं अन्य देवताओं की जय बोल कर परस्पर प्रसाद-फल वितरण कर खाते हैं। इस जन समूह में पासवान (हरिजन) क्षत्रिय, कहार, ब्राह्मण, कुम्हार, मुसलमान, भूमिहार आदि सभी सम्मलित होते हैं और ऊँच-नीचगत भेद भूल कर प्रसाद ले-देकर खाते हैं सर्व-समानता और अपनत्व की ऐसी मिशाल दुर्लभ है।

५. वैशाली के जन जीवन में महावीर के सत् – सत्य स्वरूप, सदाचार, सद्भाव, सहिष्णुता, अविरोध आदि सिद्धान्तों का विशेष महत्व है। ब्रह्मचर्य व्रत का व्यापक प्रभाव वहाँ के जन-जीवन में देखने को मिला। क्षत्रिय, भूमिहार –जथरियों की प्रत्येक पीढ़ी में एक-दो व्यक्ति ब्रह्मचर्य व्रत लेते हुए चले आ रहे हैं। अन्य जातियों में भी इस व्रत का अस्तित्व देखा गया।

६. जैनाचार के व्रतों में अतिथि संविभाग व्रत का विशेष महत्व है। इसी व्रत के आधार पर श्रमण चर्या अवलंबित है। वैशाली में परम्परा से 'अतिथि देवो भव:' के अनुसार अतिथियों को देव तुल्य मान कर उनका सत्कार किया जाता है। अतिथियों का सम्मान करने वाली नारियाँ भी शिष्ट-शालीन होती हैं। गंगा नदी के उत्तर और दक्षिण भाग के जन मानस की विशेषता इस दृष्टि से सहज परिलक्षित होती है। वैशाली वासी अतिथियों को कुछ न कुछ खिला कर ही विदा करते हैं।

७. धर्म और धार्मिकता का आधार सत की स्वीकृति पवित्र भाव, पवित्र भावना त्याग और समर्पण है। यह गुण वैशाली वासियों में विद्यमान हैं। वे गुणग्राही हैं और सहज ईर्ष्या भाव से मुक्त हैं। अपने आराध्य को समर्पित हैं।

इसका एक प्रमाण है वहाँ के साधनहीन एवं साधारण गृहस्थ जीवन चलाने वाले क्षत्रिय परिवारों के महामना महानुभाव जिन्होंने अपनी दो बीघा अहिल्य भूमि 'भगवान महावीर' को दान में समर्पित करदी। इतना ही नहीं जब वैशाली में प्राकृत शोध संस्थान की स्थापना का प्रस्ताव आया, तब वहाँ के सामान्य निर्धन भू-स्वामियों ने अदम्य उत्साह के साथ बिना किसी प्रसिद्धि या प्रलोभन के अपनी प्राणप्यारी भूमि दान में समर्पित करदी। इन दान दाताओं में पासवान (हरिजन) मुसलमान आदि भी सम्मलित थे। ये दान कर्त्ता हैं – अभूचक ग्राम वासी सर्व श्री काली साह, जनक राय, महावीर राय, मूसाराय और याकूबमियाँ; फतेहपुर निवासी केशव नारायण सिंह, वासोकुण्ड निवासी सर्वश्री खेलावनसिंह, दहाउर पासवान, बिजलीसिंह, महावीर पासवान, महावीर सिंह, महेन्द्रसिंह और शांतिसिंह तथा इब्राहिमपुर निवासी श्री नथुनी सिंह। इनमें कोई भी धार्मिक नहीं था। सभी साधारण गृहस्थ थे किन्तु उनकी दानशीलता के समक्ष हमारा दान-अहंकार सहज ही गलित हो जाता है। सभी को नमन।

८. गृहस्थों के आत्म विकास के लिये महावीर ने ग्यारह श्रेणियाँ – प्रतिमाएँ निर्धारित कीं। इनमें सातवीं ब्रह्मचर्य और दशवीं अनुमति त्याग प्रतिमा है। वैशाली के लोक जीवन में उनका विशिष्ट स्थान है। प्रत्येक परिवार में वृद्ध पुरुष का विशेष सम्मान करते हैं। उसे परिवार से पृथक अकेले में रखकर उसकी सेवा करते हैं ताकि वह गृह-गृहस्थी के झंझटों से मुक्त रहे। यथा समय बिना मांगे भोजन-पानी, दवाई एवं सेवा आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वत: करते हैं। यह जैनाचार की १०वीं प्रतिमा के अनुरूप आचरण है। जहाँ वृद्ध पुरुष रहते हैं उसे बथान कहते हैं। यह परम्परा प्राय: प्रत्येक परिवार में होती है।

९. महावीर के सिद्धान्तों का आधार है अहिंसा-अपरिग्रह आत्म-साधना। अहिंसा में भी द्रव्य-अहिंसा के साथ भाव-अहिंसा का विशिष्ट महत्व है। किसी को भावात्मक रूप से पीड़ा न हो, इसका आधार सूत्र है – अविरोध, सहिष्णुता, सद्भाव और आत्मनिष्ठा। महावीर ने अपने जीवन में कभी किसी का विरोध, बहिष्कार, तिरष्कार नहीं किया। मात्र अपनी सत्स्वरूप की बात कहीं, उसी से जो उनके पास गया जो जैसा विद्यमान था, उसे कहा। किसी में फेरफार या परिवर्तन की बात नहीं कही। उन्होंने अपनी ओर से किसी को आमंत्रित नहीं किया। पूछे जाने पर महावीर ने सहज भाव से वस्तु स्वरूप का यथार्थ कथन किया। विरोध-बहिष्कार हिंसा सूचक है। उनके जीवनकाल में अनेक एक पक्षीय मत-मतांतर, कथित सर्वज्ञ-तीर्थंकर घोषित हुए, किन्तु उन्होने किसी को चुनौती नहीं दी। जो महावीर से द्वेष रखते थे; उन्हें भी समत्व भाव से देखा– सत्स्वरूप समझा इस भाव का प्रत्यक्ष में अनुभव होता है वैशाली वासियों में महावीर क्षत्रिय काश्यपगौत्री थे। विद्यमान क्षत्रिय काश्यपगौत्री अपने को महावीर का वंशज कहते हैं। महावीर ज्ञातृ-नाथ कुल के थे। विद्यमान जथरिया जाति के व्यक्ति अपने को महावीर को वंशज मानते हैं। अन्य जाति के उन्हें अपना आराध्य मानते हैं, वे जैन नहीं हैं। वे एक दूसरे की मान्यता से परिचित हैं किन्तु परस्पर किसी का विरोध या बहिष्कार नहीं करते। सब के प्रति सद्भाव-सहिष्णुता बनाऐ रखते हैं, क्योकि उनके अनुसार विरोध और असद्भाव भावहिंसा है जो महावीर के दर्शन के विपरीत है, असहज है। सब के व्यवसाय अलग हैं, परिस्थितियाँ अलग हैं किन्तु उनमें परस्पर अविरोध-भाव विद्यमान है। अहिंसा-भाव अहिंसा के सूत्र विद्यमान हैं। इसी कारण वैशाली में कभी धार्मिक उन्माद रूप संघर्ष विरोध नहीं हुआ। विभिन्न धर्मों के बीच या एक ही धर्म के विविध पक्षों के बीच द्वंद नहीं हुआ, बुद्ध वैशाली के विध्वंस के अप्रत्यक्ष निमित्त बने थे, जो उनकी कर्म भूमि थी। यह जानते हुए भी महावीर और बाद में वैशाली वासियों ने बौद्धों और बुद्ध का विरोध या बहिष्कार नहीं किया, किन्तु सहज रूप से बुद्ध को भुला दिया। बौद्ध स्तूप हैं किन्तु बौद्ध नहीं। महावीर का कोई मंदिर या जैन नहीं, किन्तु वैशाली के लोक जीवन में जन-मन में २६०० वर्ष बाद भी महावीर विद्यमान हैं और आगे अनेक सहस्रों वर्षों तक विद्यमान रहेंगे। यह है अहिंसा का जीवंत व्यवहारिक रूप। जैन कुल में अपने जैन कहने वालों से आग्रह विनम्र अनुरोध है कि वे अपनी ओर देखें और निर्णय करें कि कौन महावीर के दर्शन की यथार्थ भूमि पर खड़ा है। यह कैसा समाज जो मतधारा-विचारधारा, पूजा पद्यति की भिन्नता, साधुओं के व्यक्तित्व की निष्ठा एवं अन्य क्षुद्र कारणों से एक-दूसरों को अपमानित या बहिष्कार करता है और शांति की रक्षा हेतु राज्यशासन या पुलिस को हस्तक्षेप करना पड़ता हो। विग्रह एवं विद्रोह, पुरस्कार और तिरस्कार, पक्षपात, गुटबाजी, चालाकी भरी प्रवृत्तियाँ मानव जीवन की भीषण त्रासदी हैं जिसका महावीर से दूर का भी सम्बन्ध नहीं। महावीर की अहिंसा का प्रत्यक्ष अनुभव वैशाली के जन-जीवन में अनुभूत करना इष्ट है।

१०. जीवन का जो सूत्रधार प्रेरणा स्रोत होता है वह जीवन की हर श्वास को स्पंदित करता है। वैशाली ही क्या सम्पूर्ण विहार में चैत्र माह उल्लास पूर्वक मनाया जाता है, जिसमें चैतागीत गाये जाते हैं। चैत्र मास भगवान राम और महावीर का जन्म माह है। महावीर भी चैता में स्मरण किये जाते हैं। एक नमूना, वहाँ की वज्जिका लोकभाषा में।

कहवाँ खरौना,
बौना खम्भा अशोक बाटे काहे बाटे
वासो कुण्ड नगरिया हो रामा
इहवाँ खरौना,
बौना खम्भा अशोक बाटे, यहाँ बाटे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासो कुण्ड नगरियाँ हो रामा
इहवाँ भइले महावीर जनवाँ हो रामा।

११. बौना पोखर में दो फुट अवगाहना की गुप्त कालीन श्यामवर्णीय अतिशयकारी अति मनोज्ञ भगवान महावीर की प्रतिमा अन्य वैष्णव प्रतिमाओं के साथ प्राप्त हुई जिसे स्थानीय लोगों की भावनानुसार वहीं जैन मंदिर बना कर स्थापित करदी। इस मंदिर से ही प्रतिवर्ष महावीर की जन्म-जयंति की शोभा यात्रा अजैन बन्धुओं द्वारा प्रारम्भ कर वासो कुण्ड तक जाती है।

१२. देश के प्रतिष्ठा प्राप्त राजनेता, दार्शनिक, इतिहासज्ञ, विधिवेत्ता न्यायाधिपति, सरस्वति पुत्र और धर्माचार्य सभी ने धर्म-जाति का भेद भुला कर वैशाली वासोकुण्ड के महावीर को अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किये। इनमें प्रमुखतम हैं -- सर्वश्री देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी, डॉ.राधा कुमुद मुखर्जी, डॉ. कृष्णसिंह, डॉ. के.एम. मुशी, डॉ. कैलाश नाथ काटजू, डॉ.हीरालाल जैन, आर.आर. दिवाकर, डॉ. जाकिर हुसैन, डॉ. सम्पूर्णानन्द, पं. विनोदानन्द झा, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, मद्भूषि अनन्त शयनम् आयंगर, विजयेन्द्रसूरि, आचार्य तुलसी (दो बार), राजबहादुर, कृष्णवल्लभ सहाय, विद्या चरण शुक्ल, डॉ. कर्णसिंह, दरोगा प्रसाद राय, देवकान्त बरुआ, आर.डी. भण्डारे (दो बार), डॉ. प्रतापचन्द्र चन्द्र, न्यायमूर्ति भुवनेश्वर प्रसाद सिंह, न्यायमूर्ति कृष्ण वल्लभ नारायण सिंह, सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन, डॉ.सुविमल चन्द्र सरकार, डॉ. ए.आर. किदवई (५बार), डॉ. जगन्नाथ मिश्र, विन्देश्वरी दुवे (दो बार), डॉ. शंकर दयाल शर्मा, भागवत झा आजाद, राजीव गांधी, जगन्नाथ पहाडिया, लालू प्रसाद यादव,(कई बार), मोहम्मदशफी कुरैशी, फिल्म अभिनेता सुनीलदत्त, बैजयन्ती माला, जैनाचार्य भरत सागार जी, आनन्द सागर जी मौन प्रिय, डॉ. योगेद्र मिश्र, जे. सी. माथुर अन्य अनेकों केन्द्रीय-प्रांतीय मंत्रीगण अधिकारी आदि। अभी दि. १०/२।०४ को विद्यमान प्रधान मंत्री अटल विहारी वाजपेयीजी ने वैशाली रेलवे स्टेशन का शिलान्यास किया। महावीर की जन्म भूमि और भारतीय गणतंत्र की पुरोद्या वैशाली का आकर्षण सभी को वहाँ खींच लाती है। महावीर का सिद्धान्त अहिंसा अविरोध और हितों की रक्षा ही हमारी देश नीति का केन्द्र बिन्दु है।

१३. सर्व श्री नागेन्द्र सिंह , भूतपूर्व विधायक महावीर की वैज्ञानिकता और आदर्श के गीत लिखते हैं। श्री अमीर नाथ मिश्र मधुवन ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा महावीर को समर्पित की है। वे गीत लिखते हैं और जनता को प्रेरित करते हैं। ज्ञी अनिल कुमार सिंह वासोकुण्ड (महावीर वंशज) वर्द्धमान महावीर शिशु विद्यालय-स्वचालित में छात्रों को महावीर की शिक्षा देते हैं। बुद्धटोला के निवासी शाकाहारी एवं अस्तेय व्रत धारी हैं। विदेशी पर्यटक वासोकुण्ड स्थित महावीर जन्म-भूमि स्मारक पर जाकर अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं। वहाँ की रज सिर पर लगाते हैं और पीपल के पत्ते स्मृति स्वरूप ले जाते हैं। भगवान महावरी स्मारक का अनावरण देशरत्न बाबू डॉ. राजेन्द्र प्रसादजी ने दि.२३/४/१९५६ को किया था। अपने वैशाली अभिनन्दन ग्रंथ की भूमिका लिख कर उसको गौरवान्वित किया था। एक ब्राह्मण महानुभाव जैन गृहस्थाचार का अभ्यास कर रहे हैं। और भी अनेक विधाएँ हैं जिनकी सम्यक् खोज अपेक्षित है।

१४. अविरोध संयम धार्मिक-सहिष्णुता और सौहार्द वैशाली की विशिष्टता और शालीन संस्कृति है। बौद्ध स्तूप पर एक समाधि है जहाँ मजार पर हिन्दू मंदिर से चादर चढ़ती है। खुदाई में एक कब्रिस्तान मिला, जिसकी तीस डेसीमल भूमि महादेव मंदिर के निर्माण हेतु दान में दी गयी। सत् -- सत्य को प्रधानता दी जाती है।

१५. वासोकुण्ड-वैशाली के निवासी यह जानते हैं कि पटना-हाजीपुर के मध्य चार मील चौडा गंगा नदी का घाट पार करना कठिन और जोखिम भरा होने के कारण जैन धर्मावलम्बी पावापुरी से राजगृही आते-जाते समय नालंदा के निकट बड़गाँव में स्थित महावीर मंदिर को कुण्डलपुर प्रतीकात्मक मानकर वहीं से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासोकुण्ड-वैशाली को नमन कर लेते हैं। यद्यपि सर्वप्रमाणों ने एवं परम्परागत आस्था के प्रकाश में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग एवं सरकारों ने वासोकुण्ड को महावीर की जन्मभूमि घोषित किया है। गंगा पर बृहत् पुल बन जाने के बाद भी कोई जैनी वासोकुण्ड आता है या नहीं आता। इससे वहाँ के निवासियों को कोई शिकवा-शिकायत नहीं है। उन्हें कोई आकांक्षा भी नहीं है और इसीकारण उनकी आस्था – पवित्र भूमि यथावत बनी है और उन्हें प्रेरणा देती है।

सभी इच्छुक विद्वत्जन वैशाली कुण्डलपुर (वासोकुण्ड) महावीर के अमर निरंतरित प्रभाव को अनुभूत कर जीवन्त जैनत्व को समझें, इसी भावना से सब को सादर नमन। महावीर को जीवन अर्पण।

❐

महावीरमय – अहिंसामय हो जाना है –

जगत के जीवों के कल्याण के लिये
दया के देवता महावीर-प्रभु ने
अहिंसा, अपरिग्रह, अविरोधभाव,
समता, सहिष्णुता का उपदेश दिया।
हिंसा-अहिंसा क्या है? समझना जरूरी है
जीवन-मरण, सुख-दुख लाभ-अलाभ
कर्मोदयजन्य/ईश्वरकृत हैं।
कोई किसी का भला-बुरा नहीं कर सकता
सभी स्वतंत्र स्वाधीन, स्वरचित प्रभु हैं।
महावीर ने कहा – जगत जीवों से भरा है,
अहिंसक, पावन जीवन जीने के लिए
निरंतर जागरुक रहो,
सोने, उठने बैठने, बोलने आदि में
ताकि किसी जीव की हिंसा न हो
निरंतर जागरुकता से,
स्व-पर सभी निर्भय होते हैं।
मलिन विचार भाने की शृंखला अशुभ है
पावन विचार भावों की सत् शृंखला शुभ है
अशुभ-शुभ से संसार चक्र चलता है
यह विभाव-विकृति ही हिंसा है
स्वभाव-स्वीकृति अहिंसा है, सिद्धि है।
शुभ-अशुभ के परे, पराश्रय-परिग्रह के परे
अपने को जानने-जानने मात्र को भावना/क्रिया
निज शुद्ध ज्ञायक परमात्मा का
अपने से अभिनंदन है, वंदन है
मनोविकारों से मुक्ति है, आत्मसिद्धि है।
निज ज्ञायक आत्मा के आश्रय से
वीतरागी देव-शास्त्र-गुरू की प्रेरणा से
मोह-राग-द्वेष रहित आत्मा
सिद्ध-परमात्मा बनता है
विशुद्ध अहिंसक बनता है।
आत्मा के मोह-राग-द्वेष भाव ही हिंसा हैं
असावधानी, अयत्नाचार क्रिया हिंसा है
जो इनसे बचकर,आत्मानुभूति करता है
वह विशुद्धात्मा बन, परमात्मा बनता है।
मन-वचन-काय के माध्यम से हिंसा होती है
इसके मूल स्रोत हैं–
अज्ञान, अनैतिकता, असदाचार, आहार, अध:कर्म,
असावधानी पूर्वक त्रियोग की क्रिया।
जिन्हें हिंसा से वचना है और
आत्मा का अभिनंदन करना है, उन्हें
प्रथम स्तर पर ज्ञानी, नैतिक, सदाचारी होना होगा
शुद्ध-सात्विक आहार करना होगा।
संयम, समता, धरना होगा।
महावीर ने, जो मंगल सूत्र दिये,
उन्हें भाव बोध सहित जीवन का अंग बनाकर
महावीर मय, अहिंसामय हो जाना है।

❐ बी, ३६९, ओ.पी.एम., अमलाई-४८४-११७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐतिहासिक अतिशय क्षेत्र घोघा

❐ महेन्द्र कुमार जैन पाटनी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र घोघा गुजरात राज्य के भावनगर शहर से २० किलोमीटर दूर स्थित है। भावनगर से हर एक घंटे में घोघा के लिए बसें मिलती हैं। घोघा खंम्भात की खाड़ी के तट पर बसा है। प्राचीन काल में घोघा बहुत बड़ा व्यापारिक नगर था तथा बंदरगाह था। यहाँ पर बड़े-बड़े व्यापारी विशेष रूप से जैन व्यापारी रहते थे, जो सुदूर पूरब देशों को माल का निर्यात करते थे। तथा वहाँ से इस बंदरगाह में ही वहाँ की वस्तुओं का आयात करते थे। घोघा से शत्रुञ्जय तीर्थ ६० किलोमीटर है तथा गिरनार २१० किलोमीटर है।

करीब २०० वर्ष पूर्व यहाँ लगभग १२०० जैन परिवार निवास करते थे, परन्तु प्लेग की बीमारी फैलने से सभी परिवार नष्ट हो गये। आज घोघा में एक भी जैन परिवार निवास नहीं करता है। सिर्फ मंदिर के प्रबन्ध में लगे कर्मचारी का परिवार ही निवास करता है।

एक पौराणिक आख्यान है कि राजा श्रीपाल कोटिभट ६ माह तक समुद्र में डूबते-तैरते हुए घोघा नगरी के तट पर पहुँचे। वहाँ के जैन मंदिरों के विशेष रूप से सहस्रकूट चैत्यालय के कपाट बंद थे। कोई भी इसे खोलकर दर्शन नहीं कर सकता था। श्रीपाल कोटिभट ने जैसे ही इसमें पैर का अंगूठा लगाया, वे सहस्रकूट चैत्यालय के वज्र कपाट खुल गये तथा सभी को सहस्रकूट चैत्यालय व जिन मंदिर के दर्शन करने का सौभाग्य मिला।

वर्तमान में घोघा में तीन दिगम्बर जैन मंदिर हैं, जिनके नाम हैं – दांडिया देरासर, गुजराती देरासर व चौपड़ा देरासर। इन मंदिर के पास तीन श्वेताम्बर मंदिर भी हैं। श्वेताम्बर मंदिरों की मूर्तियाँ दिगम्बर जैन मंदिरों में स्थापित जैन प्रतिमाओं से प्राचीन हैं। दिगम्बर जैन धर्मशाला में २ अच्छे कमरे बने हैं, शौच व स्नानागार भी अच्छे बने हुए हैं। पानी व विद्युत सुविधा है। मंदिर प्रबन्ध में लगे कर्मचारी भी प्रांगण में ही रहते हैं। श्वेताम्बर समाज की नियमित भोजनशाला सुचारू चलती है।

क्षेत्र का प्रबन्ध भावनगर दिगम्बर जैन समाज द्वारा किया जाता है। भावनगर दिगम्बर जैन समाज ने मंदिरों का जीर्णोद्धार/नवीनीकरण करवाया है तथा धर्मशाला का निर्माण करवाया है।

यहाँ के अतिशयों की इस प्रदेश में विशेष चर्चा सुनी जाती है। कहते हैं कि कभी-कभी रात्रि में मंदिर से घंटों की आवाज सुनाई पड़ती है।

प्राचीन समय में घोघा बहुत ही समृद्धिशाली नगर था। जब तक गुजरात की राजसत्ता चालुक्य वंशी भीमदेव द्वितीय, त्रिभुवपाल और बघेल वंश के हाथ में रही, यहाँ का वैभव बढ़ता रहा। ये सभी राजा प्राय: जैन धर्मानुयायी थे। जब गुजरात की राज्यसत्ता मुसलमान शासकों के हाथ में आई, घोघा का व्यापार समाप्त हो गया, वैभव समाप्त हो गया। उस समय जैन व्यापारी भी अन्य स्थलों पर चले गए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्र दर्शन – नगर के मध्य में जो जिनालय है, उसमें प्रवेश करते ही धातु के पंच सहस्रकूट चैत्यालय के दर्शन होते हैं। इसकी ऊँचाई साढ़े तीन फुट है। चौड़ाई एक फुट सवा इंच है। यह सहस्रकूट चैत्यालय १५४१ का प्रतिष्ठित है। इस मंदिर में १००८ श्री अजितनाथ भगवान और १००८ चन्द्रप्रभु भगवान की पाषाण प्रतिमाएँ चौथे काल बताई जाती हैं। मंदिर के कम्पाउंड में भगवान आदिनाथ की श्वेत पाषाण की पद्मासन प्रतिमा है। इसके समवशरण में एक स्फटिक की मूर्ति तथा ३० धातु की प्रतिमाएँ हैं।

दांडिया देरासर में मूलनायक भगवान आदिनाथ की १५३७ में प्रतिष्ठित मूर्ति है। यहाँ पर भट्टारकजी की गद्दी भी है। भगवान आदिनाथ की यह मूर्ति अत्यन्त अतिशय सम्पन्न है।

चौपड़ा देरासर में मूलनायक श्री १००८ चंद्रप्रभुजी की भव्य पद्मासन पाषाण प्रतिमा चतुर्थ कालीन बताई जाती है। इसके अलावा इसमें भगवान शान्तिनाथ की सफेद पाषाण की १४९२ में प्रतिष्ठित प्रतिमा भी है। १००८ भगवान नेमिनाथ की श्याम पाषाण की १४४३ में प्रतिष्ठित प्रतिमा भी विराजमान है। यह प्रतिमा भी बहुत ही भव्य व आकर्षक है।

प्राचीन समय में इन प्रतिमाजी पर भक्त जन बरतन भर-भर के दूध चढ़ाते थे। कहा जाता है कि इन पर आस्था रखने से मनुष्य के सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

घोघा के मंदिरों में जिन प्रतिमा की पीठासन पर प्रतिष्ठा काल अंकित नहीं है, इन्हें चतुर्थ काल की प्रतिमा मानते हैं। सम्भवत: ऐसी प्रतिमाएँ ११-१२वीं शताब्दी की हो सकती हैं।

यहाँ भी पाषाण मूर्तियों के ऊपर समुद्र की क्षारयुक्त वायु का दुष्प्रभाव पड़ा है। मूर्तियों पर धब्बे पड़ गये हैं। तथा पाषाण के पालिश की चमक भी धुंधली पड़ गयी है।

घोघा हमारा प्राचीन क्षेत्र है। गुजरात की यात्रा करने वालों को घोघा की यात्रा अवश्य करनी चाहिए। डाक बंगलों से समुद्र के दृश्य का भी अवलोकन करना चाहिए। तथा वहाँ आधारभूत सुविधाएँ उपलब्ध करवाने के लिए यथोचित दान भी देना चाहिए।

घोघा का पता इसप्रकार है –

– श्री दिगम्बर जैन मंदिर हुम्मड़ डेला घोघा
पोस्ट-घोघा-३६४११०
जिला भावनगर (गुज.)
फोन नं. ०२७८-२८२३५२

☐ D-127, सावित्री पथ, बापूनगर, जयपुर

नमि जिन-प्रतिमा जिन-भवन, जिन-मारग उरु आनि।
पंच परम पद पद प्रणमि प्रणमि जिनेश्वर वाणि॥
जिन-प्रतिमा अरु जिन-भवन, कारण सम्यक् ज्ञान।
कृत्रिम और अकृत्रिम तिनहिं नमूं धरि ध्यान॥
वृषभ आदि अति वीर सों, चौबीसों जिनराय।
विघन हरण मंगल करण, वन्दूं शीश नवाय॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन संस्कृति संरक्षण एवं संवर्द्धन

पाण्डुलिपि/प्राचीन मूर्तियां/ शिलालेख/ चित्रकला

❒ सुरेश चन्द्र जैन बारौलिया

संस्कृति मानव के भूत-वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगींण विकास है। यह मानव जीवन की एक प्रेरक शक्ति है। जीवन की प्राण वायु है जो चैतन्य भाव को साक्षी प्रदान करती है। राष्ट्र का लोक हितकारी तत्त्व संस्कृति है। संस्कृति का अर्थ संस्कार सम्पन्न जीवन है। यह जीवन जीने की कला पद्धति है। विश्व की प्रचीनतम संस्कृतियों में जैन संस्कृति का अपना विशेष महत्व रहा है। इसके उदात्त सिद्धान्तों में प्रायोगिकता व्यावहारिकता और व्यापकता के सनातन तत्त्व सतत विद्यमान हैं। अपने विराट स्वरूप में अद्वितीय और अप्रितम रही है। भारतीय धर्म और संस्कृति की मौलिक विशेषताओं में जैन धर्म का अवदान सर्वाधिक रहा है। यही भारत का प्राचीनतम धर्म है।

जैन कला साहित्य एवं संस्कृति को सुरक्षित रखने व इसकी निरन्तरता को बनाये रखने में जैन तीर्थक्षेत्रों मन्दिरों साधु-साध्वियों विद्वानों, गुरुकुल शिक्षण संस्थाओं तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्तर पर किये गये प्रयत्नों तथा स्वाध्याय, प्रवचन, शास्त्र भण्डारों आदि की अहम् भूमिका रही है, किन्तु इन प्रयत्नों के बाद भी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व की बहुत सी अमूल्य सामग्री की उचित संरक्षण व देखरेख के अभाव में यत्र-तत्र विखरी हुई है। हमारी महत्वपूर्ण मूर्तियां दुर्लभग्रन्थ व कलात्मक सामग्री उचित एवं वैज्ञानिक रीति के संरक्षण के अभाव में या तो नष्ट हो रही हैं अथवा क्षीण हो रही हैं ऐसे समय में हमारा कर्तव्य है कि हमारी कला व संस्कृति की इस अमूल्य धरोहर व विरासत को सुरक्षित संरक्षित कर भावी पीड़ियों को हस्तान्तरित करना ही अपना परम कर्तव्य है। धार्मिक प्रभावना एवं जीवन के विकास का निर्माण करने हेतु समाज का विश्वास प्राप्त कर जैन आचार्यों ने सबसे बड़ा कार्य साहित्य के निर्माण में तथा उनके धर्मानुयायिओं ने उसके प्रचार-प्रसार में प्राचीनकाल से ही सक्रिय योगदान किया है और आज भी कर रहे हैं। उन्होंने सहस्रों ग्रन्थ, ताडपत्र, भोजपत्र, कपड़े एवं कागज पर लिखकर भारतीय ज्ञान की परम्परा को सुरक्षित रखा है। आज भी अनेकों मन्दिरों में वृहद ग्रंथगार सुरक्षित है। उससे जैन धर्म की तथा उसके अनुयायिओं की कला की अभिलाषा एवं अनेकों ज्ञानानुराग का परिचय मिलता है। वर्तमान में उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों एवं अन्य विवरणों से यह स्पष्ट है कि जैन आचार्य एवं विद्वानों के द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या प्रचुर मात्रा में है। इनकी विशालता का आभास इससे सहज हो जाता है कि जैन आचार्यों द्वारा प्रामाणिक ग्रन्थ जो प्रकाश में आये हैं उनमें उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों के सन्दर्भ या उदाहरण प्रचुरता से मिलते हैं। जिन ग्रन्थों के सन्दर्भ मिलते हैं उनमें से अधिकांश अप्रकाशित दुर्लभ या अप्राप्त हैं। अनेकों हस्तलिखित ग्रन्थ पाण्डुलिपियाँ आज सुलभ नहीं हैं। अथवा उनके अनुवाद प्रकाशन की व्यवस्था नहीं हुई है। हमारी अज्ञानता, अदूरदर्शिता, उदासीनता के कारण अपनी अमूल्य धरोहर काल के गाल में समा चुकी है।

भगवान महावीर स्वामी एवं गौतम गणधर द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त भाव-श्रुतज्ञान का आलम्बन बना कर हमारे आचार्यों मनीषियों ने केवल आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक शास्त्रों की रचना अनेकों विषयों पर करके जैन दर्शन को विश्व दर्शन का गौरव दिलाया था। सोने के चिड़िया के नाम से प्रसिद्ध इस पवित्र भारत भूमि पर समय-समय पर अनेकों विदेशी यात्री आये और हमारी पाण्डुलिपियों को सात समुद्र पार विदेश ले गये। हमारी सुरक्षा, संरक्षण के अभाव में कितने ले गये उसकी गणना तो नहीं की जा सकती है फिर भी विभिन्न खोजों के आधार पर एकत्रित सामग्री प्राप्त की है, उस आधार पर विक्रम सम्वत की पांचवी सदी में चीनी यात्री फाहयान भारत आया, वह १५२० ताडपत्र पर लिखित पाण्डुलिपियों को ले गया। विक्रम सम्वत् की सातवीं में चीनी यात्री हुएनसांग प्रथम बार १५५० ग्रन्थ तथा दूसरी बार २१७५ ग्रन्थ अपने साथ ले गया। इसके बाद सन् ४६४ में २५५० ताडपत्र पाण्डुलिपियों को ले गया। जर्मनी में ५००० पुस्तकालय हैं, वर्लिन के केवल एक ही पुस्तकालय में १२००० हस्तलिखित ग्रन्थों की गणना में अधिकांश जैनग्रन्थ हैं, अमेरिका वांशिगटन के एक ही पुस्तकालय में २० हजार ग्रन्थ हैं उनमें से अधिकांश जैन ग्रन्थ हैं। लन्दन शहर के एक ही पुस्तकालय में २० हजार हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। फ्रांस में पेरिस स्थित विब्लियोथिक नामक पुस्तकालय में १२ हजार ग्रन्थ प्राकृत, संस्कृत भाषा के जैन ग्रन्थ हैं। रूस के एक राष्ट्रीय पुस्तकालय में १२ हजार भारत से गये हुये हैं। इटली में ६००० ग्रन्थ प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के भारत से गये हुये हैं। आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी का पंचास्तिकाय ग्रन्थ का फारसी अनुवाद हुआ था वह भी आज भारत में न होकर विदेशों में है। आचार्य शर्ववर्म प्रणीत कातंत्र व्याकरण का भाटे भाषा में अनुवाद एवं उसी पर २७ प्रकार की टीकाऐं लिखी हुई हैं उनका भूटान, तिव्वत, वर्मा लंका में आज कल अध्ययन होता है। आज गन्धहस्तिमाहभाष्य जैसे अनुपम अद्वितीय ग्रन्थ के अस्तित्त्व का यूरोप के किसी भण्डार में रहने का संकेत मिल रहा है। जिस ग्रन्थ को प्राप्त करने के लिये २ लाख का इनाम घोषित हुआ है। हमें विदेशों से शिक्षा लेनी चाहिये कि हमारी अमूल्य धरोहर को प्राचीन पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण कर उनके प्रकाशन की व्यवस्था करनी चाहिये। जैसा की विदेशों के लोग इसमें रुचि ले रहे हैं। हम जाग्रत होकर इन शास्त्र भण्डारों की अमूल्य निधि को प्रमाणिक अक्षम भण्डार के रूप में सुरक्षित करने के लिये सम्पूर्ण अपेक्षावृत्ति को छोड़ उनके संरक्षण करने का प्रयास करें। अन्यथा दीमक, चूहे, एवं मौसम का दुष्प्रभाव इन भण्डारों की ज्ञाननिधि को समाप्त कर देगा और हम मातृविहीन हो जायेंगे।

जिस प्रकार जैन पाण्डुलिपियों पर रोमांचकारी अत्याचार हुऐ हैं। वैसे ही जैन मन्दिरों, मूर्तियों, स्मारकों, स्तूपों पर खूब जुर्म ढाये गये हैं। बड़े-बड़े जैन तीर्थ मन्दिर, स्तूप और मूर्ति भंजकों ने धराशायी किये हैं। अफगानिस्तान, कश्मीर, सिन्धु, विलोचिस्तान, पंजाब, तक्षशिला तथा बंगलादेश आदि प्राचीन संस्कृति के बहुमूल्य क्षेत्रों में विनाश की लीलाऐं चलती रही हैं। प्रथम जैन मन्दिर का विध्वंश सन् १०३५ में वाराणसी में हुआ। जिसको श्री निभालितिगन ने लूटा। मोहम्मद गोरी के सेनापति कुतुबुद्धीन ऐवक ने सन् ११९४ में आक्रमण किया। मुसलमान इतिहासकार लिखते हैं कि बनारस में १००० मन्दिरों को नष्ट कर दिया गया एवं उसकी सम्पत्ति व बनारस की लूट का सामान १४०० ऊंटों पर लाद कर ले गये। इतिहासकार श्री कुवेरनाथ शुक्ल लिखते कि सन् १४९४ से १४९६ तक सिकन्दर लोदी पुनः मन्दिरों को वरवाद करता रहा। एक हस्तलिखित ग्रन्थ जिसका नाम सामायिक नित्य प्रतिक्रमण पाठ है उसका सन्दर्भ देकर बतलाया है कि १५६२ में भेलपुर में पार्श्वनाथ मन्दिर था वह मन्दिर १४९४ से १४९६ में नष्ट किया गया फिर १५६२ में उसे पुनः बनाया गया। अनेकों जैन मूर्तियों, मन्दिरों गुफाओं शिलालेखों आदि को बौद्धों का बना लिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया, जो कुछ बच पाया उसका जीर्णोद्धार करते समय हमने असावधानी अविवेक और अज्ञानता के कारण उनके शिला लेखों आदि को मिटा दिया। आज भी प्रतिमाओं के प्रक्षालन आदि करते समय वालाकूची से मूर्ति के लेख घिस जाने दिये गये हैं। अनेकों मूर्तियाँ अन्य धर्मियों के हाथ में चले जाने से अन्य देवी देवताओं के रूप में पूजे जाने से जैन इतिहास पुरातत्व एवं कला सामग्री की भारी क्षति पहुँची है। पुरातत्व-वेत्ताओं की अल्प अज्ञानता पक्षपात तथा उपेक्षा के कारण भी जैन पुरातत्व सामग्री को अन्य की मान कर जैन इतिहास के साथ खिलवाड़ किया गया हैं।

जैन संस्कृति व कला के क्षेत्र में महान योगदान है। विश्व प्रसिद्ध श्रमणवेलगोला में गोमटेश्वर तथा मूडबद्री में कारकल में बाहुवलि की विश्व की आश्चर्य-जनक मूर्तियां हैं। आबूपर्वत पर देलवाड़ा जैन मन्दिर में ११वीं शताब्दी के जैन मन्दिर भारतीय कला प्रतिभा शिल्पी की अंलकृत पाषाण आकृतियों में अपनी चरम पराकाष्ठा पर मिलती है। कला मर्मज्ञों की नजर में ताजमहल की समानता रखता है। बड़वानी नगर के पास चूलगिरी में ८४ फीट ऊंची जैन तीर्थंकर आदिनाथ की विशालकाय प्रतिमा आज भी विद्यमान है। पालीताना में २८०० जैन मन्दिर पर्वत पर शोभायमान हैं। ग्वालियर के गोपाचल पर्वत पर चट्टानों में जैन मूर्तियों के नमूने हैं वे १५वीं सदी के हैं। उड़ीसा की हाथी गुफा कन्दरा आदि मिलते हैं। मथुरा में पाये जाने वाले जैन स्तूप सबसे पुराने हैं। प्राचीन काल में भी मन्दिरों की सुरक्षा की जाती रही है। जैन साहित्य मूर्तियों की सुरक्षा और संरक्षण के प्रमुख उदाहरण हैं कि सगर चक्रवर्ती के ६० हजार पुत्रों ने भरत चक्रवर्ती द्वारा बनाये हुये ७२ जिनालयों की मन्दिरों की रक्षा के लिये भारी उद्योग किया था और उनके चारों ओर खाई खोद कर भागीरथी के जल से उसे पूर्ण कर दिया था। ताकि वह सुरक्षित रह सकें। लंकाधिपति रावण भी इन मन्दिरों के दर्शन के लिये कई बार आया था।

हमारे प्राचीन तीर्थों मन्दिर-मूर्तियों के प्रति संहारात्मक अपराध किये जा रहे हैं, हमारे इतिहास व प्राचीन परम्परा को विध्वसित किया जा रहा है। इससे अनेकों प्रश्न खड़े हैं। जैनत्व की सुरक्षा का प्रश्न भी खड़ा है। प्राचीन तीर्थ या मन्दिर नहीं हों तो हम प्राचीन नहीं कहला सकते। प्राचीन तीर्थ मन्दिर जैनत्व को प्रगट करते हैं। इनसे हमारी सुरक्षा है, जैनत्व की सुरक्षा है प्राचीन तीर्थ का नाश हमारे प्राचीन इतिहास को नष्ट कर देगा और भविष्य में भी करता रहेगा। यह आज चिन्ता का विषय है हमें उनकी सुरक्षा, संरक्षण कैसे हो जाये, विचार करना होगा तभी हमारा अस्तित्व बना रहेगा।

आज हमारे अनेकों संत, आचार्य संगोष्ठियों, साहित्यक एवं शैक्षिणिक स्तर पर महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। इनमें भाग लेने वाले विद्वान आपस में सम्पर्क कर पुरानी जिज्ञासाओं को संतुष्ट तथा नई जिज्ञासाओं को जन्म देते हैं। ये संगोष्ठियां संस्कृति के संरक्षण एवं उनके विकास में स्थायी महत्व के कार्य करती हैं। सामान्य श्रावक को इसका तत्काल कोई फल नजर नही आता है, लेकिन उनको ज्ञात होना चाहिये कि जैन संस्कृति का इतिहास और महत्व ऐसे ही परोक्ष प्रयासों से प्रकाशित होता रहा है और संस्कृति के संरक्षण में सहभागी बनता रहा है। ❐

– सुरेश चन्द जैन बारौलिया
बी– ६७७, कमला नगर, आगरा (उ.प्र.)

तृणं लघु तृणात्तूलं, तूलादपि च याचकः।
वायुना किंन नीतोऽसौ, मामयं याचयिष्यति॥

तृण सब से हलका होता है, तृण से रूई हलकी होती है, रूई से भी हलका मांगने वाला होता है; फिर भी उसे हवा क्यों नहीं उड़ा ले जाती, इसलिये कि शायद वह मुझसे भी कुछ मांगे। **– नीति शतक**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जयपुर के जैन दीवान

❑ पण्डित भंवरलाल न्यायतीर्थ

जयपुर निर्माण से पूर्व जयपुर राजवंश के पूर्वजों का इस ढूंढाड़ प्रान्त में एक हजार वर्ष से दौरदौरा रहा है। विक्रम की १०-११वीं शती से यह कछवाहा वंश मध्यप्रदेश से आकर राजस्थान में बसा है और विभिन्न स्थानों पर इन्होंने अपनी राजधानियाँ बनाई हैं। तभी से जैनों का इनके साथ विशेष सम्पर्क रहा है। नरवर (ग्वालियर) से आकर इस वंश ने सर्वप्रथम दौसा में जो उस समय धवलगिरि के नाम से विख्यात था – अपनी राजधानी बनाई। दौसा के बाद खोह रेबारियान जो शान्तिनाथजी की खोह के नाम से प्रसिद्ध है वहाँ राजधानी बनी। इसके बाद रामगढ़ पर अधिकार हुआ और फिर आमेर में। यह सब स्थान परिवर्तन ११-१२वीं शताब्दी में हो गया। तत्पश्चात् विक्रम संवत् १७८४ में जयपुर बसाया गया। इस सुन्दर नगर को बसाने वाले अद्भुत प्रतिभाशाली महाराजा सवाई जयसिंह थे जिनका शासन काल वि. सं. १७५६ से १८०० तक था। वे जैनों के काफी सम्पर्क में थे। कर्नल टाड ने अपने ग्रन्थ में लिखा है – जैनियों को ज्ञान-शिक्षा में श्रेष्ठ जानकर जयसिंहजी उन पर अत्यन्त अनुग्रह रखते थे। ऐसा भी प्रकट होता है कि उन्होंने जैनियों के इतिहास और धर्म के संबंध में स्वयं शिक्षा प्राप्त की थी। (पृष्ठ-६०१)

उक्त राजवंश जब नरवर से इधर आया, तब कई जैन घराने साथ आये प्रतीत होते हैं। पहले भी इस प्रान्त में जैन काफी थे व्यापार बढ़ा हुआ था। महाराजा सोढदेव सं. १०२३ में दौसा में राज्य गद्दी पर बैठे – उस समय निरभैराम छाबड़ा नामक जैन दीवान थे – ऐसा उनके वंशजों से ज्ञात हुआ है। इनके बाद इस वंश में कई जैन दीवान हुए हैं।

११वीं शती से लेकर शताधिक जैन दीवान हुए हैं, पर उनका कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। लेखक को अब तक करीब ५५ जैन दीवानों की जानकारी मिली है, पर वे सब १६वीं शताब्दी के बाद के हैं। पहले की खोज अपेक्षित है। यहाँ प्रमुख जैन दीवानों का परिचय दिया जा रहा है।

रामचन्द्र छाबड़ा – इनका दीवान काल वि. सं. १७४७ से १७७६ तक था। इनके पिता और दादा भी दीवान रह चुके थे। इन्होंने राज्य की महत्वपूर्ण सेवायें की थी। अन्तिम मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उनके लड़कों में राज्यगद्दी के लिए लड़ाई हुई। विजयी के विपक्ष में रहने के कारण तथा अन्य कारणों से आमेर पति जयसिंह से बहादुरशाह ने नाराज होकर सं. १७६४ में आमेर पर अपना प्रबन्धक नियुक्त कर दिया और जयसिंह को आमेर छोड़ उदयपुर चला जाना पड़ा। उनके साथ दीवान रामचन्द्र आदि भी थे। दीवान रामचन्द्र राज्य खोकर कैसे बैठते ? कुछ फौजें एकत्र कीं, कुछ और उपाय किये और स्वयं आमेर के प्रबन्धकों पर टूट पड़े और उन्हें मार भगाया। दीवानजी वीर थे और स्वाभिमानी भी। विभिन्न इतिहासकारों ने फौज आदि के संबंध में विभिन्न रूप से वर्णन करते हुए रामचन्द्र के नेतृत्व को स्वीकार किया है और मुगलों से आमेर खाली कराने का श्रेय इन्हें ही दिया है। मुगल दरबार में इससे रामचन्द्र के प्रति नाराजगी स्वाभाविक थी। शाहजादा जहाँ दाराशाह ने १७ जुलाई, सन्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७०९ के अपने पत्र में उदयपुर वालों को लिखा था कि जयसिंह के नौकर रामचन्द्र दीवान ने नालायक और बेहूदा कार्यवाही की -- बादशाही नौकरों से लड़ाई की। अत: जयसिंह उसे निकाल दें। इससे दीवान रामचन्द्र का आमेर पर कब्जा करना स्पष्ट है।

दीवान रामचन्द्र जयसिंह के अधिक प्रिय थे। उस समय और भी दीवान थे, पर प्रमुख रामचन्द्र ही थे।

दीवान रामचन्द्र के दादा बल्लूशाह थे। मुगल बादशाह औरंगजेब के समय में छत्रपति शिवाजी के पास महाराजा रामसिंह की तरफ से बल्लूशाहजी से सुलह की बातचीत की थी और शिवाजी को कैद कर लेने पर उन्हें छुड़ाकर लाने में पूरा सहयोग दिया था। यह संवत् १७२३ की घटना है।

बल्लूशाह के पुत्र एवं रामचन्द्र के पिता विमलदास भी दीवान थे, जो जाटों के साथ युद्ध में काम आये थे। लालसोट के पास इनकी छत्री बनी थी। ये वीर योद्धा थे। रामगढ़ में विमलपुरा नामक मोहल्ला इन्हीं के नाम से बसा था। इनकी हवेली वहाँ थी।

दीवान रामचन्द्र धार्मिक व्यक्ति थे। आमेर और रामगढ़ के बीच साहीवाड ग्राम में आपने संवत् १७४७ में एक मंदिर बनवाया था, जो आज मौजूद है। जब रामचन्द्रजी राजा जयसिंह के साथ उज्जैन में रहते थे, तो वहाँ भी एक मंदिर बनवाया और जब दिल्ली में रहते थे, तो वहाँ भी मंदिर बनवाया। संवत् १७७० में भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति के पट्ट महोत्सव में आप अगुआ थे। इनका जीवन धार्मिक था। राज्य सेवा के विशेष अवसरों पर इन्हें राज्य से इनामें, जागीर आदि मिले हैं। सांभर पर जयपुर-जोधपुर में तनाजा होने पर आपने ही आधा-आधा हिस्सा का बटवारा कर झगड़ा मिटाया था। फलत: आपको सालाना नमक मिलने का पट्टा भी दिया गया था।

दीवान किशनचन्द – ये रामचन्द्र के पुत्र थे। राज्य सेवा में विशिष्ट कार्य करने से सं. १७६७ में इन्हें ९०० बीघा जमीन मिली। जयपुर की ओर से बसवा और बाद में टोंक के प्रबन्धक रहे। सं. १८१४ में इन्हें और जागीरें मिलीं और सं. १८१५ में इनका स्वर्गवास हो गया।

दीवान भीमसिंह – ये किशनचन्दजी के लड़के थे। सं. १८५५ से सं. १८५९ तक प्रधान दीवान रहे। वैसे सं. १८१६ से सं. १८६७ तक इनका राज्य सेवा काल था। सं. १८६७ में इनका स्वर्गवास हुआ। इस प्रकार इस वंश ने पाँच-छह पीढ़ी तक उच्च पद पर रहकर राज्य की सेवा की।

महामंत्री मोहनदास – ये मिर्जा राजा जयसिंह के महामंत्री थे। मिर्जा राजा का राज्यकाल सं. १६७८ से सं. १७२४ तक का था। मोहनदास के पूर्वज एवं वंशज में अनेक व्यक्ति दीवान हुए हैं। बड़जात्या गोत्रीय मोहनदास संघी कहलाते थे। इनके पूर्वजों में संघी उदा का नाम सर्वप्रथम मिलता है। 'करकंडु चरित' की प्रशस्ति में इनका नाम आया है। इनके पौत्र डालू ने सं. १६६३ में व्रत के उद्यापन में यह ग्रन्थ भेंट किया था। उदा के पुत्र मल्लिदास के लिए 'संघभार' धुरन्धर 'संघही' शब्दों का प्रयोग शिलालेखों में हुआ है। इनके नाम कहीं मालीजै भौंसा, कहीं मल्लिदास, कहीं मालू और कहीं श्रीमाला मिलते हैं। ये बड़े प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। इन्हीं के नाम से इनका वंशज आज भी मालावत कहलाता है।

मल्लिदास के लड़के डालू थे, जो राज्य में दीवान थे। ये बड़े ईमानदार और स्वाभाविक थे। किसी के बहकावे में आकर राजा नाराज हो गये और इन पर जुर्माना कर दिया। डालू के भाई खेतसी थे और उनके लड़के मोहनदास। इनका जन्म सं. १६४५-५० के बीच होना संभव है। सं. १६६३ में इनका विवाह हुआ। ये बड़े विचक्षण थे। इनका राज्य सेवा काल मिर्जा राजा जयसिंह के राज्यकाल के प्रारंभ से ही था और सं. १७१६ के बाद तक रहा। सं. १७१४ में इन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आमेर में तीन शिखर का विशाल मंदिर बनवाना प्रारंभ किया और सं. १७१६ में उसकी प्रतिष्ठा हुई। इसका शिलालेख म्यूजियम में मौजूद है। ये बड़े धर्मात्मा, कुशल राजनीतिज्ञ और सफल प्रशासक थे।

दीवान कल्याणदास – ये मोहनदास के लड़के थे। औरंगजेब द्वारा शिवाजी की पकड़, कैद और छद्मवेश में निकलने आदि की सारी प्रतिदिन की घटनायें दीवान परकालदास आगरा से इन्हें आमेर में लिख भेजते थे।

दीवान अजीतदास – ये मोहनदास के तृतीय पुत्र थे। ये सं. १७७० में आयोजित भट्टारक देवेन्द्र कीर्ति के पट्टोत्सव में सम्मिलित हुए थे। जयपुर बसने के साथ ये जयपुर में आ गये और सं. १७८८ में विशाल मंदिर बनवाया।

दीवान संघी हुकमचन्द – उक्त वंश में चार पीढ़ी बाद संघी हुकमचन्द और संघी झूँथाराम का नाम मिलता है, जो प्रख्यात व्यक्ति थे। संघी हुकमचन्द फौज के इंचार्ज थे और सं. १८८१ से सं. १८९२ तक इनका राज्य सेवा काल माना जाता है। इनको राव बहादुर का खिताब था। ये बड़े बहादुर और वीर थे। जयपुर राजा के नाबालगी में ये संरक्षक भी थे। इन्होंने एक मन्दिर बनवाया जो संघीजी की नसियाँ के नाम से जाना जाता है। इनके पुत्र बिरधीचन्द भी दीवान थे, जिनका सेवा काल सं. १८८८ के आसपास था।

संघी झूँथाराम – ये संघी हुकमचन्द के छोटे भाई और बड़े प्रतिभा संपन्न, मेधावी राजनीतिज्ञ और शासन की अद्भुत योग्यता वाले व्यक्ति थे। इनका जीवन राजनैतिक उथल-पुथल में ही बीता। ये कठोर और ईमानदार शासक थे। इनके मंत्रित्व काल में कोई चोरी नहीं होती थी। गिरी हुई कोई भी चीज या तो स्वयं मालिक लेता या पुलिस। ये अपराधों पर कड़ी सजायें देते थे।

अंग्रेजों के साथ जयपुर की संधि सन् १८१७ में हुई, जिसके अनुसार वार्षिक खिराज (टैक्स) देना तय हुआ। उस समय मुसाहिब रावल बैरीसालसिंह थे। संघीजी को यह गुलामी पसंद नहीं थी। अंग्रेज तीन बार पहले भी प्रयत्न कर चुके थे, पर सफलता न मिली। अब की रावलजी को पक्ष में लेकर यह संधि हुई, जिससे रावलजी से भी कई लोग नाराज रहने लगे। राजा जगतसिंह के युद्ध में रत रहने, शराबी और भोग-विलासी होने तथा अंग्रेजों के टैक्स आदि के कारण खजाना खाली हो गया और सन् १८१८ में राजा का अपुत्र अवस्था में स्वर्गवास हो गया। फलत: और लोग अपना हक जमाने लगे। पर भटियानी रानी गर्भवती थी। सन् १८१९ में जयसिंह तृतीय का जन्म हुआ और राजमाता राज्य कार्य देखने लगी। वह स्वतंत्रता प्रेमी थी। अंग्रेजों का दखल उसे पसंद नहीं था। संघी भी इसी प्रकृति के थे। आर्थिक स्थिति को दृढ़ करने हेतु संघीजी को राजस्व मंत्री बनाया गया पर मुसाहिब रावलजी के साथ इनकी नहीं बनी। वे अंग्रेजों के हिमायती थे और ये अंग्रेजों के विरोधी। फलत: दोनों में अनबन बढ़ती गई और राजनैतिक पार्टियाँ बन गई। राजमाता ने रावलजी को बहुत समझाया, पर उन्हें अंग्रेजों का बल था। संघीजी के विरुद्ध अंग्रेजों को भड़काया गया। राजनैतिक संघर्ष में कभी कोई शक्तिशाली बनता और कभी कौन। संघी मुख्यमंत्री बना। उसने शेखावटी के झगड़े निपटाने का प्रयत्न किया, राजस्व बढ़ाया और जनता में अमन किया। पर ज्यों ही राजमाता मरी और संयोगवश जयसिंह तृतीय भी १७ वर्ष की अवस्था में काल कवलित हो गये। संघीजी के विरोधियों को मौका मिला और इन्हें बदनाम किया गया राजा का हत्यारा बताया। पर जयसिंहजी की रानी चन्द्रावतजी ने इसे झूठा इल्जाम माना और संघी को ईमानदार और योग्य व्यक्ति पाया। संघी ने त्यागपत्र दिया पर स्वीकार नहीं किया। चन्द्रावत भी स्वतंत्रता प्रेमी थी। पर अंग्रेजों के कुचक्र चलते रहे और वे कूटनीति से ताकत में आते रहे। अंग्रेजों के जमाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में आजादी के दीवानों की जो स्थिति सारे देश में हुई, वही संघी और उनके साथियों की भी हुई। राजा की हत्या का अपराध लगाया पर उसमें विरोधियों को सफलता नहीं मिली। राज्य विद्रोह के षड्यन्त्र का अपराध जो देश प्रेमियों के लिए लगाया जाता था उसी के तहत सं. १८९२ में इन्हें किले के अन्दर कैद किया गया। वहीं लगभग सं. १८९५ में चुनारगढ़ किले में उनका स्वर्गवास हो गया।

इसप्रकार अंग्रेजों और उसके पक्षपातियों का एक कांटा निकल गया। कई इतिहासकारों ने संघी को बदनाम किया है, पर वे इतिहासकार अंग्रेजों से या विरोधियों से प्रभावित थे। निष्पक्ष इतिहासकार संघी को ईमानदार ही पायेंगे।

दीवान श्योजीराम एवं अमरचन्द – जयपुर के इतिहास में दीवान अमरचन्द बड़े प्रख्यात हो गये हैं। देश और जनता की सेवा में हँसते-हँसते प्राणों की बलि देने वाले इस अमर शहीद का नाम सदा याद रहेगा। इनके पिता श्योजीराम भी दीवान थे। तीन राजाओं महाराजा पृथ्वीसिंह (सं. १८२४ से १८३५), प्रतापसिंह (सं. १८३५ से १८६०) और जगतसिंह (सं. १८६० से १८७५) के शासन काल में सं. १८३४ से १८६७ तक श्योजीरामजी के दीवान होने का उल्लेख मिलता है। ये बड़े धर्मात्मा और वीर पुरुष थे। मनिहारों के रास्ते के स्थित बड़े दीवानजी का जैन मन्दिर तथा दि. जैन संस्कृत कॉलेज भवन इन्हीं का बनाया हुआ है।

दीवान अमरचन्द का दीवान काल सं. १८६० से १८९२ तक का है। इन्होंने बचपन से धार्मिक शिक्षा ग्रहण की। ये विलक्षण प्रतिभाशाली और शान्त स्वभाव के थे। गरीबों के सेवक, समाज सुधारक और मूक दानी थे। विवाह में लड़की वालों को निकासी के समय मूठ (मुट्ठीभर रकम) देने का रिवाज उस जमाने में था। गरीब लोगों को इससे परेशान देख आपने दो आने देने का रिवाज चालू किया जो गत २५ वर्ष पूर्व था। आज तो मूठ देने का रिवाज ही उठ गया। इन्होंने कई ग्रन्थ लिखाये। लालजी सांड के रास्ते में स्थित छोटे दीवानजी का मंदिर इन्हीं का बनाया हुआ है। ये राज्य और जनता के खैरख्वाह थे और साथ ही स्वतंत्रता प्रेमी। अंग्रेजी राज्य जयपुर में न जमने देने में इनका सहयोग था। संघी झूँथाराम के सहयोगी थे। फलतः अंग्रेज और अंग्रेजों के हिमायती इनके विरोधी हो गये। इन्हें गिरफ्तार किया गया और अन्त में देशप्रेमियों को जो सजा दी जाती है, वह अमरचन्द को दी गई। फाँसी के तख्ते पर लटक कर सदा के लिए अमर हो गये, पर आजादी के अंकुर बढ़ते रहे।

दीवान राव कृपाराम पांड्या – जयपुर के इतिहास में इस वंश की महान सेवायें हैं। इनके पूर्वज चाढमलजी बड़े प्रतापी नररत्न थे। चम्पावती नाम चाटसू इन्हीं के नाम से पड़ा – ऐसा विख्यात है। ये चाटसू के रहने वाले थे और वहाँ चौधरी थे। इस वंश में दीवान राव जगरामजी की मुगल दरबार में पहुँच थी। ये जयपुर के सं. १७७० से १७९० तक दीवान थे।

इनके पुत्र राव कृपाराम बड़े विलक्षण व्यक्ति थे। इनका दीवान काल तो सं. १७८० से १७९० तक ही था पर ये मुगल दरबार में आमेर की ओर से प्रतिनिधि थे। बादशाह का इन पर काफी अनुग्रह था। लक्ष्मी की इन पर दया थी। इतिहासकार कर्नल टाड् इन्हें दिल्ली पति का कोषाध्यक्ष मानता है। जयपुर निर्माण में इन्होंने एक करोड़ रुपये दिये थे। इनकी पुत्री के विवाह में महाराजा जयसिंहजी हथलेवा में कुछ गाँव की जागीर देना चाहते थे पर स्वयं धनिक, बादशाह तथा राजा के कृपा पात्र होते हुए भी समाज को महत्व दिया और मात्र दो रुपये हथलेवा में राजाजी से दिलवाये, जो रिवाज आज भी प्रचलित है। मुगल दरबार में अत्यधिक पहुँच होने से रजवाड़ों के बहुत से काम ये करवा देते थे। अतः सभी रजवाड़ों में इनकी धाक थी।

आमेर राज्य की ओर से कई विशेष सेवाओं के कारण इन्हें इनामें मिली हैं। मुगल दरबार से इन्हें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनसबदारी मिली थी। जयसिंहजी और उनके भाई विजयसिंह का झगड़ा इन्हीं ने निपटाया था। ये धार्मिक और अपने इष्ट के पक्के थे। सूर्य का इन्हें इष्ट था। जयपुर की गलता घाटी की चोटी पर जो सूर्य का मन्दिर है, वह इन्हीं का बनाया हुआ है। आमेर आदि कई जगह इन्होंने सूर्य के मन्दिर बनवाये थे। भानु सप्तमी को जो सूर्य रथ जयपुर में निकलता है, वह इन्हीं का चलाया हुआ है। सं. १८०४ में इनका स्वर्गवास हो गया।

इनके भाई राव फतहराम सं. १७९० से १८१३ तक, फतहराम के पुत्र भवानीराम सं. १८४३ से १८५५ तक तथा भवानीराम के पुत्र जोखीराम भी दीवान हुए हैं। इस वंश ने काफी राज्य सेवा की है।

दीवान बालचन्द छाबड़ा – जयपुर के दीवानों में बालचन्द और उनके पुत्र रामचन्द काफी विख्यात हुए हैं। बालचन्दजी का दीवान काल सं. १८१८ से १८२९ तक था। जयपुर में उस समय सांप्रदायिक तत्त्व उभर रहे थे। श्यामराम नामक एक सांप्रदायिक व्यक्ति राजा के मुँह लगा हुआ था। उसने जैन दीवानों के साथ राजनैतिक विरोध को सांप्रदायिक रूप देकर जैन समाज पर काफी जुल्म ढाये। सं. १८१७ में ढूंढाड़ प्रान्त में अनेक जैन मन्दिर सांप्रदायिकता की लहर में नष्ट-भ्रष्ट हुए। राजस्थान पुरातत्त्व विभाग से प्रकाशित 'बुद्धि विलास' में इस घटना का सही वर्णन मिलता है। दीवान बालचन्द उदार थे। सांप्रदायिक विद्वेष में न पड़कर नव निर्माण की ओर उन्होंने ध्यान दिया और अनेक नये मन्दिर खड़े करवा दिये। सं. १८२१ में विशाल इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव इनके सहयोग से हुआ, जिसमें दूर-दूर से काफी यात्री आये। इससे संकुचित विचार वाले और भी चिढ़े और सं. १८२६-२७ में पुनः सांप्रदायिक आग फैली, जिसमें पण्डित टोडरमलजी आदि विद्वानों की आहुति लगी।

दीवान बालचन्दजी के पुत्र जयचन्दजी और रायचन्दजी भी बड़े प्रतिभाशाली सज्जन थे। जयचन्दजी का दीवान काल सं. १८२५-१८५५ तक रहा। इनके पुत्र कृपारामजी और ज्ञानचन्दजी भी दीवान हुए।

दीवान रायचन्दजी छाबड़ा – दीवान बालचन्दजी के तृतीय पुत्र रायचन्दजी कुशल राजनीतिज्ञ, वीर और बड़े धर्मात्मा हुए हैं। इनका राज्य सेवाकाल सं. १८५० से १८६४ तक का है। सं. १८६२ में उदयपुर महाराजा की लड़की कृष्णा कुमारी से विवाह करने के संबंध में जयपुर-जोधपुर में काफी तनाव हुआ। युद्ध के लिए कूच हो गया। पर जयपुर के दीवान रायचन्द और जोधपुर के दीवान श्री इन्द्रराज सिंघवी के बीच-बचाव और प्रयत्न से युद्ध टला। पर यह सुलह स्थायी नहीं रही और पोकरण के ठाकुर द्वारा जोधपुर की गद्दी पर धौकलसिंह को बिठाने के प्रयत्न में पुनः युद्ध भड़का। दीवान रायचन्द ने जगतसिंहजी को काफी मना किया कि हमें ठाकुर पोकरण का पक्ष लेकर जोधपुर पर चढ़ाई नहीं करना चाहिए, पर जगतसिंह ने नहीं मानी। फलतः युद्ध में विजय तो हुई पर काफी धन बर्बाद हो गया और जयपुर संकट में पड़ गया। शेखावटी आदि के कई झगड़े उस समय चल रहे थे, जिन्हें रायचन्द्रजी ने निपटाये।

जोधपुर युद्ध के समय सब फौजे जोधपुर थीं, जो जोधपुर की ओर से अमीरखाँ पिंडारी ने जयपुर पर आक्रमण कर दिया और लूट-खसोट करने लगा। जगतसिंहजी ने जब यह सुना तो वे जयपुर रवाना हुए। लुटेरे बड़ा जुल्म करने लगे। राजा हतोत्साह हो किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया तो दीवान रायचन्द ने वणिक बुद्धि से काम किया और एक लाख रुपया पिंडारी को देकर जगतसिंहजी को सकुशल जयपुर पहुँचाया और पिंडारी को वापस लौटाया।

रायचन्दजी जहाँ गूढ़ नीतिज्ञ, वीर योद्धा और कुशल प्रशासक थे। वे बड़े धर्मात्मा भी थे। इन्होंने सं. १८६१ में विशाल पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करायी। इनका स्वर्गवास सं. १८६४ में हो गया। इनके दत्तक पुत्र दीवान संघी मन्नालाल ने दीवानगिरी की और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फौजबख्शी रहे।

दीवान विजैराम तोतूका – ये सवाई जयसिंह के समय में दीवान थे। जयसिंहजी की बहिन का विवाह मुगल बादशाह अपने साथ करना चाहता था। राजा द्वारा इन्कार करना बड़ा मुश्किल था। पर जब राजा जयपुर में नहीं थे, दीवान विजैराम ने बूंदी के हाडा बुधसिंहजी के साथ उनका विवाह कर दिया। मुगल बादशाह नाराज हुए पर रणबांकुरे बूंदी के हाडों और जयपुर से बैर मोल लेना उचित न समझा। मन मसोस कर रह गये। सवाई जयसिंहजी दीवान विजैराम से बड़े खुश हुए और ताम्र पत्र देते हुए उसमें लिखा कि "शाबाश ३, तुमने कछावा वंश का धर्म रखा, महान कार्य किया। हमें जो रोटी मिलेगी, उसमें आधी तुम्हें बांटकर खायेंगे और हमारे वंशज इस वायदे से नहीं फिरेंगे।" इन्होंने और भी कई महत्वपूर्ण कार्य किये।

यहाँ जानकारी की दृष्टि से जयपुर में हुए जैन दीवानों को संक्षिप्त तालिका प्रस्तुत की जा रही है[1] –

१. मोहनदास – मिर्जा जयसिंह के महामंत्री, सं. १७१४ के शिलालेख के आधार पर।
२. कल्याणदास पुत्र मोहनदास – सं. १७७० में मौजूद थे।
३. विमलदास छाबड़ा – आमेरपति विशनसिंह (सं. १७४६-५६) के दीवान थे।
४. रामचन्द्र छाबड़ा – सं. १७४७ से १७७६ तक दीवान रहे।
५. फतहचन्द छाबड़ा – सं. १७६५ से १७७१ तक दीवान रहे।
६. किशन चन्द छाबड़ा – सं. १७६७।
७. भींवचन्द छाबड़ा पुत्र किशनदास – सं. १८५५ से १८५९ तक।
८. जगराम पांड्या – सं. १७७४ से १७९०।
९. ताराचन्द बिलाला पुत्र केशवदास – सं. १७७३ से १७९० तक।
१०. रावकृपाराम पांड्या पुत्र जगराम – सं. १७८० से १७९० तक।
११. फतहराम पांड्या पुत्र राव जगराम – सं. १७९० से १८१३ तक।
१२. भगतराम पांड्या पुत्र राव जगराम – सं. १७९२ से १८००।
१३. विजयराम छाबड़ा पुत्र तोलूराम –
१४. नैनसुख तेरापंथी – सं. १७६९ से १७७०।
१५. श्रीचन्द छाबड़ा – सं. १७७० से १७७१।
१६. कन्हीराम बैद पुत्र खेमकरण – सं. १८०७ से १८२०।
१७. केसरीसिंह कासलीवाल – सं. १८०८ से १८१७।
१८. रतनचन्द शाह – सं. १८२३ से १८२५।
१९. आतमराम खिन्दूका पुत्र ऋषभदास – सं. १८१४ से १८३५।
२०. मौजीराम छाबड़ा –
२१. बालचन्द छाबड़ा पुत्र मौजीराम – सं. १८१८ से १८२९।
२२. नैनसुख खिन्दूका पुत्र मुकन्ददास – सं. १८२१ से १८२६।
२३. जयचन्द शाह पुत्र रतनचन्द – सं. १८२४ से १८३५।
२४. मोतीराम संघी गोधा पुत्र नन्दलाल – सं. १८२५ से १८३४।
२५. अमरचन्द सोगानी पुत्र भामाराव – सं. १८२९ से १८३४।
२६. जयचन्द छाबड़ा – सं. १८२९ से १८५५।
२७. जीवराज संघी – सं. १८३० से १८४०।
२८. मोहनराम पुत्र जीवराज संघी – सं. १८३४ से १८६७।

१. यह विवरण जयपुर जैन डायरेक्टरी (पृष्ठ १-१८ से १-२०) से साभार उद्धृत किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२९. भागचन्द पुत्र सीताराम – सं. १८४२ से १८४६।
३०. श्योलाल खिन्दूका पुत्र रतनचन्द – सं. १८३४ से १८६७।
३१. भगतराम बगड़ा पुत्र सुखराम – सं. १८४२ से १८८५।
३२. भवानीराम पांड्या पुत्र फतेहराम – सं. १८४३ से १८५५।
३३. सदासुख छाबड़ा पुत्र जयचन्द – सं. १८५७ से १८६४।
३४. राव जाखीराम पुत्र भवानीराम –
३५. अमरचन्द पाटनी – सं. १८६० से १८९२।
३६. श्योजीलाल छाबड़ा पुत्र चैनराम – सं. १८६५ से १८७५।
३७. मन्नालाल छाबड़ा पुत्र रामचन्द – सं. १८६६ से १८६९।
३८. कृपाराम छाबड़ा पुत्र जयचन्द – सं. १८६९ से १८७५।
३९. लखमीचन्द छाबड़ा पुत्र जीवनराम – सं. १८७४ से १८८१।
४०. लखमीचन्द गोधा पुत्र भगतराम – सं. १८७४ से १८८१।
४१. नोनदराम खिन्दूका पुत्र आरतराम – सं. १८७४ से १८८१।
४२. अमोलक चन्द खिन्दूका पुत्र नोनदराम – सं. १८८२ से १८८६।
४३. संघी झूँथाराम पुत्र मोतीराम – सं. १८८१ से १८९१।
४४. संघी हुकमचन्द पुत्र मोतीराम – सं. १८८१ से १८९१।
४५. बिरदीचन्द पुत्र हुकमचन्द संघी – सं. १८८६ से १८९९।
४६. संपतराय खिन्दूका पौत्र आरतराम – सं. १८९१ से १८९६।
४७. मानकचन्द ओसवाल – सं. १९०६ से १९१२।
४८. संघी नन्दलाल गोधा पुत्र अनूपचन्द – सं. १८१३ ये १८२८।
४९. किशोरदास महाजन – सं. १७४९ से १७७९।
५०. गंगाराम महाजन पुत्र कालूराम – सं. १८४० से १८४५।
५१. कृपाराम छाबड़ा रामचन्द के भतीजे – सं. १८६९ से १८७५।
५२. रायचन्द –
५३. प्यारेलाल कासलीवाल – सं. १९७६ से १९७९।
५४. नथमल गोलेछा – माधोसिंहजी के समय में दीवान थे।

❐ वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगत स्पृह:।
वीतराग भयक्रोध: स्थिति धीर्मुनिरुच्यते।।

– दु:खों की प्राप्ति होने पर, जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो सर्वथा निस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये है – ऐसा स्थिर बुद्धि मुनि कहा जाता है।

– गीता २/५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म का प्राचीनतम अभिलेखीय प्रमाण

❐ पण्डित ताराचन्द्र पाटनी, ज्योतिषाचार्य

उडीसा प्रदेश में भुवनेश्वर के पास उदयगिरी-खण्डगिरी पहाडियों में कुछ प्राचीन गुफायें हैं, जिनका निर्माण ईसा पूर्व दूसरी शती में किया था। पूर्वी भारत में इस प्रकार पहाड में से काटकर बनाई गई गुफाओं का ये अब तक ज्ञात सर्व प्राचीन उदाहरण है। इनमें से अधिकांश मौर्य सम्राट अशोक के अभिलेखों से मिलती जुलती ब्राह्मी लिपि में लेख है। इन अभिलेखों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण उदयगिरी पर हाथी गुम्फा के मुखभाग पर उत्कीर्ण दस पंक्तियों का 'आर्य महाराज महामेघवाहन चेतिराज वंशवर्धन कलिंगाधिपति श्री खारवेल' का लेख है, जिसमें उसके राज्यकाल के १३ वर्षों का क्रमिक विवरण है।

हाथी गुम्फा अभिलेख के महत्वपूर्ण उल्लेख – इस लेख में तीन घटनाओं के समय का उल्लेख है। यथा वर्ष १०३ में कलिंग नगरी में नन्दराज द्वारा तनसुलियवाट नहर का निकालना, वर्ष ११३ में तमिल देशों के संघ का गठन और वर्ष १६५ में द्वादशांग मुख्य कल (श्रुत) की व्युच्छिति। ऐतिहासिक घटनाओं ने तारतम्य की दृष्टि से यह काल-निर्देश महावीर निर्वाण की काल गणना के अनुसार किया गया प्रतीत होता है। उक्त काल गणना के प्रयोग का यह अभिलेख प्रथम पुष्ट प्रमाण माना जा सकता है।

'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहुणं' का जैनों में वही महत्त्व और लोक प्रियता है जो 'बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि' का बौद्धों में और गायत्री मंत्र का वैदिकों में। इस उल्लेख से यह भी पुष्ट होता है कि शुद्ध पाठ 'अरहंत' है न कि 'अरिहंत'। 'अरहंत' की प्राचीनता लिखित व्याख्या भी इस लेख की पंक्ति १४ में मिलती है। यह व्याख्या 'पखिणसंसितेहि' है जिसका संस्कृत रूपान्तर 'प्रक्षिप्त-संसृता' होगा। इसका अर्थ यह है कि जिसने आवागमन छोड़ दिया है। निम्नलिखित गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अरहंत की इस प्रकार व्याख्या की है–

जरवाहि-जन्ममरणं चउगइगमणं च पुण्ण पावं च।
हंतुण दोस कम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो॥

मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ का निर्देश भी इस लेख में मिलता है। खारवेल स्वयं को 'उवासग' (उपासक, श्रावक) कहता है और यह व्याख्या भी करता है कि श्रावक वह है जो व्रतों का पालन करता है और पूजा में रत रहता है। यह भी संकेत है कि व्रतों के पालने से दिव्य तेज की प्राप्ति होती है। जीव और देह (पुद्गल अजीव) के द्वैत का भी उल्लेख है। खारवेल का यह कथन कि उसका देह पर आश्रित है, जैन दर्शन में आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता और जीव अजीव के पारस्परिक सम्बन्धों की धारणा से पूरी तरह मेल खाता है। 'श्रमण' की व्याख्या 'सुविहित' की गई है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन साधु की जो विशेषता निम्न लिखित गाथा में बताई है वह सुविहित ही है –

देहादि संग रहिओ माण्क साएहिं सयल परिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भाविलिंगी हवे साहू॥

जैन साधुओं के चार प्रकारों का भी यहाँ उल्लेख है। सर्व प्रथम श्रमण का उल्लेख है जो मात्र आत्म साधना करते थे और संसार से पूर्णतः अलिप्त थे। उनके बाद ज्ञानी और तपस्वी ऋषि का उल्लेख है। ज्ञानी श्रुत के ज्ञाता थे और तपस्वी ऋषि तप साधना पर विशेष बल देते थे। अन्त में संघयन का उल्लेख है। ये संघ नायक थे। लगभग १७२ वर्ष ईसा पूर्व, अपने राज्यकाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के १३वें वर्ष में खारवेल ने जैन साधुओं की एक सभा बुलाई। इस सभा की जानकारी का स्रोत एक मात्र यहाँ अभिलेख है, दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों की साहित्यिक अनुश्रुतियाँ इसके विषय में मौन हैं। सम्भवत: इस सभा का उद्देश्य संघ भेद को रोकने और दोनों सम्प्रदायों में तात्त्विक विवादों पर समझौता कराने का एक महत् प्रयास था। संघ भेद के पोषक दोनों ही सम्प्रदायों के परवर्ती साहित्यकारों ने इस समझौते के प्रयास भुला देना ही यथेष्ठ समझा प्रतीत होता है और इसलिये उसकी कोई चर्चा उन्होंने नहीं की। ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग मथुरा में आरातीय यतियों या यापनियों के रूप में एक वर्ग ऐसा था जो संघ भेद को गर्हित समझता रहा। ऐसा सम्भव है कि उस वर्ग ने इस सभा की स्मृति को जीवित रखा हो परन्तु उसका साहित्य उपलब्ध नहीं है।

यह सभा विजय चक्र नामक प्रशासकीय खण्ड में कुमारी पर्वत पर, जो उदयगिरी का प्राचीन नाम था, आयोजित की गई थी। इसमें सभी दिशाओं से आये ३५०० साधुओं ने भाग लिया था। पर्वत के ऊपर अरहंत की निषिद्या के समीप का प्राग्भार सभा-स्थल था। यह प्राग्भार रानी सिन्धुला द्वारा निर्मित निषिद्या से सटा हुआ था। रानी सिन्धुला की निषिद्या मंचपुरी गुफा की ऊपरी मंजिल पर रही प्रतीत होती है जो कि हाथी गुफा के सम्मुख दक्षिण पूर्व को स्थित है। हाल ही में पुरातात्विक खुदाई से हाथी गुफा की छत पर एक पूजा-गृह के अवशेष भी प्रकाश में आये है, जो सम्भवत: अरहन्त निषिद्या के प्रतीक हैं। इस प्रकार मंचपुरी और हाथी गुफा के बीच के स्थल को सभा-स्थल से पहिचाना जा सकता है। सभा मंडप के सम्मुख एक वैडूर्य मंडित चोकोर स्तंभ स्थापित किया था। यह मानस्तंभ का प्रतिरूप रहा प्रतीत होता है। सभा मंडप की रचना समवशरण के अनुरूप की गई प्रतीत होती है। इस सभा में द्वादशांग की वाचना की गई थी। साहित्य में 'वाचना' का प्रयोग ऐसी सभाओं के लिए भी किया गया है।

दोनों ही सम्प्रदाय इस बारे में एक मत हैं कि केवली प्रणीत समस्त श्रुत द्वादशांग रूप था। खारवेल ने भी इसका उल्लेख चोयठ अंग अर्थात् ४+८=१२ अंग ही किया है और इस प्रकार इस अनुश्रुति का सर्वप्रथम लिखित प्रमाण इसी लेख में प्राप्त होता है। श्रुत की व्युच्छित्ति का उल्लेख इस लेख में महावीर निर्वाण के १६५वें वर्ष में किया गया है, जो भी दोनों ही सम्प्रदायों की साहित्यिक परम्पराओं से मेल खा जाता है। इस सभा का उद्देश्य अवशिष्ट श्रुत को संकलित और संरक्षित करना रहा प्रतीत होता है। कुछ ही दशक पूर्व बौद्धों द्वारा कुछ वचनों के संकलन का ऐसा ही एक प्रयत्न मौर्य सम्राट अशोक के संरक्षण में मगध में किया जा चुका था।

निषिद्या या चैत्य जो साधुओं के निवास स्थान का ही एक अंग होता था जैसा कि रानी सिन्धुला ने बनवाया था, जिसकी खारवेल ने मथुरा में वन्दना की थी और सन्निवेश जहाँ जिन प्रतिमा विराजमान होती थी और जिसकी खारवेल ने मगध में पूजा की थी। ईसा पूर्व ४२४ में भी कलिंग में जैनों में मूर्ति पूजा का प्रचलन था, क्योंकि उस समय नन्द राजा जिन प्रतिमा को कलिंग से मगध उठा लाया था और उसे अपनी राजधानी में प्रतिष्ठित किया था। मुथरा उस समय जैनों को तीर्थराज था, जहाँ खारवेल ने स्तूप की पूजा की थी और 'सव गहणं' नामक उत्सव किया था। 'सव गहणं' का शुद्ध रूप सर्व ग्रहणम् हो सकता है। जिसका अर्थ सब कुछ की प्राप्ति या सब कुछ का त्याग, दोनों ही हो सकते हैं। दूसरा अर्थ सन्दर्भ की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त उत्सव के समय उसने अपने को सांसारिक कार्यों से स्वेच्छा से अलग कर लिया था। इस लेख में चार चिन्ह उत्कीर्ण मिलते हैं जिनमें से स्वस्तिक और नन्द्यावर्त जैन धर्म से संबंधित हैं। इनका उल्लेख अष्ट प्रातिहार्यों में आता है। साथ की गुफाओं में जो लेख है उनसे यह भी ज्ञात होता है कि उस काल में जैन साधुओं के आवास के लिये पहाड़ काट कर गुफायें बनाई जाती थी। ❐

– ११३२, मनिहारों का रास्ता, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसक शाकाहार : स्वास्थ्य का आधार

□ डॉ. किरण गुप्ता

अहिंसा परमो धर्म: – अहिंसा सभी धर्मों का सार है; आरोग्य का आधार है। अहिंसा रूपी धुरी के चारों ओर ही धर्म रूपी पहिया चलता है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में भी कहा गया है कि भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे गगन, तृषियों को जैसे जल, भूखों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, रोगियों को जैसे औषधि, वन में जैसे सार्थवाह आधारभूत है। वैसे ही, 'अहिंसा' प्राणियों के लिए आधारभूत है। अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।

इसी प्रकार भगवान महावीर ने दशवैकालिक सूत्र में भी सभी प्राणियों की भलाई के साधन के रूप में अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ तथा प्रथम स्थान प्रदान किया है। जैन ग्रन्थ भगवती आराधना में बताया गया है कि अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है। सब शास्त्रों का गर्भ (उत्पत्ति स्थान) है।

अहिंसा स्वस्थ जीवन का आधार है। स्वस्थ जीवन का अर्थ है – शरीर, मन एवं आत्मा का संतुलन सच्चे स्वास्थ्य का अर्थ है – जीवन शक्ति का ओत-प्रोत होना, जिसमें जीवन के शारीरक एवं मानसिक कार्य बराबर होते रहें। जीवन के क्षण-क्षण में आनन्द, उत्साह तथा आशा का निर्झर स्रोत लगातार बहता रहे।

विश्व स्वास्थ्य-संगठन के अनुसार – "सिर्फ बीमारी, शारीरिक एवं मानसिक नैबल्र्य से मुक्ति ही स्वास्थ्य नहीं कहलाता है बाल्कि व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक स्थिति में पूर्ण समन्वय ही स्वास्थ्य है।"

आहार स्वास्थ्य का आधार बिन्दु है। इसी इर्द-गिर्द सारा जीवन है। प्राणिमात्र का अस्तित्व आहार से संभव होता है, आहार से हमारे आचार-विचार एवं व्यवहार में परिवर्तन होता है। भगवान श्री कृष्ण ने भी कहा है–

'अन्नाद भवंति भूतानि'– भोजन करना जीवन का अत्यन्त अहम् अंग है। बीमारी और स्वास्थ्य इसी भोजन पर निर्भर करता है। पेट के खराब होते ही शरीर के अन्य अंगों की जीवन उर्जा नष्ट होने लगती है। वे निष्क्रिय एवं निष्प्राण होकर मुरझाने लगते हैं। पेट के स्वस्थ होते ही समस्त अवयव प्रफुल्लित एवं निरोगी रहते हैं। सक्रिय एवं सजीव हो उठते हैं। आधुनिक आयुर्विज्ञानियों का मत है कि पेट के आन्तिरिक सूक्ष्म जैव पर्यावरण वातावरण, इन्टेस्टाइनल माइक्रोबाइ-लोजिकल इन्वायरमेंट जितना सशक्त एवं सबल होगा उतनी ही हमारी जीवनी शक्ति सशक्त एवं सबल होती है। परिणामत: हम स्वस्थ रहते है। 'तन स्वस्थ तो मन भी स्वस्थ।' आहार का मनुष्य के मन पर भी प्रभाव पड़ता है, क्योंकि जैसा खायेगा अन्न, वैसा बनेगा मन।

इसलिए आहार का स्रोत शुद्ध, पवित्र, सात्विक, अहिंसक, नैतिक होना चाहिए। मानव समाज मूलत: शाकाहारी ही है। शाकाहार का अर्थ है वनस्पति जन्य खाद्यान्न, जो अहिंसात्मक रूप से प्राप्त किया गया हो अर्थात् फल-सब्जियाँ, सूखे मेवे, अन्न-दालें, दूध-दही इत्यादि। स्वस्थ जीवन का भौतिक आधार शाकाहार है। आयुर्विज्ञान की दृष्टि से शाकाहार में सक्रिय औषधीय रसायन होते हैं। जो डाइयूरेटिक, एनलजेसिक, एन्टीपायरेटिक, एण्टीइन्फेलेमेटरी, एण्टीडायरिया, एण्टीहिस्टामिनिक, एन्टीमलेरियल, एग्मेनेगॉग, कोलेगॉग, लक्सेटिव, सुडोरीफिक, एण्टीडोट, एमिटिक, एण्टीएमिटिक, एण्टीहाईपरटेन्सिव, एण्टीवायरल, एण्टीमाईकोटिक, एण्टीस्पास्मोडिक,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एण्टीस्टरिलिटी आदि का कार्य सफलता के साथ करते हैं तथा अपना घातक दुष्प्रभाव भी नहीं डालते हैं।

विश्वविख्यात जैविक आहार विशेषज्ञ डा. एन विग्मोर ने एक अद्‌भुत प्रयोग का उल्लेख किया है। चूहों के दो समूहों में से एक समूह को माँस, मदिरा आदि हिंसक उत्तेजक खाद्य पदार्थ दिए गए तथा दूसरे समूह को फलों का रस, घास एवं अंकुरित अन्न आदि जैविक आहार दिया गया। अध्ययन से पाया गया कि उत्तेजक खाद्य खाने वाले चूहों में हिंसात्मक प्रवृत्ति आने से उनकी संख्या में तीव्र गति से कमी पाई गई।

इसके विपरीत जैविक आहार खाने वाले चूहों में अद्‌भुत सौहार्द भाव था। अत: हम कह सकते हैं कि सही रूप से स्वास्थ्य की उपलब्धि हेतु संतुलित, नियमित, जैविक शाकाहार एवं पोषण का महत्व है।

हमारे शरीर के स्वस्थ निर्माण व विकास के लिए ८० प्रतिशत क्षारीय व २० प्रतिशत अम्लीय आहार की आवश्यकता होती है। इन तत्त्वों के समानुपात से जैव विद्युत चुम्बकीय जीवनी शक्ति का निर्माण व संवर्धन होता है जो कि अहिंसक शाकाहार द्वारा ही संभव है।

जापानी आयुर्विद ताकेशी हिरायामा १लाख २८ हजार लोगों पर १६ वर्ष तक निरंतर खोज के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पीले तथा हरे रंग (पालक,गाजर, पपीता आदि) क्षारीय जैविक आहारों में एण्टी ऑक्सीडेन्ट, बीटा कैराटिन एवं टॉकेफेरॉल, ओमेगा-३, पॉली अनसेचुरेटेड वसा तथा रफेज की अधिकता होने से व्यक्ति दीर्घजीवी होता है तथा कैंसर, अल्सर, हृदय रोग जैसे घातक रोगों से मुक्त रहता है, मानसिक अवसाद, तनाव से दूर रहता है, जो इन रोगों की जड़ है। इसी प्रकार ब्रिटेन के नाटिंघम यूनिवर्सिटी के शोधकर्त्ताओं ने २६३३ वयस्कों पर तथा साउथ टैम्पटन यूनिवार्सिटी के वैज्ञानिकों ने २३१ लोगों पर शोध अध्ययन किया कि सेव, टमाटर, संतरा, गाजर, नाशपती आदि आहारों में पाए जाने वाले एंटी ऑक्सीडेंट लाइकोपिन, बीटा कैरोटिन, कैथिन्स शरीर में पाए जोने वाले फ्री रेडिकल्स व ऑक्सीडेंटों का सफाया करके शरीर को रोग मुक्त करते हैं। विभिन्न प्रयोगों एवं खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि अंकुरित अनाज में जैव रसायन किण्वन एवं, खमीरीकरण प्रक्रिया द्वारा उच्चतम किस्म का प्रोटीन, विटामिन बी$_{१२}$ बी$_{१}$ बी$_{२}$ बी$_{३}$ विटामिन सी आदि एन्जाइम पैदा हो जाते हैं जो मांसाहार में नहीं होते। अंकुरित अनाजों, फलों व सब्जियों से एमिनो एसिड की पूर्ति भी आसानी से हो जाती है। किण्व अहारों में स्टार्च, कार्बोज, प्रोटीन, लोहा, कैल्सियम तथा विटामिन की गुणवत्ता बढ़ जाने से उनकी अवचूषण क्षमता भी बढ़ जाती है। दही में स्थित उपयोगी असंख्य सूक्षम जीवाणु आँतों के सामान्य स्वास्थ्य के लिए विटामिन बी आदि पोषक तत्त्व संश्लेषित करते हैं जो मासांहार में किसी भी कीमत पर नहीं मिलते।

कार्बनिक जैव आहार के प्रयोग से व्यक्ति के दुर्गुण ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, हिंसा लोभ, क्रोध, मोह इत्यादि का रूपान्तरण हो जाता है। व्यक्ति के अन्दर दूसरों के तथा अपने प्रति सहानुभूति, उदारता, प्रेम, स्नेह, करुणा, मैत्री, मुदिता, संयम, सेवा, सहनशीलता, सहकारिता, निर्भयता, प्रसन्नता, स्वच्छता आदि उदात्त विचारों तथा सद्‌गुणों का विकास होता है। मानवीय सौहार्द के भाव का सम्वर्द्धन होता है, जो कि अहिंसक आहार द्वारा ही संभव है।

मनुष्य के शरीर की संरचना भी शाकाहारी ही है। मनुष्य के दाँत, जबडे, पेट की आँतें, पाचन व लाल ग्रंथियाँ सभी अधिकतर गुरील्ला जाति के वानरों से मिलती है जो केवल फल खाकर असाधारण शक्ति प्राप्त करते हैं। मनुष्य के आगे के दाँतों की बनावट भी फल काटने के उपयुक्त ही है।

हिंसक जीवों के दाँत लंबे, नुकीले और दूर-दूर होते हैं जिनसे वे जीवों का मांस फाड़कर निगल जाते हैं। उनका आमाशय छोटा और गोल होता है और आँतें उनके शरीर से ३ से ७ गुना अधिक लंबी होती हैं। अत: यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य फल भक्षी जीव है और उसका स्वाभाविक भोजन मात्र फल है।

किसी जीव के स्वाभाविक भोजन को जाँचने की दूसरी कसौटी है खाद्य वस्तु विशेष को उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाभाविक दशा में खाने को उस जीव विशेष का जी चाहना। उसकी ओर आकर्षित होना। जैसे – शेर का बच्चा शिकार ढूँढता है, मृगशावक दूब ढूँढता है। लोमड़ी का बच्चा चूहे आदि का शिकार करता है। और आज के इस कृत्रिमता के जमाने में भी एक फल से लदे वृक्ष को देखकर किस मनुष्य के मुँह में पानी नहीं भर आता?

यह भ्रम है कि मांस उर्जा एवं शक्ति का स्रोत है। शक्ति की माप अश्व-शक्ति है और अश्व शाकाहारी है। शक्तिशाली जानवर हाथी, गैंड़ा, घोडा इत्यादि शाकाहारी होते हैं। विश्व के प्रख्यात दार्शनिक एवं वैज्ञानिक भी प्राय: शाकाहारी हुए हैं। आइन्सटीन शाकाहार के प्रबल समर्थक थे। जार्ज बनार्ड शॉ कहा करते थे कि पेट कब्रिस्तान नहीं है कि वहाँ मुर्दे (मांस) को दफनाया जाय।

हिंसक आहार के घातक प्रभाव को देखते हुए पूरे विश्व में शाकाहार आन्दोलन प्रभावी बन गया है। जनसाधारण के आकर्षण के केन्द्र राजकुमारी डायना, प्रिंस चार्ल्स, माइकल जैक्सन तथा अभिनेत्री सारा माइल्स व हेल्लीमिल्स जैसे लोग मांसाहार छोड़कर शाकाहार अपना चुके हैं। इसका बहुत बड़ा कारण स्वास्थ्य व सौन्दर्य है।

मांसाहार के सम्बन्ध में बड़ी ही भ्रान्त धारणा है कि मांसाहार का प्रोटीन श्रेष्ठ किस्म का है और इस श्रेष्ठ किस्म के प्रोटीन के अभाव में व्यक्ति का शारीरिक विकास व मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। अनेक मूर्धन्य वैज्ञानिकों, साहित्यकारों व दार्शनिकों के जीवन का अध्ययन करने के बाद ज्ञात हुआ है कि वे जीवनपर्यन्त शाकाहारी थे। भगवान महावीर जिन्होंने अहिंसा को परम धर्म माना है, के विषय में कहा जाता है कि उनके जैसा सुन्दर एवं स्वस्थ शरीर एवं मन कभी हुआ ही नहीं। उनके चित्र से भी ऐसा ही प्रतीत होता है।

भगवान बुद्ध, पूज्य बापू, जार्ज बर्नाड शॉ, महर्षि रमन, अरविन्द, रजनीश, महेश योगी, कबीर, आचार्य तुलसी, तुलसीदास, महात्मा ईसा, स्वामी रामतीर्थ, वैज्ञानिकों में डॉ. हेनरी, सी. शेरमन, जैक सी. हूमंड, सर हेनरी रामसन, डॉ. अल्बर्ट श्विबजर, डॉ. तादाने, डॉ. कार्ल ऐंडर्स, डॉ. सी. बी. रमण, एम. विश्वेश्वरैया आदि हजारों नाम हैं। जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में विश्व को दिशा-निर्देश दिया और वे सभी शाकाहारी थे। वर्तमान राष्ट्रपति अब्दुल कलाम तो पूर्णत: शाकाहारी हैं।

महान वैज्ञानिक डॉ. अल्बर्ट आइन्सटीन ने एक बार बड़े दु:ख के साथ कहा था – "यद्यपि बाह्य परिस्थितियों ने मुझे शाकाहारी होने के पथ पर कुछ रोड़े अटका रखे हैं तो भी मैं शाकाहार का पूर्ण समर्थक हूँ..... मानव मनोभावों को शाकाहार भौतिक रूप से प्रभावित करता है..... आनेवाली मानव जाति के भविष्य में शाकाहार महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।"

मांसाहारी फास्ट फूड में स्थित सोडियम नाइट्रेट कैंसर उत्पन्न करता है। विश्व के विभिन्न देशों में किये गये वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि प्राय: फास्टफूड में फाइबर्स, प्राकृतिक सेलुलोस, डेक्ट्रिन्स, पैक्ट्रिन्स आदि तन्तुमय आहार तत्त्वों की कमी होती है, जिससे अपेंडिसाइटिस, पित्ताशय की पथरी, पाइल्स, अल्सर, कैंसर, कोलेस्टॉल वृद्धि, कोरोनरी आरटरी डिजिस, आँतों का कैंसर, खून की विषाक्तता, मोटापा, मधुमेह, चर्मरोग, रक्त के थक्के बनना तथा पाचन सम्बन्धी अनेक रोग होने की सम्भावना बढ़ जाती है।

हमारा शरीर एक जैव रासायनिक कारखाना है, अत: इसका ईंधन भी जैव रासायनिक ही होना चाहिए। यही विज्ञान एवं प्रकृति सम्मत है। कार्बनिक जैव आहार (शाकाहार) जीवन्त शरीर का सर्वश्रेष्ठ ईंधन है। मन का आधार है, मस्तिष्क की खाद है। अत: शाकाहार ही आरोग्य की निशानी है, जीवन का शृंगार है। शाकाहार ही हमें विश्व बन्धुत्व की ओर प्रेरित करता है। यदि हम चाहते हैं –

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखभागभवेत्।"

तो हमें अहिंसक शाकाहार को अपनाना ही होगा।

❑ प्राकृतिक चिकित्सालय, बापूनगर, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मौन चिन्तन : चित्त की एकाग्रता

☐ डॉ. त्रिलोकचन्द कोठारी

दिनांक : २३ मई २००६ के मौन चिन्तन "तमोगुण और उसको जीतने के उपाय" ८०वें वर्ष में ११ जून में प्रवेश से पूर्व गीता प्रवचन के १४ वें अध्याय में उक्त विषय के बारे में दिया था आज का मौन चिन्तन गीता प्रवचन के अध्याय ६ में चित्त की एकाग्रता के बारे में है ८०वें वर्ष में प्रवेश के साथ ही आगे निरन्तर मेरे प्रिय विषयों से पूज्य आचार्य विनोबा जी के धूलिया जेल में सन् १९२९ में हर रविवार को दिये गये प्रवचन (गीता प्रवचन) में से निरन्तर अभ्यास करते हुये समय-समय पर चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयास करूंगा।

ध्यान योग में तीन बातें मुख्य है – १. चित्त की एकाग्रता २. चित्त की एकाग्रता के लिए उपयुक्त जीवन की परमितता और ३. साम्यदशा या सम-दृष्टि। इन तीन बातों के बिना सच्ची साधना नहीं हो सकती। चित्त की एकाग्रता का अर्थ है, चित्त की चंचलता पर अंकुश। जीवन की परिमितता का अर्थ है, सब क्रियाओं का नपा-तुला होना। सम-दृष्टि का अर्थ है विश्व की ओर देखने की उदार दृष्टि। इन तीन बातों से ध्यान-योग बनता है। इस त्रिविध साधना के भी साधन है। वे हैं – अभ्यास और वैराग्य। इन पांचों बातों की थोड़ी-सी चर्चा हम यहां करें।

पहले चित्त की एकाग्रता को लीजिये। किसी भी काम में चित्त की एकाग्रता आवश्यक है। व्यावहारिक बातों में भी चित्त की एकाग्रता चाहिए। यह बात नहीं कि व्यवहार में अलग गुणों की जरूरत है और परमार्थ में अलग। व्यवहारों को शुद्ध करने का ही अर्थ है, परमार्थ। कैसा भी व्यवहार हो, उसका यश और अपयश आपकी एकाग्रता पर अवलंबित है। व्यापार, व्यवहार, शास्त्र-शोधन, राजनीति, कूटनीति किसी को भी ले लीजिये, इनमें जो कुछ यश मिलेगा, वह उन-उन पुरुषों के चित्त की एकाग्रता के अनुसार मिलेगा।

व्यवहार हो या परमार्थ, चित्त की एकाग्रता के बिना उसमें सफलता मिलनी कठिन है। यदि चित्त एकाग्र रहेगा, तो फिर सामर्थ्य की कभी कमी न पड़ेगी। साठ वर्ष के बूढे होने पर भी किसी नौजवान की तरह उत्साह और सामर्थ्य दीख पड़ेगी। मनुष्य ज्यों-ज्यों बुढ़ापे की तरह जाये, त्यों-त्यों उसका मन अधिक मजबूत होता जाना चाहिए। फल को ही देखिये न। पहले वह हरा होता है, फिर पकता है, फिर सड़ता है, गलता है और मिट जाता है; परन्तु उसका भीतर का बीज उत्तरोत्तर कड़ा होता जाता है। यह बाहरी शरीर सड़ जायेगा, गिर जायेगा, परन्तु बाहरी शरीर फल का सार-सर्वस्व नहीं है। उसका सार-सर्वस्व, उसकी आत्मा तो है बीज। यही बात शरीर की है। शरीर भले ही बूढ़ा होता चला जाये, परन्तु स्मरण-शक्ति तो बढ़ती ही रहनी चाहिए। बुद्धि तेजस्वी होनी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। मनुष्य कहता है "आजकल मेरी स्मरण-शक्ति कमजोर हो गयी है।" क्यों ? "अब बुढ़ापा आ गया है।" तुम्हारा जो ज्ञान, विद्या या स्मृति है, वह तुम्हारा बीज है। शरीर बूढ़ा होने से ज्यों-ज्यों ढीला पड़ता जाय, त्यों-त्यों आत्मा बलवान होती जानी चाहिए। इसके लिए एकाग्रता आवश्यक है।

एकाग्रता कैसे साधें ? भगवान् कहते हैं, आत्मा में मन को स्थिर करके न किंचिदपि चिन्तयेत्-दूसरा कुछ भी चिन्तन न करें। परन्तु यह सधे कैसे? मन को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिल्कुल शान्त करना बड़े महत्व की बात है। विचारों के चक्र को जोर से रोके बिना एकाग्रता होगी कैसे? बाहरी चक्र तो किसी तरह रोक भी लिया जाय, परन्तु भीतरी चक्र तो चलता ही रहता है। चित्त की एकाग्रता के लिये ये बाहरी साधन जैसे-जैसे काम में लाते हैं, वैसे-वैसे भीतर के चक्र अधिक वेग से चलने लगते हैं। आप आसन जमाकर तनकर बैठ जाइये, आँखें स्थिर कर लीजिये। परन्तु इतने से मन एकाग्र नहीं हो सकेगा। मुख्य बात यह है कि मन का चक्र बन्द करना सधना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मन की स्थिति बदले बिना एकाग्रता नहीं हो सकती। मन की स्थिति शुद्ध होनी चाहिए। केवल आसन जमाकर बैठने-से वह प्राप्त नहीं हो सकती। इसके लिए हमारे सब व्यवहार शुद्ध होने चाहिए। व्यवहार शुद्ध करने के लिए उसका उद्देश्य बदलना चाहिए। व्यवहार व्यक्तिगत लाभ के लिए, वासना-तृप्ति के लिए अथवा बाहरी बातों के लिए नहीं करना चाहिए।

व्यवहार तो हम दिनभर करते रहते हैं। आखिर दिन भर की खटपट का हेतु क्या है? 'यह सारा परिश्रम, इसलिए तो किया था कि अन्त की घड़ी मीठी हो।' सारी खटपट, सारी दौड-धूप इसीलिए न कि हमारा अंतिम दिवस मधुर हो जाये? जिंदगी भर कडुआ विष क्यों पचाते हैं? इसीलिए कि अंतिम घड़ी, वह मरण, पवित्र हो जाये। दिन की अंतिम घड़ी शाम को आती है। आज के दिन का सारा काम यदि पवित्र भाव से किया होगा, तो रात की प्रार्थना मधुर होगी। वह दिन का अंतिम क्षण यदि मधुर हो गया, तो दिन का सारा काम सफल हुआ समझो। तब मन एकाग्र हो जायेगा।

एकाग्रता के लिए ऐसी जीवन-शुद्धि आवश्यक है। बाह्य वस्तुओं का चिंतन छूटना चाहिए। मनुष्य की आयु बहुत नहीं है। परन्तु इस थोडी सी आयु में भी पारमेश्वरीय सुख का स्वाद लेने की सामर्थ्य है। दो मनुष्य बिल्कुल एक ही सांचे में ढले, एक-सी छाप लगे हुए, दो आँखें, उनके बीच एक नाक और उस नाक में दो नासा-पुट। इस तरह बिल्कुल एक-से होकर भी एक मनुष्य देवतुल्य होता है, तो दूसरा पशु-तुल्य। ऐसा क्यों होता है? एक ही परमेश्वर के बाल-बच्चे हैं, 'सब एक ही खानि के।' तो फिर यह फर्क क्यों पड़ता है? इन दो व्यक्तियों की जाति एक है, ऐसा विश्वास नहीं होता। एक नर का नारायण है, तो दूसरा नर का वानर।

मनुष्य कितना ऊंचा उठ सकता है, इसका नमूना दिखानेवाले लोग पहले भी हो गये हैं और आज भी हमारे बीच हैं। यह अनुभव की बात है। इस नर-देह में कितनी शक्ति है, इसको दिखानेवाले संत पहले हो गये हैं और आज भी हैं। इस देह में रहकर यदि मनुष्य ऐसी महान करनी कर सकता है, तो फिर भला मैं क्यों न कर सकूंगा? मैं अपनी कल्पना को मर्यादा में क्यों बांध लूँ? जिस नर देह में रहकर दूसरे नर वीर हो गये, वही नर देह मुझे भी मिली है, फिर मैं ऐसा क्यों? कहीं-न-कहीं मुझसे भूल हो रही है। मेरा यह चित्त सदैव बाहर जाता रहता है। दूसरे के गुण-दोष देखने में वह बहुत आगे बढ़ गया है। परन्तु मुझे दूसरे के गुण देखने की जरूरत क्या है? "दूसरे के गुण-दोष क्यों देखूँ? मुझ में क्या उनकी कमी है?"

भगवान ने चित्त की एकाग्रता के लिए इस तरह बैठो, इस तरह आँखें रखो, इस तरह आसन जमाओं आदि सूचनाएँ नहीं दीं, ऐसी बात नहीं है। परन्तु इन सबसे लाभ तभी होगा, जब पहले चित्त की एकाग्रता के हम कायल हों। मनुष्य के चित्त में पहले यह जम जाय कि चित्त की एकाग्रता आवश्यक है, फिर तो मनुष्य स्वत: ही उसकी साधना और मार्ग ढूँढ़ निकालेगा।

❐

- Kothari Bhawan,
B-79, Sainik Farms, Lane W-3,
Western Avenue,
New Delhi-110062

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि परंपरा के निर्वाहक आचार्य भरतसागरजी

❑ चंदनमल जैन 'अजमेरा'

परम पूज्य ज्ञान दिवाकर उपसर्ग विजेता, मर्यादा शिष्योत्तम, प्रशांतमूर्ति बागड़ धरा के महर्षि गुरु पुंगव १०८ आचार्य भरत सागर जी महाराज को तीर्थराज सम्मेदशिखरजी में सन् १९७२ में कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन उनके गुरु परम पूज्य आचार्य १०८ विमल सागर जी द्वारा मुनिपद पर दीक्षित किया गया। उन्हें भरत चक्रवर्ती के समान विरक्त ज्ञान-ध्यान में लिप्त भावों से विशुद्ध परिणामों की निर्मलता देख भरत सागर नाम दिया।

मुनि भरत सागर जी गुरु भक्ति के प्रति प्रगाढ़ अनुराग रखते थे। अनवरत अध्ययन-अध्यापन में निरत रहते। वे अपनी प्रवचन-शैली से गुरुवर्य को प्रभावित कर गये। अत: उन्हें उपाध्याय पद से संस्कारित किया गया। वास्तव में वे संघ में उपाध्याय पद के सुयोग्यतम मुनि थे।

विधि का विधान विचित्र होता है। पौष कृष्ण द्वादशी को सन् १९९४ गुरुवार के दिन आचार्य विमल सागरजी तपोनिधि, तीर्थराज पर समाधिस्थ हो गये। पूर्व में निश्चित हो चुका था कि इन्हें ही पट्टाचार्य बनाया जायेगा। आपने सोनागिरि तीर्थक्षेत्र में प्रायश्चित शास्त्र रहस्य शास्त्रों का अध्ययन कराया था। पूरा संघ इनसे लाभान्वित हुआ।

आचार्य पद पर रहते हुए आपने अलौकिक दर्पण, तिरने की कला, वीर शासन जयंती पुस्तकें लिखी हैं।

धम्मरसायन (प्राकृत) का भी आपने हिन्दी में अनुवाद किया है। आपकी सत्साहित्य प्रकाशन प्रसारण में विशेष अभिरुचि थी। गुरुदेव भरत सागर जी अपने ज्ञान-ध्यान की मधुर सुरभि से चहुँ दिशि को सुरभित कर चुके थे। एवं भव्यजनों को सन्मार्ग का अवबोध कराकर जैन धर्म की अपूर्व प्रभावना कर चुके थे। आपके इस महत्कार्य में गणिनी परम पूज्य १०५ आर्यिका स्याद्वादमती माताजी का एवं ब्र. प्रभा बहिन का योग मिला।

आचार्य भरत सागर जी में संघ संचालन की अद्भुत क्षमता थी। मैंने स्वयं ने प्रत्यक्ष सम्मेदशिखरजी, सोनागिरजी, जयपुर, निवाई, बांसवाड़ा, लोहारिया, कुचामन आदि विख्यात स्थानों पर उनके अनुशासित रहकर स्वाध्याय, प्रवचन उपदेशादि को सुना। वे परम तपस्वी रस परित्यागी महर्षि थे।

उनके पावन प्रयास से भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत्परिषद् की स्थापना हुई, जो जैन साहित्य जगत में अपना वर्चस्व रखती है।

परम पूज्य आचार्य भरत सिन्धु को युगों तक जाना जाता रहेगा, उनका मार्ग-दर्शन सदैव चिरस्मणीय रहेगा।

❑ ९/अ, आयतन, एकता पथ
श्रीजी नगर, दुर्गापुरा, जयपुर (राज.)

जिस प्रकार दूध पौष्टिक होने के साथ-साथ औषधिस्वरूप भी है, उसी प्रकार विद्वत्ता लौकिक प्रयोजन-साधक होती हुई मोक्ष का कारण भी होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सीख-संकलन

❐ पं. अनूपचन्द न्यायतीर्थ

जीवनोपयोगी कितनी ही बातें नीति शास्त्र के ग्रन्थों में अथवा अनेक कहावतों में उपलब्ध हैं। जन साधारण की जानकारी हेतु उन्हें संकलित किया गया है। आशा है लाभप्रद सिद्ध होंगी।

नीतिकार कहते हैं –

१. मनुष्य जीवन में सुखी रहने के लिए निम्न बातों की आवश्यकता है – आय का साधन होना, शरीर का निरोग होना, प्रियवादिनी भार्या का होना, आज्ञाकारी पुत्रों का होना तथा न्यायपूर्वक पैसा कमाने वाली विद्या का होना।

२. मनुष्य को विद्यावान, विद्वान तथा विवेकी होना आवश्यक है। विद्या से विनय, नम्रता आती है। विनयी होने पर पात्रता, योग्यता और योग्यता से धन आता है। धन से धर्म किया जाता है। तथा धर्म से सुख प्राप्त होता है।

३. मिट्टी के कच्चे घड़े में जो संस्कार, निशान कर दिये जाते हैं, वे कभी नहीं मिटते। उसीप्रकार बच्चों में जो प्रारंभ में अच्छे विचार या संस्कार भर दिये जाते हैं, वे सदा ही बने रहते हैं, कभी नहीं मिटते।

४. उस पुत्र से कोई मतलब नहीं है, जो न विद्वान हो तथा न धर्मात्मा हो।

५. धन-संपत्ति का, यौवन-युवावस्था का, प्रभुता तथा पद का एवं अज्ञानता का अभिमान करना बुरा है। जहाँ उपरोक्त चारों प्रकार के अभिमान एक ही जगह हों तो कहना ही क्या?

६. मनुष्य जब तक किसी पद पर है, उसका सभी सम्मान करते हैं। पद से, हटने पर उसका प्रभाव समाप्त हो जाता है। जैसे नाखून और बालों का शरीर से अलग हो जाने पर।

७. नीतिकारों ने निम्न बातों को विश्वास करने योग्य नहीं माना है। नदी में कभी भी बाढ़ आ जाने, शस्त्रधारी का, सींग वाले जानवर का तथा बड़े नाखून वाले प्राणियों का – इनसे कभी भी जीवन समाप्त हो सकता है।

८. राजा, जोगी, अग्नि, जल इनकी उल्टी रीति अर्थात् इनमें बदलाव आने पर सुरक्षित रहना मुश्किल है।

९. मनुष्य निम्न छह अवगुणों को रहते उन्नति नहीं कर सकता – निद्रा, तन्द्रा (ऊँघना), भय, क्रोध तथा आलस्य।

१०. सज्जनों का स्वभाव नारियल के समान ऊपर से कठोर तथा अन्दर से नम्र होता है और दुर्जनों का स्वभाव बेर के समान अर्थात् ऊपर से नरम तथा अंदर से कठोर होता है।

११. खल अर्थात् दुर्जन मनुष्यों की विद्या विवाद के लिए, धन मद के लिए और शक्ति दूसरों को दुःख के लिए होती है, जबकि सज्जनों की विद्या ज्ञान प्रदान के लिए, धन दान के लिए और शक्ति निर्बलों की रक्षा के लिए होती है। ❐

– ७६९, गोदीकों का रास्ता, किशनपोल,
जयपुर (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बदलती जीवन शैली – अहिंसा एकमात्र विकल्प

❑ हेमन्त कुमार जैन

अनादि काल से यह संसार और जीव परिवर्तनशील है, पर विगत कुछ वर्षों से जीवन शैली में बड़ी तेजी से बदलाव आये हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में ऐसा हुआ है।

घर का रहन-सहन, बुजुर्गों के प्रति व्यवहार, सादगी व अनुशासन का वातावरण विकृत हो रहा है। परिवार बिखर रहे हैं, संसार सागर में हिचकोले खाती पारिवारिक जीवन नैया को संभालने वाले बड़े बुजुर्गों रूपी लंगर उखड़े जा रहे हैं।

सामाजिक एवं धार्मिक आयोजनों में सीमा से ज्यादा आडम्बर प्रदर्शन व फिजूलखर्ची बढ़ गई है। स्वाध्याय में रुचि नहीं, पर अखबार हाथ में आ जाने पर पूरा पढ़कर ही छूट पाता है।

श्रम करने का महत्व नहीं रहा, पहले सभी गृहकार्य अपने हाथों से ही सम्पन्न करते थे। जैसे पानी भरना, चक्की चलाना, घर की सफाई, कपड़े, बर्तन आदि करते हुए भी प्रसन्नचित्त एवं स्वस्थ रहते थे। मीलों पैदल चल लेते थे, पर काश ! आज अनेक प्रकार की सुविधाएँ होते हुए भी मानसिक तनावों से त्रस्त स्त्री-पुरुष अनेक प्रकार की बीमारियों से ग्रस्त रहते हैं। देशी दवायें व प्राकृतिक रहन-सहन छोड़कर मंहगी डाक्टरी दवाओं के चक्कर में फँसकर अपना स्वास्थ्य एवं धन लुटा रहे हैं।

पहले गुरु-शिष्य संपर्क बराबर रहने से विद्यार्थी अनुशासित एवं चारित्रवान होते थे, गुरु एवं माता-पिता का पूरा आदर होता था। अब तो बताने में भी शर्म आती है। पहले शिक्षा जीवन बनाने के लिए ग्रहण की जाती थी, अब तो केवल पैसा बनाने के लिए। कन्याओं की गर्भावस्था में ही हत्या कर दी जाती है, इससे लिंगानुपात में भयंकर अन्तर आ गया है। अब विवाह योग्य लड़कियाँ आसानी से नहीं मिल पाती हैं। अब तो हालात इतने बदतर हो गये हैं कि विदेशों से अनेक प्रकार के अभक्ष्य पदार्थ उदारीकरण और वैश्वीकरण के बहाने भारत के बाजारों में खुले आम आने लगे हैं। इसी संदर्भ में कुछ समय पूर्व लगभग १४०० वस्तुओं पर मात्रात्मक प्रतिबंध पूर्णरूप से हटाकर सभी प्रकार के अभक्ष्य पदार्थ जैसे मांस, मछली, हाईब्रिड (संकर) बीज, काठ कबाड, जहरीले कीटनाशक, रासायनिक खाद, बेरोकटोक हमारे देश में आने शुरु हो गये हैं। बाजारू खाद्य पदार्थों को खाकर अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन करना असंभव है। अपवाद रूप से कुछ समझदार शिक्षित डॉक्टर परिवार मैंने देखे हैं जो यथाशक्ति कोई भी बाजारू खाद्य पदार्थ नहीं खाते।

आज गलत सरकारी नीतियों के कारण जगह-जगह शराब, गुटखा, सिगरेट, मांस, अंडे की दुकानें खुलती जा रही हैं। बड़े-बड़े पाल्ट्री फार्म खोले जा रहे हैं और प्राय: विदेशी मुर्गियाँ भी चोरी छिपे भारत में लाई जा रही हैं। उनमें कुछ रोगग्रस्त भी होती हैं और जब यहाँ मुगियाँ को संक्रमण फैलता है, तो लाखों की संख्या में सभी मुर्गियाँ मार दी जाती है। ऐसे ही मैडकाउ बीमारी की वजह से इंग्लैण्ड में कुछ वर्ष पूर्व ६० लाख दुधारू गायों का कत्लेआम कर दिया गया था। यह बीमारी गायों को मांस खिलाने से हुई थी। काम-वासना प्रदीप्त करने हेतु चीन आदि देशों में शेर व गैंडे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के विभिन्न अंगों की मांग बढ़ गई है और यही कारण है कि भारत में सरिस्का, रणथम्भौर व काजीरंगा के अभ्यारण्यों में शेर और गैंड़े लुप्त प्राय: हो रहे हैं।

हमारे देश के किसानों, कुटीर उद्योगों में मेहनत मजदूरी करने वालों पर कुठाराघात होने से आये दिन सैकड़ों लोग बेरोजगारी, मंहगाई के कारण आत्म हत्याएँ कर रहे हैं। हमारे देश में अंग्रेजी पढ़े नौजवान देश छोड़कर बाहर जाने में ही अपना भला समझते हैं। शिक्षा ही उन्हें ऐसी दी जाती है कि जिससे देश, धर्म व परिवार के प्रति जिम्मेदारी व आस्था समाप्त हो रही है। आज शास्त्रीय संगीत गाने, बजाने व सुनने वालों की संख्या प्राय: नगण्य सी रह गई है और विदेशी भौंड़े पॉप संगीत पर अर्द्धनग्न युवक-युवतियाँ थिरकते दिखाई देते हैं। कंडोम संस्कृति का प्रचार हो रहा है, इससे एड्स की रोकथाम के बहाने अप्राकृतिक यौनाचार को प्रोत्साहन मिल रहा है।

इसमें सबसे बड़ी जिम्मेदारी माता-पिता व गुरुओं की है। वे चाहें तो अपनी संतानों व शिष्यों को सही मार्गदर्शन कर सकते हैं। ऐसे कई संपन्न वृद्ध दंपत्ति हैं, जिनकी संतानें विदेशों में जा बसी हैं और यहाँ उन्हें पानी पिलाने वाला भी कोई नहीं है। लेकिन "अब पछताये का होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत।" अब हमें भविष्य के सुधार के लिए सोच समझकर चलना चाहिए।

जनसंख्या वृद्धि भी इस वातावरण के लिए काफी जिम्मेवार है। इसकी चिन्ता प्राय: शिक्षित व समझदार व्यक्तियों को ही रहती है। अत: वे तो अपनी संख्या को सीमित रखना चाहते हैं, पर अशिक्षित एवं जाति परस्त लोग हर प्रकार से अपनी संख्या बढ़ाकर डैमोक्रेसी लोकतंत्र का नाजायज फायदा उठा रहे हैं। आज पैसे वाले और अधिक धनी तथा निर्धन और अधिक निर्धन बनते जा रहे हैं। गाँवों को छोड़ शहरों में भागने की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ रही है। अत: दोनों जगह बेरोजगारी व निठल्लापन बढ़ रहा है, आतंकवाद बढ़ने का यह भी एक कारण है, जिससे बड़े-बड़े राष्ट्र प्रभावित हो रहे हैं। पर समस्याएँ हिंसा व युद्ध से नहीं सुलझ सकती। अहिंसा को सही मायने में समझने की जरूरत है।

❐ ७२९, किसान मार्ग, बरकत नगर, जयपुर
फोन : ०१४१-२५९४५७६

सुभाषित वचन

१. कषाय अज्ञान से प्रारम्भ होती है और ज्ञान पर समाप्त होती है।

२. कण भर भी यदि धर्म जीवन में आ जावे, तो मण भर ग्रंथों से अधिक है।

३. धर्मात्मा का जीवन गुलाब के फूल की तरह है, जो काँटों में पल कर भी सौंदर्य और सुगंधि लुटाता रहता है।

४. मृत्यु एक अनिवार्य तथ्य है उसे किसी भी प्रकार टाला नहीं जा सकता। उसे सहज भाव से स्वीकार कर लेने में ही शांति है। सत्य को स्वीकार करना ही सन्मार्ग है।

५. लाखों रुपयों का व्यय करने पर हम श्री वीर प्रभु का उतना प्रभाव दिखाने में समर्थ नहीं हो सकते जितना कि उसके द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का पालन करने से दिखा सकते हैं।

६. शान्ति चाहिए तो पर-दोषान्वेषण और आलोचना की आदत छोड़ दो।

❐ **रामबाबू जैन लुहाड़िया**, ३ श्रीजी नगर, दुर्गापुरा ,जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बरत्व का महत्व

❑ स्व. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन

मोक्ष-प्राप्ति के लिए साधक की चरम अवस्था में दिगम्बरत्व अनिवार्य है, **किन्तु वह अन्तरंग एवं बाह्य, दोनों ही प्रकार का युगपत् होना चाहिए, तभी उसकी सार्थकता है। यह मार्ग दुस्साध्य है।** यही कारण है कि लगभग एक सवा करोड़ जैनों की संख्या में २५० सौ के करीब ही दिगम्बर मुनि हैं। वे सभी दिगम्बरत्व के साधक हैं और प्राय: २८ मूलगुणों का निरतिचार से पालन करते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि दिगम्बर मुनि अपनी अत्यन्त कठोरचर्या, व्रत, नियम, संयम तथा शीत-उष्ण-दंश-मशक-नाग्न्य-लज्जा आदि बाईस परीषहों को जीतने एवं नाना प्रकार के उपसर्गों को सहन करने में सक्षम होता है। उसका जीवन एक खुली पुस्तक होता है। ज्ञान की उसमें कमी या आधिक्य हो सकता है। संस्कारों या परिस्थितिजन्य दोष भी लक्ष्य किये जा सकते हैं अथवा दिगम्बर मुनि के आदर्श की कसौटी पर भी वह भले ही पूरा-पक्का न उतर पाये, **तथापि अन्य परम्पराओं के साधुओं की अपेक्षा अपने नियम-संयम, तप एवं कष्ट सहिष्णुता में वह श्रेष्ठतर ही ठहरता है।** फिर जो मुनि आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ करते हैं, उन मुनिराजों की बात ही क्या है, वे सच्चे साधु या सच्चे गुरु ही आचार्य-उपाध्याय-साधु के रूप में पंच-परमेष्ठी में परिगणित हैं, वे मोक्षमार्ग के पूजनीय एवं अनुकरणीय मार्गदर्शक होते हैं। वे तरण-तारण होते हैं। उन्हीं के लिए कहा गया है –

धन्यास्ते मानवा: मन्ये ये लोके विषयाकुले।
विचरन्ति गतग्रन्थाश्तुरंगे निराकुला: ॥

इस दिगम्बर मार्ग के प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर आदिदेव ऋषभ थे। जिनदीक्षा लेने के उपरान्त उन्होंने दिगम्बर मुनि के रूप में तपश्चरण करके केवलज्ञान एवं तीर्थंकर पद प्राप्त किया था। उनके भरत-बाहुबली आदि अनेक सुपुत्रों और अनगिनत अनुयायियों ने इसी दिगम्बरमार्ग का अवलम्बन लेकर आत्म-कल्याण किया है। भगवान ऋषभ के समय से लेकर अद्य पर्यन्त यह दिगम्बर मुनि परम्परा अविच्छिन्न चली आयी है। बीच-बीच में मार्ग में काल दोष से विकार भी उत्पन्न हुए, चारित्रिक शैथिल्य भी आया, किन्तु संशोधन-परिमार्जन भी होते रहे हैं।

जैन परम्परा का स्वयं वह श्वेताम्बर संप्रदाय भी, जो जैन साधु के लिए दिगम्बरत्व को अपरिहार्य नहीं मानता और साधुओं को सीमित-संख्यक, बिन सिले श्वेतवस्त्र धारण करने की अनुमति देता है, इस तथ्य को मान्य करता है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर अपने जीवन में अचेलक अथवा दिगम्बर ही रहे थे, अन्य अनेक पुरातन जैन मुनि दिगम्बर रहे तथा यह कि जिनमार्ग में जिनकल्पी साधुओं का श्रेष्ठ एवं श्लाघनीय रूप अचेलक है। **कला क्षेत्र में भी ८वीं-९वीं शती ई. से पूर्व की प्राय: सभी उपलब्ध तीर्थंकर या जिनप्रतिमाएँ दिगम्बर ही हैं** और वे उभय सम्प्रदायों के अनुयायियों द्वारा समान रूप से पूजनीय रहीं, आज भी हैं। कालान्तर में सांप्रदायिक भेद के लिए श्वेताम्बर साधु जिन मूर्तियों में भी लंगोट का चिह्न बनवाने लगे। मुकुट, हार, कुण्डल, चोली-आंगी, कृत्रिम नेत्र आदि का प्रचलन तो इधर लगभग दो अढ़ाई सौ वर्ष के भीतर ही हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परम्परा में नहीं, अन्य धार्मिक परम्पराओं में भी श्रेष्ठतम साधकों के लिए दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा की गयी प्राप्त होती है। **प्रागैतिहासिक एवं प्राग्वैदिक सिन्धु घाटी सभ्यता के मोहन-जोदड़ो से प्राप्त अवशेषों में** कायोत्सर्ग दिगम्बर योगिमूर्ति का धड़ मिला है। स्वयं ऋग्वेद में वातरशना (दिगम्बर) मुनियों का उल्लेख हुआ हैं। **कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक** में उक्त वातरशना मुनियों को श्रमणधर्मा एवं ऊर्ध्वरेतस (ब्रह्मचर्य से युक्त) बताया है। श्रीमद्भागवत में भी वातरशना मुनियों का उल्लेख हैं तथा वहाँ व अन्य अनेक ब्राह्मणीय पुराणों में नाभेय ऋषभ को विष्णु का एक प्रारम्भिक अवतार सूचित करते हुए दिगम्बर चित्रित किया गया है। ऐसे उल्लेखों के आधार पर **स्व.डॉ. मंगलदेव शास्त्री का अभिमत है कि 'वातरशना-श्रमण' एक प्राग्वैदिक मुनि परम्परा थी और वैदिक धारा पर उसका प्रभाव स्पष्ट है।**

कई उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों, **रामायण, महाभारत** आदि अनेक ब्राह्मणीय धर्मग्रन्थों, **वृहत्संहिता, भर्तृहरिशतक** तथा क्लासिकल संस्कृत साहित्य में भी दिगम्बर मुनियों के उल्लेख एवं दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। ब्राह्मण परम्परा के ६ प्रकार के सन्यासियों का विधान है, जिनमें तुरीयातीत श्रेणी के सन्यासी दिगम्बर ही रहते थे। जड़-भरत, शुकदेव मुनि आदि कई दृष्टान्त भी उपलब्ध हैं। परमहंस श्रेणी के साधु भी प्राय: दिगम्बर रहते हैं। मध्यकालीन साधु अखाड़ों में भी **एक अखाड़ा दिगम्बरी** नाम से प्रसिद्ध है। पिछली शती के वाराणसी-निवासी **महात्मा तेलंग स्वामी** नामक सिद्ध योगी, जो रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे प्रबुद्ध संतों एवं सुधारकों द्वारा भी पूजित हुए, सर्वथा दिगम्बर रहते थे। बौद्ध भिक्षुओं के लिए नग्नता का विधान नहीं है, किन्तु स्वयं गौतम बुद्ध ने अपने साधना काल में कुछ समय तक दिगम्बर मुनि के रूप में तपस्या की थी। **यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों में भी सहज नग्नत्व को निर्दोषता का सूचक एवं श्लाघनीय माना गया है।** जलालुद्दीन रूमी, अलमन्सूर, सरमद जैसे सूफी संतों ने दिगम्बरत्व की सराहना की। सरमद तो सदा नंगे रहते ही थे। उनकी दृष्टि में तो '**तने उरियानी (दिगम्बरत्व) से बेहतर नहीं कोई लिबास, यह वह लिबास है जिसका न उल्टा है न सीधा।**' सरमद का कौल था कि **'पोशानीद लबास हरकारा ऐबदीद, बे ऐबारा लबास अयानीदाद'** – पोशाक तो मनुष्य के ऐबों को छिपाने के लिए है, जो बेऐब-निष्पाप हैं, उनका परिधान तो नग्नत्व ही होता है। नन्द-मौर्य कालीन यूनानियों ने भारत के दिगम्बर मुनियों (जिम्नोसोफिस्ट) के वर्णन किये हैं। युवान-च्वांग आदि चीनी यात्रियों ने भी भारत के विभिन्न स्थानों में विद्यमान दिगम्बर (लि-हि) साधुओं या निर्ग्रन्थों का उल्लेख किया है। सुलेमान आदि अरब सौदागरों और मध्यकालीन यूरोपीय पर्यटकों में से कई ने उनका संकेत किया है। **डॉ. जिम्मर जैसे मनीषियों** का मत है कि प्राचीन काल में जैनमुनि सर्वथा दिगम्बर ही रहते थे।

वास्तव में दिगम्बरत्व तो स्वाभाविकता और निर्दोषिता का सूचक है। महाकवि **मिल्टन** ने अपने काव्य **'पैरेडायज लॉस्ट'** में कहा है कि आदम और हव्वा जब तक सरलतम एवं सर्वथा सहज निष्पाप थे, स्वर्ग के नन्दन कानन में सुखपूर्वक विचरते थे, किन्तु जैसे ही उनके मन विकारी हुए उन्हें उस दिव्यलोक से निष्कासित कर दिया गया। **विकारों को छिपाने के लिए ही उनमें लज्जा का उदय हुआ और परिधान (कपड़ों) की उन्हें आवश्यकता पड़ी। महात्मा गाँधी** ने एक बार कहा था – 'स्वयं मुझे नग्नावस्था प्रिय है, यदि निर्जन वन में रहता होऊँ तो मैं नग्न अवस्था में रहूँ।' **काका कालेलकर** ने क्या ठीक ही कहा है – 'पुष्प नग्न रहते हैं। प्रकृति के साथ जिन्होंने एकता नहीं खोयी है, ऐसे बालक भी नग्न घूमते हैं। उनको इसकी शरम नहीं आती है और उनकी निर्व्याजता के कारण हमें भी लज्जा जैसा कुछ प्रतीत नहीं होता। **लज्जा की बात जाने दें, इसमें किसी प्रकार का अश्लील, बीभत्स, जुगुप्सित, अरोचक हमें लगा**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, ऐसा किसी भी मनुष्य का अनुभव नहीं। कारण यही है कि नग्नता प्राकृतिक स्थिति के साथ स्वभाव-शुदा है। मनुष्य ने विकृत ध्यान करके अपने विकारों को इतना अधिक बढ़ाया है और उन्हें उल्टे रास्तों की ओर प्रवृत्त किया है कि स्वभाव सुन्दर नग्नता सहन नहीं होती। दोष नग्नता का नहीं, अपने कृत्रिम जीवन का है।'

वस्तुत: निर्विकार दिगम्बर सहज वीतराग छवि का दर्शन करने से तो स्वयं दर्शक के मनोविकार शान्त हो जाते हैं। अब चाहे वह छवि किसी सच्चे साधु की हो अथवा जिनप्रतिमा की हो। आचार्य सोमदेव कहते हैं कि समस्त प्राणियों के कल्याण में लीन ज्ञान-ध्यान तप: पूत मुनिजन यदि अमंगल हों, तो लोक में फिर और क्या ऐसा है जो अमंगल नहीं होगा। □

– शोधादर्श ५९ (जुलाई २००६ ई.) से साभार

महावीर गीत

जिनके गुण को गाकर प्राणी दूर करें सब दु:ख।
ऐसे महावीर प्रभु को पाकर, हावें हम सब सुख॥टेक॥

माँ त्रिशला ने जन्म दिया था सिद्धारथ ने पाला था,
तीन लोक का राज दुलारा करता रोज उजाला था।
हिंसा छोड़ अहिंसा में रत दूर किये सब दु:ख,
जिनके गुण को गाकर॥१॥
तीस वर्ष तक राजपाठ कर दिव्य चक्षु से जान लिया,
नश्वर काया जग ये सारा निज में खुद का भान किया।
परम दिगम्बर मुद्रा धरिके, बदला अपना रुख,
जिनके गुण को गाकर॥२॥
जंगल में रह घोर तपस्या करके पाप मिटाये हैं,
केवलज्ञान ज्योति को पाकर घर-घर दीप जलाये हैं।
वाणी जिनकी वीतरागमय देती सबको सुख,
जिनके गुण को गाकर॥३॥
आप जिओ सबको जीने दो यह उपदेश सुनाया है,
परम अहिंसा धर्म है सच्चा करके यही दिखाया है।
उन जैसा यदि बनना है तो जग से मोड़ो मुख,
जिनके गुण को गाकर॥४॥

– कवि हृदय प्रखर वक्ता परम पूज्य श्री विनम्र सागरजी महाराज
संघस्थसंत शिरोमणि वात्सल्यमूर्ति राष्ट्रसंत परमपूज्य आचार्य श्री विरागसागरजी महाराज

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके उपदेश

☐ श्रीमती अर्चना जैन

अद्रि में ऊँचाई होती है किन्तु गहराई नहीं, अर्णव में गहराई होती है; किन्तु ऊँचाई नहीं। यदि किसी में गहराई और ऊँचाई एक साथ देखनी हो तो वह जिनपंथी महामुनि में देखनी चाहिए। जिनपंथी महामुनि में ज्ञान की गहराई और चारित्र की अमाप ऊँचाई सहजरूप में आँकी जा सकती है। जिनपंथी महामुनि परम्परा में आचार्य मुनीन्द्र कुन्दकुन्द का स्थान बड़े महत्त्व का है।

किसी भी मंगल कार्य के पूर्व जैन धर्मावलम्बियों में श्लोक पढ़ने की परम्परा है।

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

स्पष्ट है कि भगवान् महावीर और उनकी दिव्य वाणी के धारक एवं द्वादशाङ्ग आगम के प्रणेता गौतम गणधर के बाद जैनधर्म में कुन्दकुन्दाचार्य को प्रधानता दी गई है। कुन्दकुन्दाचार्य श्रमण संस्कृति के उन्नायक, प्राकृत साहित्य के अग्रणी प्रतिभा तर्क प्रधान दार्शनिक शैली में लिखे गये अध्यात्म विषयक साहित्य के युग प्रधान आचार्य हैं। अध्यात्म जैन वाङ्मय एवं प्राकृत साहित्य के विकास में उनका अप्रतिम योगदान रहा है। उनकी महत्ता इसी से जानी जा सकती है कि उनके पश्चाद्वर्ती आचार्यों की परम्परा आज अपने को कुन्दकुन्दाम्नायी कहकर गौरवान्वित समझती हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य का जीवन परिचय– आचार्य कुन्दकुन्द के विशाल साहित्य उपलब्ध होने पर भी उनका प्रमाणिक परिचय नहीं मिलता है। किन्तु आलोचन-प्रत्यालोचन पद्धति से उनके विषय में जो भी सामग्री उपलब्ध हुई है, वह इसप्रकार है–

नन्दि संघ की पट्टावली के सम्पादक प्रो. हार्नले के अनुसार उनका जन्म ई. पू. १०८ में माघशुक्ल पंचमी को हुआ। ज्ञान प्रबोध ग्रन्थ के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द के माता-पिता पारांपुर के राजा कुमुदचन्द्र के राज्य में रहने वाले क्रमशः कुन्दलता और कुन्दश्रेष्ठी थे। ११ वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने मुनिदीक्षा धारण कर ली थी। ३३ वर्ष वे मुनि पद पर रहे। ४४ वर्ष की आयु में उन्होंने आचार्य पद को सुशोभित किया। ५१ वर्ष १०/१ माह वे इस पद पर आसीन रहे और अन्त में ७५ वर्ष १०/१ माह की अवस्था में उन्होंने देह त्याग दी।

प्राकृत साहित्य उवं प्राच्य शिलालेखों में उनके पाँच नाम मिलते हैं – दक्षिण भारत में आन्ध्र प्रदेश के कौण्डकुन्दपुर में जन्म लेने से वे कुन्दकुन्द कहलाए। 'पद्मनन्दि' उनका गुरू प्रदत्त मुनि नाम था। अपनी सुदीर्घ दृष्टि सम्पन्नता एवं प्रज्ञा-प्रखरता से वे गृद्ध-पिच्छाचार्य बने। सतत स्वाध्याय, चिन्तन-मनन व लेखन में संलग्न रहने से अपनी ग्रीवा की वक्रता से बेखबर वे वक्रग्रीवाचार्य हुये और लघु वय धारी होने पर भी ज्ञान-प्रज्ञा के धनी वे 'ऐलाचार्य' नाम से विख्यात हुये।

आचार्य कुन्दकुन्द के परम्परा गुरू भद्रबाहु को माना जाता है। परन्तु उनके साक्षात् गुरू का नाम विवादास्पद ही है। समयसार के संस्कृत टीकाकार जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द के गुरू का नाम श्री कुमारनन्दि सिद्धान्त देव बताया है; जबकि नन्दिसंघ की पट्टावली में कुन्दकुन्दाचार्य के गुरू का नाम जिनचन्द्र बताया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने ८४ पाहुड़ों की रचना की। उनमें वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थों में पंचास्तिकाय संग्रह, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, रयणसार, अष्टपाहुड, बारस अणुपेक्खा, दर्शनभक्ति आदि प्रमुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इनमें से प्रारम्भ के तीन ग्रन्थ दर्शन, ज्ञान और चारित्र के रत्नत्रयी हैं। आचार्य कुन्दकुन्द का साहित्य श्रमण और श्रावक/साधु व गृहस्थ दोनों के हितार्थ प्रशस्त मार्ग का निदर्शन है।

आचार्य कुन्दकुन्द के उपदेश – आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य प्राकृत भाषा में लिखे गए। वह समय प्राकृत भाषा का स्वर्ण युग माना जाता था। आचार्य कुन्दकुन्द का साहित्य/दर्शन सभी प्राणी वर्ग के लिए उपदेश से भरपूर है।

इनका सारांश निम्न प्रकार है –

१. शुभोपयोग – जो आत्मा देव, यति, गुरू की पूजा में, दान में, गुणव्रत महाव्रत रूप उत्तमशीलों में और उपवासादि शुभ कार्यों में लीन रहता है, वह शुभोपयोगी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने साहित्य में शुभोपयोग को श्रावक और श्रमण दानों के लिए आवश्यक बताया है; जिससे प्राणी असद् से सद् की ओर उन्मुख होता है और जीवन को सक्रिय रखने के लिए श्रम के संस्कार जगाने की संस्तुति करता है। शुभोपयोग स्वर्ग प्राप्ति का साधक है।

२. शुद्धोपयोग – शुभोपयोग शुद्धोपयोग का साधक है तथा यह मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है। कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार जो संयम तप से युक्त है, राग रहित है; सुख-दुख जिनको समान दिखते हैं; ऐसा श्रमण शुद्धोपयोगी है। परिपूर्ण शुद्धोपयोग हो जाने से आत्मा अरहंत तथा सिद्ध अवस्था को प्राप्त करते हैं अर्थात् प्राणी प्रभु हो जाता है।

३. लोक-कल्याण – कुन्दकुन्दाचार्य लोक कल्याण दृष्टि से कहते हैं कि कल्याण का ठेका उच्च कुल या उच्च जाति वालों ने ही नहीं लिया है क्योंकि देह, कुल और जाति वन्दनीय नहीं है, वन्दनीय हैं गुण। वे जिसमें हैं वह वन्दनीय है और गुण का विकास प्रायः सभी मनुष्यों में सम्भव है।

४. भेद विज्ञान – भेद विज्ञान मोक्ष का कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य के अनुसार संसार में जो भी कर्म से बंधे हैं, वे सभी भेद विज्ञान के अभाव में बंधे हैं अर्थात् आत्मा और कर्म की एकता के मानने से ही संसार है। वहाँ अनादि से जब तक भेद-विज्ञान नही है, तब तक वह कर्म से बंधता ही है। अतः कर्म बन्ध का मूल भेद-विज्ञान का अभाव है।

५. कर्म बन्धन का ह्रास – कर्म बन्धन का कारण मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग है। जब तक जीव को आत्मा और आस्रव के कारण राग द्वेषादि भावों के पृथकत्व का ज्ञान नहीं होता तब तक यह जीव क्रोधादिक के परभाव होने पर भी उनमें निज-एकत्व भाव से वर्तता है, ऐसी स्थिति में उसमें कर्म बन्ध होता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मस्थिति को कर्म निर्जरा का कारण बतलाया है। जो प्राणी बन्ध और आत्मा के स्वभावों को जानकर जो बन्ध के कारणों से विरक्त होता है, वह कर्मों से मुक्त होता है।

६. आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार – शील से ही सिद्धि है। जिस प्रकार रत्नों से भरा समुद्र जल सहित होने पर ही शोभा पाता है; उसी प्रकार तप-विनय,दान आदि सहित आत्मा शीलयुक्त होने पर ही शोभा पाता है, क्योंकि शील सहित होने पर उसे निर्वाण पद प्राप्त होता है।

७. चारित्र ही धर्म है – आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार त्रिरत्न रूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। उनके अनुसार जो व्यक्ति जीव अजीव पदार्थों एवं स्व-पर का भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञानी है। परद्रव्यों से राग-द्वेष छोड़कर ज्ञान में स्थिर होने पर निश्चय चारित्र होता है; जो सच्चा मोक्षमार्ग है।

८. सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) का महत्त्व – सम्यक्त्व मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जिनेन्द्र देव के शासन में ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारों का समायोग होने पर जो संयम गुण होता है, उससे मोक्ष होता है। ❐

– व्याख्याता, जीव विज्ञान, शिक्षाविभाग, आई.सी.जी.आई.ई.,आर.डी. मानसरोवर, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्यायाचार्य पं. माणिकचंदजी कोन्देय

❐ लेखक : एस.सी.जैन (अंग्रेजी) ❐ अनुवादक : डॉ. जिनेश्वरदास जैन (हिन्दी)

न्यायाचार्य पण्डित माणिकचंदजी कोन्देय के देहावसान से जैन समाज को अत्यन्त आघात पहुँचा। उनका बिछोह हमें हर समय खलता रहेगा और उनकी अनुपस्थिति भविष्य में हर पल याद दिलाती रहेगी। वे महान पाण्डित्य, निस्वार्थभाव के आदर्श मूर्तिरूप थे। श्री कोन्देयजी द्वारा २०वीं शती में रचित 'तत्त्वार्थ-चिंतामणि' पुस्तक को पढ़कर, मैंने अपनी (एस.सी. जैन) पुस्तक 'जैन धर्म की प्रस्तावना' पेज १४ में उन्हें उन लेखक-श्रृंखला में डाला है, जिन्होंने आचार्य उमास्वामी कृत 'तत्त्वार्थ-सूत्र' की टीकाएँ लिखी हैं। उनकी इस रचना से उनकी चिन्तन की गहराई, सुबोधगम्य अभिव्यक्ति एवं सूचनाओं की विपुलता परिलक्षित होती है। आचार्य विद्यानंद द्वारा रचित 'श्लोकवार्तिक' पुस्तक को सामने रखकर मिलान करें तो पायेंगे कि 'तत्त्वार्थचिंतामणि' पुस्तक पाँच हजार पृष्ठों में फैली ७ वाल्यूमों में बँटी हुई है। श्री कोन्देयजी ने इस पुस्तक में आचार्य विद्यानंद द्वारा प्रतिपादित जैनदर्शन का विस्तृत विवेचन किया है। आचार्य विद्यानंद ने अपनी रचना 'श्लोक-वार्तिक' में आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित 'तत्त्वार्थसूत्र' की टीका की है और आचार्य उमास्वामी ने भगवान महावीर की दिव्यध्वनि द्वारा प्रतिपादित जैन सिद्धान्तों का संकलन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री कोन्देयजी ने अपनी पुस्तक 'तत्त्वार्थ चिंतामणि' पुस्तक में पृष्ठ दर पृष्ठ उस जैन दर्शन का विस्तृत विवेचन किया है, जिसे जिनागम कहते हैं।

श्री कोन्देयजी का जीवन एक शिक्षक के रूप में भी कम प्रसिद्ध व प्रतिस्पर्धा पूर्ण नहीं है।

वे भारत के दो प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्रों – गोपाल सिद्धान्त विद्यालय मुरैना, ग्वालियर एवं जम्बू विद्यालय, सहारनपुर (उ.प्र.) के प्रोफेसर व प्रिंसिपल रह चुके हैं, जिनके निर्देशन में कई पंडित व विद्वान इन विद्यालयों से अध्ययन कर निकले हैं। उन्होंने कई प्रतियोगताओं, संगोष्ठियों एवं विद्वत्सम्मेलनों में भाग लेकर जैन दर्शन को प्रसिद्धि दिलवाई। उन्होंने अपने अन्तिम दिन फिरोजाबाद (उ.प्र.) में बिताए।

जैन दर्शन अनेकान्त व स्याद्वाद सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में, अस्तित्व ज्ञान (विद्या) एवं अभिव्यक्ति के आधार पर परस्पर विरोधी गुणों का नियमीकरण एवं समन्वय कराता है। दर्शन संबंधी ऐसे कठिन सिद्धान्तों का विश्लेषण करने के लिए लेखक में एक असाधारण योग्यता होनी चाहिए। श्री कोन्देयजी में अपने विद्यार्थी जीवन से अपनी उम्र की परिपक्वता प्राप्त होने तक प्रकृति देय ऐसी प्रतिभा प्राप्त थी।

विरोधाभासी गुणों का समन्वय करने की कला वह कला है, जो कि न किसी युक्ति से और न ही किसी परंपरा से खंडित की जा सके। ऐसी कला के धारक (पदवी) जो आचार्य समन्तभद्र ने अपनी पुस्तक 'आप्त-मीमांसा' में भगवान महावीर को दी थी, वही योग्यता श्री कोन्देयजी के साथ भी लागू हो सकती है, क्योंकि इनकी पुस्तक 'तत्त्वार्थ चिंतामणि' व उनकी अन्य रचनाओं में ये कला आश्चर्यकारी तर्कों से सफलता पूर्वक की गई स्पष्ट झलकती है। उन्होंने अपने तर्कों में न तो जैनागम की उपेक्षा की है और न ही जैनागम के लिए तर्कों की उपेक्षा की है। इससे उनका बेजोड़ अध्ययन परिलक्षित होता है। इनके द्वारा जैन दर्शन का मर्मस्पर्शी तुलनात्मक अध्ययन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व चिन्तन भविष्य में उत्पन्न होने वाले नये विचारों में बीजरूप सहायक होगा। वे दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में सिद्धान्त सृजन के लिए अग्रदूत थे। श्री कोन्देयजी का व्यक्तित्व व कर्तृत्व भावी पीढ़ियों के लिए एक प्रेरणा-स्रोत होगा। उनका उदाहरण चिन्तकों व शोध कर्ताओं के लिए दीपस्तंभ का कार्य करेगा। पं. कौन्देयजी जैसे व्यक्ति के लिए उपयुक्त आदर्श श्रद्धांजली ऐसे स्मारक के निर्माण से होनी चाहिए, जिसमें कोई मार्बल या लाल पत्थर न हो, किन्तु एक ऐसी शिक्षण संस्था के निर्माण से हो, जो उनकी याद को अमर कर दे और उनके जीवन के लक्ष्य को साकार कर दे, ताकि भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित जैन सिद्धान्त जन-जन तक पहुँच सके। इसी लक्ष्य को लेकर पंडितजी ने अपना जीवन बिताया था। ❐

मेरा चेतन निज घर आया

❐ हजारीलाल बज, जयपुर

मेरा चेतन निज घर आया
आनन्द हुआ चहुँ ओर
आज मेरा चेतन निज घर आया॥१॥

पर घर फिरत बहुत दिन बीते,
कभी न निज घर पाया,
जन्म-मरण को, रोग-शोक के
भूख-प्यास के
सभी दु:खों से मुक्त हुआ
मेरा चेतन निज घर आया॥२॥

काय बली मैं, मनोबली मैं,
इन्द्रिय शक्ति से हूँ महान,
आरोग्यवान मैं;
अन्य सभी भी अपने में पूरण है सुन्दर,
सुन्दर-सुन्दर इस महा लोक में
मैं भी सुन्दर
मेरा चेतन निज घर आया॥३॥

ज्ञान बिना तप कैसा?

❐ प्रमोद रांवका

प्राचीन काल में प्रतिष्ठान नगर में तपोदत्त नाम का ब्राह्मण रहता था। उसने बचपन में अपने पिता के बहुत बार समझाने एवं ताड़ने पर भी विद्याध्ययन नहीं किया। बाद में सभी से निन्दनीय होने पर उसे बड़ा पश्चाताप हुआ और वह विद्या की सिद्धि के लिए गंगा नदी के किनारे तपस्या करने लगा।

वहां उसे इस प्रकार उग्र तप करते देख इंद्र भी विस्मित हो गए और ब्राह्मण का वेष धारण कर तपोदत्त को रोकने के लिए उसके पास पहुँचे। वहां आकर इंद्र ने गंगा के किनारे की बालू रेत को उठा-उठा कर नदी में फेंकना प्रारंभ कर दिया और लहरों को देखने लगा।

ब्राह्मण वेषधारी इंद्र को ऐसा करते देख तपोदत्त ने अपना मौन तोड़कर उससे पूछा- हे ब्राह्मण ! तुम यह क्या कर रहे हो? बार-बार पूछने पर द्विजाकृति इंद्र ने उत्तर दिया– गंगा नदी में प्राणियों को पार उतरने के लिए एक पुल बना रहा हूँ।

सुनकर तपोदत्त बोला "क्या तुम मूर्ख हो गए हो। गंगा की धारा में बहने वाली बालू से भी कभी पुल बना है?"

यह सुनकर वह द्विज रूप धारक इंद्र कहने लगा– "यदि तुम यह जानते हो कि बालू से कभी पुल नहीं बन सकता तो बिना विद्याध्ययन – बिना ज्ञान और विवेक के तप करके साधना के लिए कैसे उद्यत हो रहे हो? यह तो ऐसा है- जैसे खरगोश के सींगों की इच्छा करना या हवा में चित्र खींचना। अत: तुम्हारा यह प्रयत्न भी व्यर्थ है। बिना विद्याध्ययन के तप, बिना अक्षरों के लिखने जैसा है। यदि ऐसा ही हो जाए तो अध्ययन की क्या आवश्यकता है ? कोई भी विद्या-प्रयास न करे।"

इंद्र के इस प्रकार के तर्क से तपोदत्त तप को छोड़ घर जाकर विद्याध्ययन संलग्न हो गया।

❐ उपाचार्य, मेयो कॉलेज, अजमेर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री दिगम्बर जैन भव्योदय अतिशय क्षेत्र रैवासा

❑ जे. के. जैन

राजस्थान की मरुवृन्दावन सीकर नगरी के निकट अरावली पर्वत की शृंखला की तलहटी में अपनी भव्यता एवं ऐतिहासिकता को संजोये हुए, श्री दिगम्बर जैन भव्योदय अतिशय क्षेत्र रैवासा विद्यमान है। इसी क्षेत्र पर वीर निर्माण संवत् १६७४ विक्रम संवत् १२०५ में निर्मित अति भव्य आदिनाथ जिनालय है,

जिसमें अति मनोज्ञ आदिनाथजी की प्रतिमाजी विराजमान है तथा पास में विशाल नशियाँजी है जिसमें चन्द्रप्रभ भगवान की पद्मासन विशाल प्रतिमा विराजमान है। उल्लेखनीय है कि यहाँ पर नशियाँजी में विराजमान श्री चन्द्रप्रभ भगवान की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा राजस्थान में सर्वप्रथम सम्पन्न हुई थी।

सेठ नथमलजी छाबड़ा ने रैवासा में इस विशाल मंदिर का निर्माण करवा कर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करवाई।

यहाँ कई अतिशयपूर्ण घटनाएँ हुई हैं। एक बार मुगल बादशाह औरंगजेब ने भी इस मंदिर के बारे में सुना और वह इस मंदिर को लूटने के लिए एवं खण्डित करने के लिए सेना के साथ चल पड़ा। औरंगजेब को सेना सहित आता हुआ जानकर श्रावकों ने उसके भय से श्रीजी को तलघर में विराजमान कर दिया लेकिन बादशाह तथा उसकी सेना ज्यों ही मन्दिर के निकट पहुँची बादशाह और उसकी सेना को मधुमक्खियों ने घेर लिया तथा उनके शरीर को काटने लगी। बादशाह और उसकी सेना पीड़ा से छटपटाने लगीं तथा भाग खड़ी हुई और इस तरह वह संकट टल गया। कहते हैं कि इस तरह की कई चमत्कारपूर्ण घटनाएँ यहाँ हुई हैं।

इस प्राचीन जैन मन्दिर की एक विशेषता यह है कि इसमें स्थित खम्भों की गिनती कोई सही ढंग से नहीं कर पाया। यहाँ एक और अद्‌भुत अतिशय हुआ कि चार बार शान्तिनाथजी की पीतल की प्रतिमा चोर ले गये, लेकिन कुछ दिन बाद पुनः वापिस आकर वेदी पर विराजमान हो गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह पावन पवित्र भूमि सैंकड़ों वर्षों से अपने भूगर्भ में पवित्र तीर्थंकर सुमतिनाथ भगवान की प्रतिमा को सुरक्षित किए हुए थी।

इस अलौकिक अतिशयकारी असाधारण जिनप्रतिमा ने भी फाल्गुन शुक्ला दूज वीर निर्वाण संवत् २४७४ की रात्रि को ब्रह्ममुहूर्त में सुदर्शन नामक एक साधारण व्यक्ति को दर्शन दिये तथा स्वप्न में ही यक्ष ने इस व्यक्ति के लिए उस स्थान पर दिग्दर्शन किया जिस भूगर्भ में यह प्रतिमा विराजमान थी।

प्रातःकाल उठकर उस व्यक्ति ने समाज के श्रेष्ठियों को स्वप्न के अलौकिक दृश्य का बखान किया तदनुसार उस भूमि का पूजन आदि करके खुदाई शुरु की गई। पाँच-सात फीट खोदने के बाद फाल्गुन शुक्ला तीज वीर निर्माण संवत् २४७४ की दोपहर के समय में पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ भगवान की मनोहारी प्रतिमा का दर्शन हुआ। चारों तरफ लोगों में हर्ष की लहर फैल गई। हजारों व्यक्ति दर्शन को आने लगे। लेकिन राजकीय सत्ता की प्रतिकूलता के कारण उसका अधिक प्रचार-प्रसार न करके उसे मंदिर की परिक्रमा में स्थित तलघर में विराजमान कर दी गई।

१५ अगस्त १९४७ को जैसे ही आजादी का शंखनाद हुआ वैसे ही लोगों ने अपने आराध्य को तलघर से निकाल कर मन्दिर की वेदी पर विराजमान कर स्वतंत्रतापूर्वक पूजन करने लगे।

हमारे सातिशय पुण्य से सन्त शिरोमणि आचार्य विद्यासागर महाराज के परम शिष्य श्रमण संस्कृति संस्थान सांगानेर एवं ज्ञानोदय तीर्थ नारेली के प्रेरक आध्यात्मिक सन्त परम पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, क्षुल्लक द्वय श्री गम्भीरमलजी एवं श्री धैर्यसागरजी महाराज के पावन चरण इस क्षेत्र पर पड़े। दिनांक १ जून से ३० जून तक संघ क्षेत्र पर विराजमान रहा।

उन्होंने इस क्षेत्र का नाम श्री दिगम्बर जैन भव्योदय अतिशय क्षेत्र रैवासा रखा तथा शेखावटी के भव्यजनों को सम्बोधित किया कि भूगर्भ से प्राप्त सुमतिनाथ भगवान की प्रतिमा का इतना अतिशय है कि यह क्षेत्र श्री महावीरजी, तिजारा, पदमपुरा के समान अतिशयकारी क्षेत्र बनकर भव्य जीवों की आधि-व्याधि, ताप-संताप को दूरकर अतिशय पुण्यार्जन प्राप्त करने में निमित्त बन सकता है।

क्षेत्र पर दिनांक २८/१०/९८ से ५/११/९८ तक अष्टाह्निका पर्व में वृहद् स्तर पर श्री १००८ सिद्धचक्र महामण्डल विधान के शुभ अवसर पर भूगर्भ से प्राप्त सुमतिनाथ भगवान की स्वर्ण जयन्ती महोत्सव विशाल स्तर पर मुनि श्री के सानिध्य में मनाया गया। इस अवसर पर अतिशयकारी चमत्कारी प्रतिमा का प्रथम बार १००८ कलशों से महा-मस्तकाभिषेक कर नवीन वेदी पर विराजमान की गई तथा इसी अवसर पर महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी का स्टेच्यु भी विराजमान किया गया। सुमतिनाथ भगवान की चरण स्थली स्थापित की गई।

पंचकल्याणक व गजरथ महोत्सव

मुनि पुंगव १०८ श्री सुधासागरजी महाराज के सानिध्य में दिनांक २४ फरवरी से १ मार्च ०१ में यहाँ जिनबिम्ब पंचकल्याणक महोत्सव सम्पन्न हुआ, जिसमें सवा सात फुट की पद्मासन सहस्रफणी पार्श्वनाथ, शांतिनाथ व चौबीसी की स्थापना हुई।

– १५२ नेमीसागर कालोनी,
जैन मंदिर के पास, वैशाली नगर, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानवाधिकार एवं जैन दर्शन

❑ न्यायमूर्ति एन. के. जैन

मानवाधिकार की अवधारणा जैन दर्शन की अहिंसा, समता, अपरिग्रह एवं अनेकान्त, स्याद्वाद से जुड़ी है। अहिंसा में ही व्यक्ति की स्वतंत्रता, जीने की स्वतंत्रता, जन्मना स्वतंत्रता, अन्तश्चेतना की स्वतंत्रता, शोषण से मुक्ति, उत्पीड़न से मुक्ति, बेगार पर रोक का अधिकार गर्भित है तथा समता में समानता का अधिकार गर्भित है।

विषमताओं को नष्ट करने का अमोघ उपाय अपरिग्रह है। अपरिग्रह व सन्तोष अहिंसा के ही विस्तृत रूप हैं। वैचारिक स्वतंत्रता में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जुड़ी है, जो जैन दर्शन के प्रमुख आधार स्तम्भ अनेकान्त व स्याद्वाद में देखी जा सकती है।

यद्यपि अहिंसा अपने निषेधात्मक रूप में हिंसा के अभाव परक है, यही जीवों को जीने की, सुरक्षा की, शोषण से अभाव की, बेगार से सुरक्षा की, उत्पीड़न से सुरक्षा की स्वतंत्रता प्रदान करती है। दास प्रथा से मुक्ति दिलाती है। अपने विधेयात्मक रूप में अहिंसा, मैत्री, प्रमोद, करुणा, दया आदि का प्रसार करती है। जो मानव को जीवन के प्रति भलाई व सहयोग करना सिखाती है। मानव की मानव को सहायता मानवाधिकार का मूलभूत सूत्र भी है।

अहिंसा हमें सिखाती है कि हम जीवों को न मारें, उन्हें चोट न पहुँचायें, उन पर मनमाना अत्याचार न करें, बालकों व महिलाओं का शोषण न करें, उन्हें उत्पीड़न से बचायें, मानवता एवं मानव कल्याण की भावना अहिंसा में ही समायी है।

जैन मान्यतानुसार तो प्राणी मात्र के प्रति करुणा, दया रखना अहिंसा है। आचार्य अमृतचन्द ने अहिंसा का विस्तृत वर्णन किया है। उनके मत में किसी को मारना, (मन-वचन-काय से) पीड़ा पहुँचाना ही हिंसा नहीं है, वरन् झूठ बोलना, निन्दा करना, बेगार लेना, किसी वस्तु-संपत्ति का अपहरण करना (चोरी), अनर्गल कामुकता एवं धन संचय एवं उसके प्रति गृद्धता का भाव ही हिंसा ही है। इसके साथ ही अपनी आत्मा में राग-द्वेषादि दूषित प्रवृत्तियों का जन्म भी हिंसा ही है। एवं उक्त सभी का अभाव अहिंसा है।

सबको अपने समान समझने एवं अच्छा बर्ताव करने का संदेश भी अहिंसा के अन्तर्गत ही है। सभी जीवों में चैतन्य की व्याप्ति है। अत: सभी जीव स्वभाव एवं शक्ति की अपेक्षा समान हैं। सभी जीवों में ज्ञान, दर्शन, सुख, तप, वीर्य की शक्ति का भण्डार भरा पड़ा है। लेकिन शक्ति अपेक्षा समान होते हुए भी शक्ति की व्यक्तता में असमानता है जो परतंत्रता की जननी है। लेकिन परतंत्रता जीव की स्वयं की बनायी हुई है। उसकी हिंसात्मक वृत्तियों एवं स्वभाव की आत्मघाती वृत्तियों के कारण वह परतंत्र बना हुआ है। लेकिन स्वयं अपने आत्मबल से वह स्वतंत्र हो सकता है एवं पूर्ण सुखी हो सकता है।

समानता के संदर्भ में आत्मीयता का विस्तार ही सच्ची अहिंसा है, सच्ची समानता है। सब जीवों के प्रति समता भाव का व्यवहार अहिंसा ही तो है। यू.एन. ओ. के घोषणा पत्र में भाई-चारे, सहयोग व समानता का उल्लेख है। जैन धर्म में 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' परस्पर सहयोग का सूचक है। मेरी भावना में हम नित्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रति मैत्री व सहयोग की भावना ही भाते हैं।

आज जो गरीबी-अमीरी की विषमता है। लिंग-भेद, जाति-भेद, वर्ण-भेद, भाषा-भेद, धर्म-संप्रदाय भेद, दास-स्वामी भेद, नस्ल-भेद, राष्ट्रीयता-भेद, प्रान्तीयता-भेद की जो विषमताएँ हैं, वे सभी हिंसा को प्रश्रय देने वाली एवं बढ़ावा देने वाली हैं। अहिंसा के मूल में उक्त सभी विषमताओं का समाधान है। जैन मान्यतानुसार जन्म से कोई भी शूद्र-ब्राह्मण, अमीर-गरीब नहीं होता। सभी जीव हैं, व्यक्ति जो कर्म करता है वही कहलाता है। लेकिन व्यक्तित्व के विकास में उनमें किसी भी आधार पर भेद-भाव नहीं किया जा सकता। जीवन-यापन हेतु प्रदत्त स्वतंत्रता व समानता के अधिकार में ऊँच-नीच या छोटे-बड़े का भेद-भाव अथवा कम-ज्यादा का भेद-भाव नहीं किया जा सकता। अपने को बड़ा कहने एवं अपनी प्रशंसा करने वाला तथा दूसरे को नीचा दिखाने एवं दूसरे की निंदा करने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है।

जैन धर्म की संपूर्ण आचार संहिता ही मानवाधिकार एवं मानव कल्याण के कर्तव्यों से जुड़ी हुई है। अहिंसाव्रत के अतिचार एवं भावनाओं में विवेचित क्रियाएँ एवं आचरण सीधे मानवाधिकार से संबंध रखती हैं।

संपूर्ण जगत के प्राणीमात्र के कल्याण की भावना भाने से कोई भी तीर्थंकर पद प्राप्त करता है। तीर्थंकर प्रकृति हमें सिखाती है कि संसार की जो सेवा करने की इच्छा रखता है, वही संसार का स्वामी बन जाता है। सेवा भाव एवं परोपकार की भावना से व्यक्ति दास नहीं बनता अपितु स्वामी बन जाता है। जगत पूज्य बन जाता है। अतः मानवाधिकारों की रक्षा करने वाला, सेवा करने वाला दास नहीं अपितु जगत का स्वामी बन जाता है। जैन धर्म में स्व-पर के दुःखों को दूर करने का उपाय करने का चिन्तवन 'अपाय विचय' नामक धर्मध्यान कहलाता है।

जैन दर्शन में श्रम का महत्व 'पुरुषार्थ' से बताया गया है। 'श्रम' से ही श्रमण शब्द बना है। सर्वश्रेष्ठ श्रमी व्यक्ति श्रमण होता है। प्रथमानुयोग में कर्म भूमि की व्यवस्था, श्रमण धारा प्रवृत्ति प्रधान एवं निवृत्ति प्रधान है। दोनों क्षेत्रों में पुरुषार्थ अथवा श्रम को आवश्यक माना गया है, लेकिन श्रम को महत्व देते हुए भी जैन मान्यता बेगारी लेने की पक्षधर नहीं है। बेगार लेना स्वार्थ के लिए दूसरे का शोषण करना है, जबकि जैन धर्म की मान्यतानुसार अपने कार्य के लिए स्वयं ही कर्म करना पड़ता है। मनुष्य स्वयं ही पुरुषार्थ कर दुःख दूर कर सकता है।

दास प्रथा एवं बेगारी पर रोक एक मानवाधिकार है। अहिंसा के अतिचारों में अतिभारारोपण का आशय भी यही है। जीवों पर अथवा अपने आश्रितों या अनाश्रितों पर अपनी शक्ति से अधिक कार्यभार का आरोपण अतिभारारोपण है। दास प्रथा में गुलाम व्यक्ति को अपनी शक्ति से अधिक कार्य करवाया जाता है एवं ऊँचा बढ़ने का विरोध किया जाता है। उन्हें दबाये ही रखा जाता है। बिना मूल्य दिए श्रम करवाया जाता, अतिभारारोपण दिये श्रम करवाया जाता है एवं शक्ति से अधिक श्रम करवाया जाता है। अतिभारारोपण व अन्नपान विरोध में इसी आचरण का वर्णन है कि किसी भी जीव पर उसकी शक्ति से अधिक (कार्य का) बोझा न लादा जाय एवं कार्य का उचित मुआवजा दिया जाय। कार्य का पर्याप्त लाभ श्रम करने वाले को दिया जाय।

धार्मिक स्वतंत्रता विचारों की स्वतंत्रता से ही संबंधित है। धार्मिक स्वतंत्रता वैचारिक अहिंसा का ही परिणाम है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौचादि दशलक्षण धर्म भी मानव धर्म ही हैं। जैन धर्म गुणों की पूजा में विश्वास रखता है। जो जीव वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी है वही भगवान है। चाहे उसका नाम कुछ भी क्यों न हो।

❐

– अध्यक्ष, राजस्थान राज्य मानवाधिकार आयोग
आर-३, तिलक मार्ग, सी स्कीम, जयपुर-०४
फोन नं. ०४१४-२२२२५१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org